कृष्णदेव प्रसाद गौड़

प्रकाशक—
कल्याणदास एण्ड ब्रद
ज्ञानवापी, वाराणसी।

वितरक—
बम्बई बुक डिपो,
१६५/१, हरीसन रोड,
कलकत्ता—७.

तथा
बिहार ग्रंथ कुटीर
खजान्ची रोड
पटना—४

मूल्य—
छः रुपये

प्रथम सस्करण
विजया दशमी
१९५६

मुद्रक—
कल्याण प्रेस,
वाराणसी।

परिचायिका

विचारोंकी धारा अजस्र होती है। उसपर बंधन लगाना किसी शक्तिके वशकी बात नहीं है। धारा ऊँची हो, नीची हो, वेगवती हो, मंथर हो किन्तु चलती-रहती है। साहित्यकी इस प्रकारकी धारा मानसमें आती रहती है। उसी धाराका एक अंश यह है। समय-समयपर जो विचार आये उन्हें अंकित किया। साहित्यके महापंडितों और विश्वविश्रुत विद्वानोंको यह ठीक लगेंगे या अठीक, मैं कह नहीं सकता। मैं केवल यहीं कह सकता हूँ, जैसा मैंने ठीक समझा वैसा ही लिखा। अपने विचारोंके प्रति सच्चा हूँ। लोगोंके मतसे मेल वैठेगा कि नहीं, नहीं कह सकता। कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है। इन विचारोंमें समुद्र या कुएँकी गहराई मिलेगी नहीं। उसे खोजनेकी चेष्टा करना वेकार है।

जब कोई साहित्यिक पुस्तक पढ़ी जाती है या कोई साहित्यिक समस्या सम्मुख आती है तव विचारोंकी तरंग मालाएँ उठती ही हैं। उसी रूप में यह लेख हैं। चिंतनकी कृत्रिमता इनपर नहीं आयी है। चिंतन बुरी वस्तु नहीं है किंतु वह अखाड़ेबाजी और आलोचनाके अगड़धत्त पहलवानोंकी वस्तु है। दस पुस्तकको पढ़कर यह ग्यारहवीं नहीं है। छोटा भलेही हो कलम नहीं है, नया पौधा है। यह लेख आपके साहित्यिक शरीरमें गुदगुदी मात्र उत्पन्न करनेके लिए हैं। इन्हें पढ़कर पाठक इनके पक्ष अथवा विरोधमें आलोचनाके प्रासाद खड़ा कर सकते हैं। लेख रुचिकर होंगे इसमें संदेह नहीं, सिरमें पीड़ा अवश्य ही न उत्पन्न करेंगे।

गांधी जयन्ती
१९५६

—कृष्णदेव प्रसाद गौड़

निबन्ध क्रम

शीर्षक		पृष्ठ संख्या

आधुनिक खड़ी बोलीकी कविताकी प्रगति

मानव-मस्तिष्कके विकासके साथ साथ भाषा तथा साहित्यमें परिवर्तन होते जाते हैं। सजीवताका यही लक्षण है। हिन्दी कवि-कामिनीका जबसे कविता भारतीय रंगमञ्चपर प्रवेश हुआ है विविध पट-परिवर्तन हुए हैं। कभी तो इसने प्राकृत मिश्रित भाषाका रूप धारण कर रण-चण्डीका वेश बनाया; कभी ब्रजभाषाकी सुन्दर सारी पहनकर नागर नटवरके संग नृत्य किया, और फिर खड़ी बोली रूपी आभूषणसे सुसज्जित होकर साहित्य जगतको जगमगा दिया।

यों तो उस समय भी खड़ी बोलीके अंकुर लगे हुए थे जब ब्रजकी बीथियोंमें ब्रजभाषा कलि लहलहा रही थी। पर वह समय ऐसा न था जिससे सींचकर वह अंकुर लहलहा सकते। भक्तिरसकी जो धारा बह रही थी वह ब्रजभाषा तथा कृष्ण-काव्यके ही लिये उपयुक्त थी।

खड़ी बोलीका कविता-काल तीन युगोंमें विभाजित हो सकता है। सीतलसे पण्डित श्रीधर पाठक तक प्रारम्भिक काल, पाठकजीसे जयशंकर प्रसाद जी तक सरस्वती काल, तथा वर्तमान काल। प्रत्येककी अपनी अपनी विशेषता है। सीतलके पहले खुसरो, कबीर, नानक, रहीम, भूषण, ताज, सूदन, घनानन्दजीकी कविताओं में खड़ी बोलीकी कुछ रचनाएँ हैं। श्री आनन्दघनकी विरहलीलामेंसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ।

> सलोने स्याम प्यारे क्यों न आओ,
> दरस प्यासी मरैं तिनको जियाओ।
> कहाँ हौ जू कहाँ हौ जू कहाँ हौ,
> लगे ये प्रान तुमसों है जहाँ हो।—इत्यादि

खुसरो, अथवा रहीमकी रचनाएँ आपने सुनी अथवा देखी होंगी। वास्तविक खड़ी बोलीका समय आजसे दो सौ साल पहले सीतलसे आरंभ

होता है। सीतलका जन्म सं० १७८० के लगभग माना गया है। आप वैष्णव धर्मावलम्बी टट्टी सम्प्रदायके महन्त थे। उर्दूकी कविता तथा हिन्दीकी खड़ी बोलीकी कविता लगभग एक ही कालसे आरम्भ हुई। आरंभमें दोनों की भाषा एक सी थी। धीरे धीरे मुसलमानोंने अरबी फारसी शब्दोंके जालमें फँसाकर उसे उर्दू करार दी और संस्कृतके शब्द बाहुल्यने उसे हिन्दी कहा। उर्दूके पहले कवि वलीका शेर —

जग हँसाई न कर खुदा सों डर,
बेवफाई न कर खुदा सों डर।

अथवा मुबारक शाहके शेर—

नैनसे नैन जब मिलाय गया,
दिलके अन्दर मेरे समाय गया।
तेरे चलनेकी सुन खबर आशिक,
यही कहता मुआ कि हाय मुआ।

साफ हिन्दी कविताएँ मालूम होती हैं।

सीतलने चार भागोंमें गुलजार चमन नामक ग्रन्थ लिखा है जिसकी मुद्रित प्रतियाँ नहीं हैं। आपकी कवितामें लालित्य है औ विशुद्ध खड़ी बोलीमें वह ग्रन्थ लिखा गया है। फारसी तथा व्रजभाषाके शब्द अवश्य आये पर भाषा शैली आजकलकी है। श्रीकृष्ण भगवानके मुखपर काले घुंघराले केश-पाशको देखकर कवि कहता है —

पंकज पर भौंरे मधुमाते ससि पर अहिपति की भोरैं हैं।
मखतूल नीलमनि चारु चौंर उपमा नहीं आवत नीरैं हैं॥
कै वरक तिल्लई पर सीतल ये खैंच दई तहरीरैं हैं।
या लाल विहारीके मुखपर क्या कहर जुल्फ जंजीरैं हैं॥

प्रेमीका हृदय किस मूल्यपर बिकता है आप फरमाते हैं—

हम दर्द मन्द मुशताक़ रहे तुझबिन उर दूजा दुरा नहीं,
तीखी चितवनका जख्म लगा दिलमें सो अबतक पुरा नहीं।
तुझ हुस्न वलख मे ए दिलवर कुछ हम लोगोंका कुरा नहीं,
बिहँसनके मोल बिकाते हैं, 'सीतल' इन मोलों बुरा नहीं।

उपमाओंकी लड़ी कैसी मुक्तावलीसे सजा रखी है—

मुख शरद चन्द्रपर श्रम सीकर जगमगें नखत गन जोती से,
कै दलगुलावपर शबनमके हैं कनिका रूप उदोती से।
हीरेकी कनियाँ मन्द लगैं हैं सुधा किरनके गोती से,
आया है मदन आरती को, धर हेम थारपर मोती से।

इनके पश्चात् खड़ी बोलीके दूसरे कवि मुन्शी सदासुख नयाज़ दिह्लवी हुए हैं जिनका जन्म सं० १८०० का है। आपकी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है। केवल ऐतिहासिक रचनाका अंश सर चार्लस ईलियटके हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाइ हर ओन हिस्टोरियनूज़ की आठवीं जिल्दमें उद्धृत हैं। आपकी कविताएँ भी हैं। हस्तलिखित पोथी इस समय मेरे पास न होनेसे स्मृतिसे केवल दो पंक्तियाँ लिखता हूँ:—

खायी जिन मिश्री वे ही गूंगे होय बैठे,
और जिन्होने न खायी मोयी लज्जत बतावते।
जाना जिन लोगोंने दीवाना बने दुनियामें,
जिन्होंने न जाना वेही दाना हैं कहावते।

भगवत रसिकने भी जिनका जन्म सं० १७६५ के लगभग था खड़ी बोलीमें कविता की है। परन्तु खड़ी बोलीकी उत्कृष्ट रचनाओंका रस एक दूसरे कवि पान कराते हैं। आप भी टट्टी सम्प्रदायके महन्त राधिका दासजीके उत्तराधिकारी थे। आपका नाम सहचरी शरण है। आप भी सांवले वंशी वालेके प्रेम मदके मतवाले थे और भव बाधा हरनेवाली राधाके स्नेहमें पगे थे। आपका रचना काल सं० १८२० के लगभग माना गया है। आपकी भाषामें कहीं कहीं पंजाबी भाषाका भी पुट आ गया है। मनमोहनके ज़ोरपर आप संसारसे लापरवाह हो गये और किसीको कुछ नहीं समझते।

फक्कड़के टक्कर अब सबसे हला भला न हनारी;
दफ्तर फार खुशामदहूँका डार दिया उर भारी।
वे परवाह भये दुनियासे मेहर फकीरा धारी;
रसिक सहचरी सरन हमनसे मनमोहनसे यारी।

और कहते हैं :— + + +

उर अनुराग दोस्ता गुलसन चारु बहार न्हाकर;
दिलाराम दिलदार प्यारकर सरस कलाम कहाकर।

सहचरि सरन दुआगो आशिक़ आशिर्वाद लहाकर;
सुखद किशोरी गोरीका तू मरज़ीदार रहाकर।

फिर कहते हैं —

हरदम याद किया कर हरिको दरद निदान करैगा;
मेरा कहा न खाली ऐ दिल आनंद कंद करैगा।
ऐसा नहीं जहाँ बिच कोई लंगर लोग लरैगा;
सहचरि सरन सेरदा बच्चा क्या गजराज करैगा।

इसके पश्चात् खड़ी बोलीके दूसरे कवि श्री ललित किशोरीजी थे। आपकी रचनाएँ अप्राप्य हैं। आपकी खड़ी बोलीकी रचनाएँ रासधारियोंमें खूब प्रचलित हैं। आपकी कविताकाल सं० १९२० के लगभग है। इश्कका खेल आप बतलाते हैं —

जंगलमे हम रहते हैं, दिल बस्तीसे घबराता है।
मानुष गन्ध न भाती है मृग मरकट संग सुहाता है।
चाक गरेबाँ करके दमदम आहे भरना आता है;
ललित किशोरी इश्क रैनदिन ये सब खेल खि.ाता है।

इतना ही नहीं, खड़ी बोलीकी कविताका प्रचार धीरे-धीरे बढ़ रहा था। कितने मुसलमान लेखक तथा कवि इसी खड़ी बोलीमें अपनी रचनाएँ रचकर सरस्वती माताके चरणोपर अपना सिर नत कर गये हैं। केतकीकी कहानी कहनेवाले सैयद इन्शा अल्लाहखाँने अपनी कहानीमे थोड़ेसे पद्य बनाये हैं। इस समयके एक उत्कृष्ट कवि नजीर अकबराबादी हैं जिन्होंने रसीले रसखान तथा सहृदय मुसलमान कवियोंकी प्राचीन परिपाटी पकड़े हुए हिन्दू देवताओं तथा भारतीय विषयोंपर कविता की हैं। आपकी रचनाएँ श्रद्धा अ.र भक्तिके भावोंसे भरी हैं। एक बानगी देख लीजिये।

बजी जो मोहनकी बाँसुरी वाँ तो धुन कुछ उसकी अजब ही निकली;
पड़ी वह जिस जिसके कानमें भी उसे सुध अपने बदनको बिसरी।
भुलाई बन्शीने कुछ तो सुध-बुध उधर झलक जो स्वरूपकी थी;
हर एक तरफको, हर एक मकाँपर, झलक वह हरिकी कुछ ऐसी झमकी;
कि जिसकी हर एक झलकके देखे तमाम बसती वह जगमगाई।

कवि समुदाय अपनी रचनाओंकी नवीन तरङ्गोंमे तो उठ ही रहा था पर यह ब्रजभाषा सरिताके बीच छोटी-छोटी लहरियाँ थी। उनका प्रयास प्रशंस-

नीय है पर उनसे साधारण रुचिको उतनी उत्तेजना न मिल सकी जितनी जनसाधारणने अपने प्रति दिवसके मनोरञ्जन, नाच गाने, रास इत्यादि संस्थाओंसे परोक्ष रूपसे इसमें सहायता दी। रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा, लावनी आदि गानोंसे खड़ी बोलीका गढ़ दृढ़ करनेमे बड़ी सहायता मिली। इन्होंने इतने मजबूत म ालेसे खड़ी बोलीकी ईंटे जोड़ी कि उसपर सारा प्रहार निष्फल गया। यह लोग जान-बूझकर ऐसे प्रयोग नहीं करते थे कि कविता खड़ी बोलीमें लिखी जाए। वह जनताकी रुचिके अनुसार उनके समझने योग्य भाषा काममे लाते थे। हाथरस वाले चिरञ्जीलाल व नथारामका श्रवण चरित्र, सांगीत चित्रकूट, लाला गोविन्दरामका सांगीत भैन-भैया, ओरईके पं० मातादीन चौबेका सांगीत पूरनमल, सुदामा चरित्र, तथा हरिश्चन्द्रमें खड़ी बोलीकी बहार देख लीजिये। पहले तीनमे ब्रजभाषा मिश्रित भाषा है और अन्तवाली पुस्तकोंमे विशुद्ध खड़ी बोली लिखी गयी हैं। पुस्तके छपी हैं और इच्छुक पाठक पढ़ सकते हैं। केवल एक उदाहरण सांगीत हरिश्चन्द्र से देता हूँ।

हरिश्चन्द्रके सत्यसे ज्ञानी सुनी, मंजु आसन सुरेन्द्रका हिलने लगा।
जाना मनमें कि राज्य हमारा गया, सोच वस होके हाथोंको मलने लगा।
हुआ सत्यके भानुसे तेज सभी पाप रूपी अन्धेरा खिसकने लगा।
सभी प्रजा आनन्दसे रहने लगी, नया सृष्टिका रॅग-ढॅग बदलने लगा।

आज लगभग सवा सौ सालके होते हैं मिरजापुरमें रिसालगिरीतथा पश्चिम में तुकनगिरि हो गये हैं जिन्होंने लावनीकी लहलहाती लता लगायी। जिनमें खड़ी बोलीके सुन्दर-सुन्दर पुष्प खिले जिनका सौरभ साहित्य संसारमें सदा वास करेगा। तुकनगिरि तुर्रीके तरानेमें ब्रह्मका निरूपण करते थे। और रिसालगिरी कलगीकी छायामें मायाका राग अलापते थे। संभव है रिसालगिरि के शिष्य बनारसी की लावनी सुननेका अवसर गुरुजनोंको मिला हो। इनकी मृत्यु सं० १९५० में हुई। लावनीकी कविताएँ अनेक छन्दोंमे रची गयी हैं। छोटी रंगत, बड़ी रंगत, बहरे तवील आदि मुख्य हैं। कविताएँ मोहन और मुरलीके रसमें सराबोर हैं दो एक सुन लीजिये। छोटी रंगत.—

दिलमें पाये दीदार वो वंशी वटके,
शिरमौर मुकुट कटि कसे जरीके पटके।
कहँ देवीसिंह हैं अजब खेल नटखटके।
कहैं बनारसी हम आशक नागर नटके।

आधुनिक खड़ी बोलीकी कविताकी प्रगति

लावनीकी कविताएँ बड़ी सरस तथा मनोमुग्धकारिणी होती हैं। कवि-रूपकिशोरसिंहकी कविता 'शीशफूल वर्णनका' एक टुकड़ा आपके सम्मुख रखता हूँ देखिये कितनी चमक-दमक है।

है शीश पैं शीश फूल शोभित स्वरुप आभा अखण्डका है।
मनों भुजंगोंकी भूमिका पै, निवास श्री मारतण्डका है।
सजा वो तैने विचित्र भूषण कि जैसी भूषित तू सुन्दरी है!
खिला है जमुनामें पीत पंकज कि जिसमें दिनकरकी दुतिभरी है।
ये फूल तेरेने आज उपमा गगनके गुरुकी हरन करी है।
कनक शिखरपर कि वासुकीने उगलके मस्तक पै मनि धरी है।
बनाया किसने ये फूल जिसमें प्रकाश मणि गण प्रचण्डका है।

इधर लावनी वाजोंने यह लय उड़ायी उधर लखनऊ वालोंने महफिलमें भी पुरानी भाषा छोड़ नवीन शैलीका अनुकरण किया। कदर पिया, सनद पिया, फरहत आदिने छोटे-छोटे गाने रचकर जनताका हृदय मुग्ध कर लिया।

कद्र पियाकी एक ठुमरी सुनिये.—

बारे बलमूने बहियाँ मरोर डारी।
कदर पिया तुम बड़े हो रसीले;
लपट झपट चुरियाँ तोड़ डाली सारी!...

फरहतकी एक रचना देखिये —

मन कौन भरोसे फूला है,
सुख सम्पत्ति सब घड़ी दिन पलकी, तापर इतना करत मान,
मोरी सुन नादान क्यों फूला है!

जिस पुस्तकसे यह गीत लिये गये हैं सं० १९४६ की मुद्रित है। गाने इसके बहुत पहलेके बने हैं। खैराशाहका बारहमाशा भी खड़ी बोलीकी साधारण कविकी रचना है पर बहुत मशहूर हुआ।

इस प्रकार इन गायकों तथा कवियोंने खड़ी बोलीकी कविताके लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। विशेष विचारणीय विषय यह है कि इन कवियोंके कविता-कुञ्ज में पुष्पोंका रंग तो अवश्य बदला पर उसमें गन्ध वही पुरानी ही थी। वही ब्रज में मुरलीकी तान और वही राधाकी मुसकान, वही कालिन्दी कूल और वही कदम्बके फूल नये आवरणमें दिखायी देने लगे। पर पाठकजीके लिये नया

मैदान तैयार हो गया। पाठकजीका आरंभिक जीवन आगरेके पन्ना लावनीवालेके साथ बहुत कुछ बीता था। उसका प्रभाव उनकी कविता पर पड़ा। पाठकजीके पहले भारतेन्दुजीने, खड़ी बोलीके विरोधी होते हुए भी खड़ी बोलीमें कुछ कविता रची थी। दशरथ विलाप 'कहाँ हो ए हमारे राम प्यारे' बहुत विख्यात है। उनकी दूसरी रचना सुनिये।

अग्नि वायुजल पृथ्वी नभ इन तत्वोंहीका मेला है;
इच्छाकर्म संयोगी इंजन गारड आप अकेला है।
जीव लाद खींचत डोलत औ तन स्टेशन झेला है;
जयति अपूरब कारीगर जिन जगत रेलको रेला है।

सर फ्रेडरिक पिनकाटने लन्दनसे खड़ी बोली नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है। यह पुस्तक सन् १८८७-८८ ई० में बा० अयोध्याप्रसादने लिखी थी। आपके विचारसे हिन्दी-उर्दू एक ही भाषा है। आपने खड़ी बोलीकी कविताकी भिन्न-भिन्न शैलियाँ बनाईं। मुन्शी स्टाइल, पण्डित स्टाइल तथा मौलवी स्टाइल इनमें मुख्य हैं। मुन्शी स्टाइलमें साधारण उर्दूके शब्द आते हैं, पण्डित स्टाइलमें तत्सम शब्दोंका आधिक्य है और मौलवी स्टाइलमें अरबी, फारसी शब्दोंका बाहुल्य। भारतेन्दु बाबूके समकालीन अनेक कवि ऐसे हैं जो साहित्य संसारमें विख्यात नहीं हैं पर जिन्होंने खड़ी बोलीमें रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओंकी बानगी उपर्युक्त पुस्तकमें है। दो एक पाठकोंके लिये लिखता हूँ। अपने देशकी दुर्दशापर (सन् १८७६ मे) बा० लक्ष्मीप्रसाद लिखते हैं।

दुर्दशा तेरी है जब ध्यान में आती एक बार,
आँसू आँखोंमें उमड़ आता है बन्ध जाता है तार।
सोच यों व्यग्र है करता कि न रहता है विचार,
सर्वथा जीसे बिसर जाता है जगका व्यवहार।
सोना स्वप्न होता है अच्छा नहीं अन लगता है।
शोक की आगमें भस्म होने बदन लगता है॥

यह समय बाबू हरिश्चन्द्रकी प्रतिभा-प्रभासे चमक रहा था। वह ब्रजभाषाके उत्कृष्ट श्रेणीके कवि थे। अत्र तत्र खड़ी बोलीकी कविता होती थी। जिससे पता चलता है कि इस ओर कवियोंकी दृष्टि अब पड़ रही थी। राय सोहनलाल भारतकी सुन्दरतापर कहते हैं.—

ए हिन्द तेरा वह रँग कहाँ है, पहला सा तेरा वह ढँग कहाँ है।
कर्तारने तुझको था बनाया, वह रुप था दिखाया।
वह फूलसा आप ही खिले था, उससे वह बनाव का मिले था।
वह सादी अदा निपट भली थी, हाँ सच्चके वह नूरसे लिखी थी।

सन १८८१ की एक रचना बा० महेशनरायण (पटना) की है।

सब्जीका बना था शामियाना
और सब्ज ही मखमली बिछौना
फूलोंसे बसा हुआ था वह कुंज
था प्रीत मिलनके योग्य वह कुंज
एक कुंज,
बहुत गुंज,
पेड़ोंसे घिरा था
झरनोंके बगलमें;
बिजलीकी चमक भी न पहुँचती थी जहाँ तक।
ऐसा वह घिरा था
जस दीप हो जलमें,
पानीकी टपक राह भला पावे कहाँ तक।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास तक इसके प्रभावसे वंचित न रह सके। आपभी खड़ी बोलीकी कविताएं लिखा करते थे। आपका एक कवित्त देखिये।

अमृतके रसकी भरीसी उस मुरलीको,
कब प्यारे आके मेरे सामने बजावेगा?
चढ़के कदम्बपर चारो ओर देखभाल,
हाथको उठाके कब बच्छोंको बुलावेगा?

अम्बादत्त कविकी रसीली कविताको सुन,
मुकुट झुकाके कब फिर मुसकावेगा?
मुझसे गँवारकी पुकार बार बार सुन,
सांवले सलोने कब दरस दिखावेगा?

इससे पता चलता है कि यद्यपि अभी ब्रजभाषा ही कविताकी भाषा थी पर खड़ी बोलीकी दरिया उमड़ चली थी। बान्ध टूटनेकी देर थी। सं० १९४३–

४४ (सन ई० १८८६-८७) के लगभग कविताकी भाषाका विवाद चल पड़ा। दोनो ओरसे पत्रोंमें युद्ध छिड़ गया। उस समय पं० श्रीधर पाठकने 'जगत सचाई सार' नाम्नी कविता काशी पत्रिकामें छपवाई थी।

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा, झूठा है यह सब संसार;
थोथा झगड़ा जीका रगड़ा केवल दुखका हेतु अपार।

उसके पश्चात आपने ऋतु संहारका कुछ अंश अनूदित किया था। ग्रीष्म-वर्णनका एक छन्द आप लोगोंकी सेवामें रखता हूं।

खिलित नव कुसुम्बी रंग सिंदूरका सा;
अति पवन चलेसे वेग जिसका बड़ा है।
निज तट विटपोंको, चोटियोंसे लिपटके;
विकट प्रबल ज्वाला दाह करती फिरै है।

इसके पश्चात पं० श्रीधर पाठकजीने खड़ी बोलीमें कविता आरंभ कर दी। यद्यपि उन्होंने कश्मीर सुखमा, तथा ऊजड़ ग्राम आदि ब्रज भाषामें ही लिखे हैं पर अब उनकी प्रवृत्ति खड़ी बोलीकी ही ओर अधिक थी। 'हरमिट' के अनुवादका एक छन्द सुनियेः—

प्राण पियारेकी गुणगाथा साधु कहाँ तक मैं गाऊँ;
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।
विश्व निकाई विधिने उसमें की एकत्र बटोर;
बलिहारौ त्रिभुवन धन उसपर वारौं काम करोर।

'श्रान्त पथिक' में आप लिखते हैं :—

जहाँ द्रव्य और स्वाधीनी है तहाँ चित्त संतोष नहीं;
जहाँ बनिजका बासा है ह्वां पर महत्व निर्दोष नहीं।

अथवा—

है स्वदेश प्रेमीका ऐसा ही सर्वत्र देश अभिमान;
उसके मनमें सर्वोत्तम है उसका ही प्रिय जन्म स्थान।

यह खड़ी बोलीकी सरल रचनाएँ हैं। अनुवाद होनेपर भी मौलिकता की छाप है। लावनी छन्दोंका प्रयोग किया गया है। कथानक काव्य है, परिपाटी पुरानी है। पाठकजी जो बहरे तवील बहुधा लिखा करते थे वह लावनी वालोंके संसर्गका फल था।

आधुनिक खड़ी बोलीकी कविताकी प्रगति

इसी समय सम्वत् १९५७ में कतिपय साहित्य सेवियोके प्रयत्नसे सरस्वती पत्रिकाका प्रदुर्भाव हुआ। और थोड़े ही दिनोंमे उसका संपादन आचार्य प्रवर पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदीके हाथोमे गया। यह द्विवेदी जीकी प्रौढ़ प्रतिभा तथा प्रचुर प्रयत्नका फल था कि हिन्दी माताकी सेवा करनेके लिए अनेक सुपुत्र उद्यत हो गये। उनमंसे कितनोंने स्वयं द्विवेदी जीके चरणोंपर शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है। द्विवेदीजी स्वयं कविता करते थे और उन्होंने होनहार कवियोंको प्रोत्साहित करके उनकी पावन प्रतिभा पूर्ण रूपसे विकसित करा दी। पं० नाथूराम शंकर शर्मा, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, बा० मैथिली शरण गुप्त सरस्वतीकालके पथ प्रदर्शक कवि थे। अबसे कविता कामिनीके आराध्यदेव रति पति नही रह गये। देवताओंकी पूजा और उनकी प्रशंसामे कविकी वाणी पवित्र होने लगी। जहाँ कृष्णके कपोल और राधिकाकी कचुकीपर कवि अपनी सारी कल्पना लेकर उलट पड़ते वहाँ लक्ष्मी और सरस्वतीके पद-पद्मोकी आराधना होने लगी। प्राचीन वीरो और भारतीय नायक नायिकाओंके गुणोंकी गाथा फिरसे गायी जाने लगी। कवित्त भी खड़ी बोलीमें लिखा जाने लगा। इस परिवर्तनकालकी दो-एक रचना आप लोगोंके विनोदार्थ उपस्थित करता हूं।

वसन्त सेनाकी आँखोकी प्रशसामे शकर जी कहते हैं।

तेज न रहेगा तेज धारियोका नामको भी,
मगल मयक मन्द मन्द पड़ जायॅगे।
मीन विन मारे मर जायॅगे सरोवर में,
डूब डूब शंकर सरोज सड़ जायॅगे॥
चौंक चौंक चारो ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियोंके पख अड़ जायॅगे।
बोलो इन अँखियोंकी होड़ करनेको अब।
कौनसे अड़ीले उपमान अड़ जायॅगे॥

पूर्णजी माँ रमाकी प्रार्थना करते हैं:—

अज्ञानको तू रवि मालिका है;
सकष्टको काल करालिका है।
दया समुद्र जन पालिका है;
अनूप माता जल वालिका है।

यही समय था जब बा० मैथिलीशरण गुप्तने भारतभारती लिखकर भारतकी भारतीको जाग्रत कर दिया। अब देवताकी ओरसे दृष्टि हटाकर देशके धुनमें कविता कोकिल अलापने लगा। प्राचीन संस्कृतिकी पुकार नवीन कानोंमें जाने लगी। राष्ट्रीय वीणाकी झनकार कानोंमे गूँज गयी। जो कविता लोरियाँ देकर 'कोमल कमलसे गुलाबनके दलसे' सुख शैय्यापर सुलाती थी वह कहने लगी—

पर हाय अब भी तो नहीं निद्रा हमारी टूटती;
कैसी कुटेवें हैं कि जो अब भी नहीं हैं छूटती।
बेसुध अभी तक है न जानै कौन ऐसा रस पिया,
देखा बहुत कुछ किन्तु हमने सब बिना देखा किया।

(मै० श० गुप्त)

कवि पुकारने लगा.—

सबकी नसोंमें पूर्वजोका पुण्यरक्त प्रवाह हो।
गुण,शील साहस बल तथा सबमें भरा उत्साह हो।
सबके हृदयमें सर्वदा सम वेदनाका दाह हो।

(मैथली श० गु०)

गुप्तजीका देश प्रेम भारत भारती ही तक नहीं रहा। और भी कविताओंको आपने राष्ट्रीय लड़ी पहनायी। एक स्थानपर कहते हैं—

जिस पृथ्वीमे फले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान रहें हम कभी न न्यारे।
लोट लोटकर वहीं हृदयको शान्त करैंगे।
उसमें मिलते समय मृत्युसे नहीं डरैंगे।
उस मातृभूमिकी धूलमें जब पूरे सन जायँगे।
होकर भव बन्धन मुक्त हम, आत्मरुप बन जायँगे।

आपका किसानोंका क्रन्दन पढ़कर किस मुर्देका हृदय नहीं स्पन्दन करने लगता। हिन्दू तथा गुरुकुल काव्य भी आपके राष्ट्रीय हृदयके चित्र हैं। पं० गयाप्रसाद शुक्लजीने त्रिशूलके उपनामसे सुन्दर राष्ट्रीय भावोंसे विभोर कविताओंकी मालासे हिन्दी साहित्यको शृङ्गारित किया है। गुप्तजीने कविता सरितामें राष्ट्रीयताकी जो लहरियां उठायीं उसे त्रिशूल, पं० माधव शुक्ल आदिने उतुंग तरंग-माला बना दी।

इसी कालमें हमारे पूज्यवर पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्यायने प्रिय प्रवास नामक पुस्तक खड़ी बोलीमें प्रकाशित की। इसे खड़ी बोलीका पहला महाकाव्य कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त है। संस्कृत छन्दोंमें यह ग्रन्थ बड़े बड़े समासों सहित पद्योंमें है फिर भी सुललित, प्रसाद गुण सम्पन्न तथा ओजपूर्ण है कविता अतुकान्त है। रहीमका मदनाष्टक भी इसी प्रकार संस्कृत वर्ण वृत्तोंमें अतुकान्त पदोंमें लिखा गया था। इसके पहिले बा० जयशंकर प्रसादजीने मात्रिक छन्दोंमें अतुकान्त कवितायें इन्दुमें प्रकाशित करायी थी। उसका विवेचन आगे होगा। प्रियप्रवास सभी हिन्दी प्रेमियोंने पढा होगा। ग्रन्थ बहुत ही लोकप्रिय है केवल एक छोटा सा उद्धरण देता हूं राधाकी सुन्दरता सुनिये।

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना,
तन्वंगी कलहासिनी सरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली,
शोभा वारिधिकी अमूल्य मणिसी लावण्य लीला मयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं।

+ + +

नानाभाव विभाव हाव कुशला आमोद आपूरिता,
लीला लोल कटाक्ष पात निपुणा भ्रूभंगिमा पण्डिता,
वादित्रादि समोद वादनपरा आभूषणा भूषिता
राधा थी सुमुखी विशाल नयना आनन्द आन्दोलिता।

श्याम सुधा नामक एक और महाकाव्य इसी ढङ्गपर निकला है पर दोनोंमें भेद वही है जो मिश्रीकी डली और गुड़के ढोकेमें होता है।

अब खड़ी बोलीकी कविताने जनतापर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया और ब्रजभाषाका प्रयोग कवितामें लगभग लुप्त हो गया। इसी सरस्वती कालमें अनेक कवि हो गये। उनमें कितने ही अच्छे और कितने साधारण थे। कितने जीवित हैं और सम्भव है उनकी प्रौढ़ रचनाओंने अभी प्रेसका मुंह न देखा हो। पं० रामचरित उपाध्याय भी इसी परिपाटीके कवि हैं। दो छन्द सुन लीजिये। सरस्वती माताका वरदान जिसे नहीं मिला और जिसे मिल गया उन दोनोंमें क्या अन्तर है।

मन! रमा, रमणी, रमणीयता,
मिल गयीं यदि ये विधि योगसे;

पर जिसे न मिली कविता सुधा,
रसिकता सिकता सम है उसे।
सुविधिसे विधिसे यदि है मिली,
रसवती सरसीव सरस्वती,
मन! तदा तुझको अमरत्वदा,
नवसुधा वसुधापर हो मिली।

अब हम वर्तमान कालकी ओर आते हैं। आजकल कवियोंके दो बड़े भेद हैं। एक प्राचीन स्कूलके एक नवीन स्कूलके। प्राचीन स्कूलके वे ही कवि हैं जो सरस्वती कालके हैं अथवा उनकी शैलीका अनुकरण करते हैं। उनका वर्णन हो चुका है।

आज कलका साहित्यिक वातावरण इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कविता अपने समयकी प्रतिछाया है। शान्ति और अशान्तिकी लहरें बड़े वेगसे मानव हृदय-सागरमें टकरा रही हैं। भारत ही में नहीं, पश्चिम और पूरबमें चीनसे पेरूतक युवक हृदय उद्वेलित हो उठा है। आज युवक हृदयकी अनुभूति कुछ और ही है। इनका हृदय विचित्र सी चोटसे बेचैन है। यह नहीं कहा जा सकता कि युवकोंमें जाग्रतिकी ज्योति फैल गई है पर इतना अवश्य है कि लोग अपना ध्येय पानेके लिये टटोल रहे हैं। आज युवक जिस पीड़ासे अधीर हो रहे हैं उसी हृदय-पटको खोलकर कवि शब्दों और वाक्योंमें प्रतिबिम्बित कर रहा है। इस बातको थोड़ी देरके लिए छोड़ दीजिए कि आजकलकी कविता अच्छी है या बुरी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि कवितामें परिवर्तन हो रहा है। शृङ्गारका सजासज्ज छोड़कर कविता कामिनीने देवताओंके पावन मन्दिरमें प्रवेश किया वहाँसे राष्ट्रीय वेदीपर बलि होनेके लिये आयी। अब वातावरणमें परिवर्तन हो गया। देशमें सामाजिक तथा राजनीतिक जाग्रति हो गयी। जो हृदय कन्या कुमारीसे चलकर हिमाचलकी उत्तुङ्ग शृङ्गोंसे टकराकर भारतभूमिमें रह जाता था वह आज अखिल विश्वमें भ्रमणकर विमोहित हो, उल्लासमें मस्त हो जाता है। दासताकी शृङ्खलाने अपनी झनझनाहटसे हमें जगाकर उद्विग्न कर दिया। दासताकी ठोकरोंने हमारे हृदय पर आघात किया है। ऐसी अवस्था-में अन्धविश्वासका गढ़ चूर्ण होने लगता है। धर्म और कलाके बन्धनोंको मनुष्य पहले तोड़ना चाहता है।

कविके अनुसार मनुष्य जब रोता है तब वह रागसे नहीं रोता;

तार बिगड़ा हुआ है दिलका सभालूं कबतक,
लयकी पाबन्द कहाँ तक मेरी फरयाद रहे।

स्वतंत्रताका जब झोंका आता है सारे नियमोंकी अवहेलना की जाती है। आजकल काव्यरचनामें जो स्वतंत्रता अभी आयी है जिसे आप उच्छृङ्खलता कहते हैं उसके मूलमें यही कारण है। यही मनोवृत्ति है। पुराने बन्धन तोड़नेमें मनुष्यकी आत्माको आनन्द होता है यह यौवनका चिन्ह है। पुरानी शैलीके परिपोषक और नवीन स्कूलवालोंमें यह भेद तो गौण है कि एक यौवन की तरंगोंमें हिलोरें ले रहा है जिसके कानोंमें स्वतंत्रताकी वीणाकी झनकार आरही है, दूसरा अपना जीवनकाल समाप्त कर रहा है। नवीन कविताके प्रवर्तक होनेका सौभाग्य काशी निवासी बा० जयशंकरप्रसादजीको है। जो कविता जान्हवी स्वर्ग-रूपी ब्रजधामसे भगवानकृष्णका चरण छूकर प्रवाहित हुई वह काशीमें शंकरके प्रसादसे प्रसादमयी होकर नवीनरूप धारणकर, कलरव-कलित कल्लोलिनी हो रही है। प्रसादजीने प्राचीन परिपाटी पहले तोड़ी। संस्कृत छन्दोंमें तो अतुकान्त कविता होती थी। मात्रिक छन्दोंमें अतुकान्त लिखनेका रवाज न था। भारतीय-भाषाओंमें पहले पहल बंगलामें माइकल मधुसूदनने मिलटनके समान ब्लेंक वर्समें मेघनाद वध लिखा। बंगला भाषामें उसका बड़ा आदर है। हिन्दीमें प्रसादजीका प्रेम पथिक पहला अतुकान्त प्रबन्धकाव्य है। भाव हमको कहाँ उठा ले जाते हैं —

"प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ,
फिर तो वही रहा मनमें, नयनोंमें प्रत्युत जगभरमें;
कहाँ रहा तब द्वेष जगतमें क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।"

नवीन कविताएँ मुख्यतः अतुकान्त होती हैं। इसलिए नहीं कि सरलता पड़ती है अथवा प्रास खोजनेका प्रयास कवि नहीं करना चाहता। परन्तु यह कि यह विधि बन्धनोंसे मुक्त है। यह मार्ग स्वाधीनताका मार्ग है। नवीन कवि अधिकांश मुक्तक छन्द लिखते हैं। प्रबन्ध काव्य भी लिखते हैं तो कहानी भी हृदयकी किसी भावनाकी छाया होती है। केवल घटनाका वर्णन नहीं होता। आत्मानुभूतिकी व्यञ्जना होती है।

इनके विषय होते हैं प्रकृतिकी सौन्दर्यमयी सृष्टि, आत्माके सुख दुखके अनुभव, 'एबस्ट्रैक्ट' भावनाएँ, तथा ऐसेही आत्माभिव्यंजित 'सबजेक्टिव' विचार।

संसारके केवल स्थूल पदार्थों की निन्दा अथवा प्रशंसा इनकी परिधिसे परे हैं।
यही कारण है कि नवीन स्कूलकी कविताएँ साधारणतः लोगोंकी समझमें नहीं
आती और इसलिए लोग इसकी विडम्बना करते हैं। वाह्य पदार्थों का वर्णन
सरलतासे हो जाता है और सब लोग समझ लेते हैं पर मनके विचारोंको स्पष्ट
कर देना कठिन है और यह वही समझ सकता है जो स्वयं वैसा अनुभव कर
सकता हो।

एक फ्रेंच लेखक (ह्यूगो) लिखता है "मस्तिष्कके भावमय विचारोंका
सीमा बद्ध वर्णन करना प्रायः असम्भव है। शब्दोंमें एक असुविधा रहती है।
विचारोंकी अपेक्षा उनके अर्थकी सीमा अधिक निश्चित रहती है। सभी विचारों-
की सीमान्त रेखाएँ अनिश्चित रहती हैं। शब्दोंमें यह बात नहीं रहती। आत्मा-
का स्पष्ट पहलू सदा शब्दोंसे परे रहता है। भाषणकी परिधि रहती है विचारों
की नहीं।"

इसलिए ऐसे कवि जो आत्माकी अनुभूति चित्रित करना चाहते हैं जहाँ
तक शब्दोंको पाते हैं उनमें अपने विचारोंका चित्र उपस्थित कर देते हैं। पर
सुन्दरसे सुन्दर शब्दावली हो वह केवल विचारोंका आभास ही दिखला पाते
हैं। यदि कोई अपने हृदयकी पीड़ाका वर्णन करना चाहे तो कितना ही लिखे
व्यथा उसे हो रही है उसे कागजपर कहाँ तक दिखला सकता है। हाँ
साधारण मनुष्योंसे और अच्छा वर्णन करेगा। और जिसे जितना ही अधिक
ऐसी पीड़ाका अनुभव होगा वह उतनी ही कविकी रचनामें वेदनाकी गहराई
देखेगा।

यह विशेष कारण है जिससे नवीन स्कूलकी कविताएँ साधारणत.
समझमें नहीं आतीं। ऐसी सारी कविताओंको व्यङ्ग मिश्रित हास्यमें लोग
'छायावाद' के नाम से सम्बोधित करते हैं। यहाँ पर दो बाते स्पष्ट कर देना
चाहता हूँ। छायावाद रहस्यवाद नहीं है। कुछ कवि छायावादी हैं जिनका वर्णन
आगे करूँगा। बहुतसे ऐसे 'कवि' हैं जो छायावादियोंका अनुकरण करते हैं
पर न हृदयमें वह अनुभूति है न वह दर्द है। केवल शब्दोंका निरर्थक जाल
बिछा देते हैं। इन्हें मिथ्याछायावादी के नामसे पुकारूँगा। छायावादका अर्थ
समझनेमें लोगोंने भूल की है। रहस्य-वादके साथ इसे सान दिया है। हिन्दीमें
रहस्यवादका कुछ रहस्य पं० रामचन्द्रजीशुक्लने उद्घाटन करनेका प्रयास किया है।
जायसीकी भूमिका पृष्ठ १६६ में आप लिखते हैं "अतः हिन्दी साहित्यमें 'रहस्य-

वादी कवि संप्रदाय' यदि कोई कहा जा सकता है तो इन कहानी कहनेवाले मुसलमान कवियोंका ही"। इससे अनुमान होता है कि केवल कहानियों अथवा प्रबन्ध काव्योंमें ही रहस्यवाद हो सकता है। काव्यके इतर भेद भावात्मक मुक्तक छन्दोंमें नहीं। इसी व्याख्यानमें पृष्ठ ७१ में आप व्याख्या करते है "जहाँ जहाँ प्रबन्ध-प्रस्तुत वर्णनमें अध्यात्म पक्षका कुछ अर्थ भी व्यंग हो वहाँ वहाँ समासोक्ति ही माननी चाहिये।" और "जहाँ कथा प्रसंगसे भिन्न वस्तुओंके द्वारा प्रस्तुत प्रसंगकी व्यंजना होती हो वहाँ 'अन्योक्ति' होगी।" इन अवतरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा प्रसंगसे फुटकर ऐसी व्यंजनाओंको वह केवल अलंकारकी ही दृष्टिसे देखना चाहते हैं। यदि कथानक सम्पूर्ण नहीं है केवल भावका ही अवलम्बन करके किसी 'एवस्ट्रैक्ट आइडिया' से जब कवि अपनी प्रतिभाका सामंजस्य करता है तब शुक्लजीके कथनानुसार वह रहस्यवाद न हो कर कोई अलंकार विशेष हो जाता है। रहस्यवादको मूलमें कुछ न माननेके लिए ही यह चेष्टा प्रतीत होती है। भाव विशेष वस्तु बनकर जब एक या अधिक छन्दोंमें लिखा जाता है तब मानो उसका पवित्र रहस्यवाद होनेका हक जाता रहता है। फिर वह अन्योक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षाके नामोंसे पुकारा जाय पर उसे रहस्यवाद कहना पाप होगा चाहे वह प्रधानवस्तु आध्यात्मिक प्रेमकी ही ध्वनि क्यों न हो। पृष्ट ६७ में ईश्वरोन्मुख प्रेम शीर्षकमें अपने रहस्यवादकी व्याख्या करते हुए आप कहते है "क्या संयोग, क्या वियोग, दोनोंमें कवि प्रेमके उस आध्यात्मिक स्वरूपका आभास देने लगता है, जगतके समस्त व्यापार जिसकी छायासे प्रतीत होते हैं" फिर आपने पृष्ठ ४९ में लिखा है "पर जायसीने जिस प्रकार मनुष्यके हृदयमें पशुपक्षियोंसे सहानुभूति प्राप्ति करनेकी संभावना की है उसी प्रकार पक्षियोंके हृदयमे सहानुभूतिके सचार भी। उन्होंने सामान्य हृदय तत्वकी सृष्टि-व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु पक्षी सबको एक जीवन सूत्रमें बद्ध देखा है। रामके प्रश्न का खग मृग जवाब नहीं देते पर नागमतीकी दशापर एक पक्षीको दया आती है" इसमें यह विचारना होगा कि जहाँ तक कवि केवल उस विशेष दशाको दिखला देना चाहता है जिसमें एक सचेतनका जड़को सचेत समझकर प्रबन्धकी पूर्णताके लिए वह चेतनाका आरोप मान लेता है वहाँ कविका उद्देश्य केवल उस हृदयकी असाधारण स्थितिका वर्णन करना है। कवि स्वयं जड़को सर्वत्र सचेतन नही मानता किन्तु निरुद्ध नायककी ही वह दशा है। शुक्लजी भी इसे उन्माद कहते है। किन्तु जब जड़ भी वैसी ही सहानुभूति

प्रकट करने लगे तब तो उसे वही कवि लिख सकता है जो उसे उन्माद न मानकर साधारण वस्तुस्थिति समझता है।

जहाँ कहीं कविकी यह दृष्टि हो वहीं रहस्यवादका आरम्भ है। शुक्लजीके मतानुसार उन मुसलमान कहानी-लेखक-कवियोंमें ही हम रहस्यवादका आरम्भ और अवसान नहीं मान सकते। हम उनसे आदरणीय विरोध रखते हुए यही कहेंगे कि जहाँ उस अध्यात्म प्रेमकी ध्वनि चाहे वह संयोगात्मक हो या वियोगात्मक, चाहे एक छन्दमें हो या पचीस पंक्तियोंमें, अपनी झलक दिखला दे, तत हृदयपर अपनी छाया डाल दे जिसमें 'सामान्य हृदय तत्वकी सृष्टिव्यापिनी भावना' का उन्मेष हो जाय उसे रहस्यवाद ही कहेंगे। अन्योक्ति वा समासोक्ति नहीं।

इस विषय पर अधिक हम यहाँ नहीं कहना चाहते। केवल यह संकेत करना चाहते हैं कि रहस्यवाद वही है जिसे अंग्रेजीमें मिस्टिसिज़िम कहते हैं। यह यूनानी मिस्टिकोस शब्दसे निकला है जिसका अर्थ 'रहस्यपूर्ण मत' (सीक्रेट डाक्ट्रिन) है। इसकी व्याख्यामें एक विद्वान् लिखता है 'इनवालविंग ए सेक्रेड ऑर सीक्रेट मीनिंग हिडेन फ्राम दि आइज़ आव दि आरडिनरी रीडर ओनली रिवील्ड टु ए स्प्रिचुअली एनलाइटेन्ड माइन्ड' * अर्थात् रहस्यवादमें किसी ऐसे गुप्त अथवा पूत सिद्धान्तका समावेश होता है जो साधारण पाठकोंके नेत्रोंके सम्मुख नहीं आ सकता। ऐसे ही लोग उसके अर्थकी महत्ता समझ सकते हैं जिनके हृदयमें आत्माकी जाग्रति हो।

आजकल कुछ लोगोंकी धारणा हो गयी है कि जितनी कविताएँ नवीन कवि लिखते हैं रहस्यवाद या छायावाद होती हैं। रहस्यवाद लिखना सबका काम नहीं है। जो विराट् ईश्वरको कण-कणमें देखता है, जिसके हृदय-मानसमें पर-ब्रह्मकी ज्योति झिलमिल झिलमिल करती है, वही रहस्यवाद लिख सकता है। और जिसका हृदय अदृश्य तारोंसे प्रकृतिसे बँधा हुआ है, जिसका हृदय पत्तों और पुष्पोंकी वेदनासे प्रभावित होता है, उनके हास्यमें सम्मिलित होता है, प्रकाश रश्मियोंके नृत्यसे जिसका हृदय नाच उठता है, वही छायावादी कवि है। नवीन स्कूलके कवियोंमें यह भावनाएँ हैं। पहले मैं थोड़ा उदाहरण उन

---

* Inloving a sacred or secret meaning hidden from the eyes of the ordinary reader, only revealed to a spiritually enlightened mind.

रचनाओंका सुनाता हूँ, जिनकी पंक्तियोंमें रहस्यवादकी झलक है। उन पंक्तियोंमे जहाँ प्रेम संयोग-वियोगमें साम्य दिखलाती हैं मैं रहस्यवादकी सत्ता मानता हूं। प्रेमकी परिधि 'प्रसाद' जीने कितनी बढ़ा दी हैं। कहते हैंः—

'इस पथका उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवनमें टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं,

और देखिये। कवि नये रूपमें विश्वको देख रहा है। 'सामान्य हृदय-तत्व की विश्वव्यापिनी भावना' द्वारा अनुप्राणित होकर कवि कह उठा—

'प्रकृति मिला दे विश्व प्रेममें,
विश्व स्वयं ही ईश्वर है'

कविकी दृष्टि कितनी विशाल हो गयी। कहता हैं.—

'खड़े विश्व जनतामें प्यारे हम तुमको पाते हैं'
'ऐसे तुम सर्वत्र सुलभको पाकर भला कौन खोता'

इन्ही भावोंके भव्य मानस-सरोवरमें निमज्जित होकर 'एक भारतीय आत्मा' कहते हैं.—

किन घड़ियोंमें तुझको झाँका तुझे झाँकना पाप हुआ,
आग लगे बरदान निगोड़ा, मुझपर आकर शाप हुआ।
जाँच हुई नभसे भूमण्डल तकका व्यापक माप हुआ,
अगणित वार समाकर भी छोटा हूँ यह सन्ताप हुआ।
अरे अशेष शेषकी गोदी तेरा बनै बिछौनासा,
आ मेरे आराध्य खिला लूँ मैं भी तुझे खिलौनासा।

क्या ब्लेकका भाव*

टु सी ए वर्ल्ड इन ए ग्रेन आव सैन्ड,
ऐन्ड ए हेवेन इन ए वाइल्ड फ्लावर,
होल्ड इनफिनिटी इन दि पाम आव यौर हैण्ड,
ऐण्ड इटर्निटी इन ऐन आवर,

---

* To see a world in a grain of sand,
And a heaven in a wild flower;
Hold Infinity in the palm of your hand,
And Eternity in an hour.

पं० माखनलालकी कवितामें भरा नहीं है ?

सुमनजीकी यह पंक्तियाँ क्या उस आध्यात्मिक ध्वनिसे पूर्ण नहीं हैं जो विराट् स्वरूपकी व्यंजना है ?

मुझमें तू दूर होकर विलीन प्यारे विराट हो जाने दे,
वह अभेद भावोंको लिपटा आलिंगन पा जाने दे।
उस अनन्त आलिंगनमें 'तेरा मेरा' मिल जायेगा,
विस्मृतिकी असंख्य स्मृतियोंमें, 'मैं ही मैं' हो जायेगा।

निरालाजीकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उसी असीमके मिलनका राग अलापती हैं। धारा कहती है—

"जवानीकी प्रबल उमंग,
जा रही मै मिलनेके लिये—पारकर सीमा—
प्रियतम असीमके संग।"

कवि उस महान् सर्वस्व रसपूर्ण रचयिताकी खोजमें है। कहता है :—

जीवनकी इस सरस सुरामें,
सखि है किसका मादक राग ?
फूट पड़ा तेरी ममतामें,
जिसकी समताका अनुराग
किन नियमोंके निर्मम बन्धन,
जगकी संसृतिका परिहास-
कर, बन जाते आकुल क्रन्दन,
सखि वे किसके निर्दय पाश ?

उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ विश्व- रचयिताके विराट स्वरूपकी व्यञ्जना हैं उसका दिग्दर्शन हैं। अतएव यह रहस्यवादकी रचनाएँ हैं।

छायावादका विशेष वर्णन करनेमें लेख बढ़ जाएगा। इस सम्बन्धमें केवल इतना कहना है कि छायावादसे उसी कविताका अभिप्राय समझना चाहिए जिस अर्थमें अंग्रेजी शब्द 'रेफ़्लेक्टिव पोएट्री' बोधक होते हैं और उसकी अभिव्यंजना विशेष ढंगसे की जाती है। यह कविता आत्माभिव्यंजित भावोंको लिये होती है। हृदयकी भावनाको कवि वर्णन करता है। बाह्य प्रकृतिमें भी कवि अपने हृदयकी विचारधारा बहती हुई देखता है। वह प्रकृतिमें मिल

जाता है, प्रकृति उसमें मिल जाती है। दूसरी विशेषता यह है कि उसके विचार स्थूल जगतसे ऊपर होते हैं। वर्णन करते करते वह सब स्थानोंसे हट कर अपने आत्माके प्रासादमें विचरने लगता है और उसीमे लीन हो जाता है। ऐसी कविताएँ भी साधारणतः कम समझमें आती हैं।

महात्मा गाँधी अपनी 'आत्मकथा' मे लिखते हैं "हममें जो सद्भाव सोये हुए हैं उन्हें जाग्रत करनेकी शक्ति जिसमे है वही कवि है। सब कवियोंका असर सबों पर एकसा नहीं होता। क्योंकि सबमें सारी सद्भावनाएँ समान परिमाणमें नहीं होतीं।"

छायावादी कविताएँ क्यों नहीं समझमें आतीं इसका समाधान महात्माजीने भले प्रकार कर दिया।

इस शैली की कुछ उत्कृष्ट रचनाएँ आपको सुना कर आगे बढ़ता हूँ—

श्री सियारामशरण जी वीणासे कहते हैं—

हे साधन-सिद्धि ललित वीणे,
तू हे कलकण्ठ कलित वीणे!
मेरे जीवनमें कर निवास
तेरे निक्वण का-सा सुन्दर
आनन्द भरित जीवन धरकर।
क्षण भरमें ही करके विकास,
फैला जाऊँ आनन्द हास।

हृदयमें बैठकर कौन मसोस रहा है पता नहीं। इसी अज्ञातको पकड़ने द्विजजी चलते हैं।

कौन तू उर निकुञ्जमें बैठ, मृदुल स्वरमें गा गा यह गीत,
जगाता निष्ठुरतासे छेड़, बता क्यों मेरा सुप्त अतीत?
थिरकने चंचल गतिसे आह, लगी हृत्कम्पनपर वह तान,
विकलताके चरणोंपर झुका, रहा कर क्यों मेरा बलिदान?
"देख अपने ही भीतर पैठ, कौन मैं" कह इतनी ही बात,
बात-हत तरुसा कर विच्छिन्न मुझे क्यों चला कहाँ अज्ञात?

इसी प्रकार अनेक कवि हैं जिनकी रचनाएँ इसी शराबमें मतवाली हैं।

प्राचीन कविता तथा नवीन खड़ी बोलीकी कवितामें एक और भेद हैं। प्राचीन कवि प्रकृतिका वर्णन करते थे तो किसी वस्तु विशेषकी प्रशंसा कर देते

थे। उनकी प्रकृतिकी कविता केवल उद्दीपन विभावके लिये होती थी। प्रकृति उनके लिये कोई जीवित वस्तु न थी। वर्डस्वर्थ का यह कहना है:—‡

वन इम्पल्स फ्राम ए वर्नल वुड
मे टीच यू मोर आव मैन,
आव मौरल ईविल ऐण्ड आव गुड
दैन आल दि सेजेज़ कैन।

उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखता था। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि प्राचीन कवि कुछ जानते न थे। सूर, तुलसी, मीरा सरीखे कवियोंकी चरण रजसे आजकलके साहित्य महारथी पवित्र हो सकते हैं। मै उनसे तुलना भी नहीं कर सकता। मुझमें यह क्षमता नही। वसन्त वर्णनमें पद्माकर लिखते हैं 'वननमें बागनमें बगरो वसन्त हैं।' आप स्वयं विचारिये क्या कवि वसन्त की आत्मातक पहुँचा? उनकी कविता है:—

ए वृज चन्द चलौ किन वा ब्रज लूकैं वसन्तकी ऊकन लागी
त्यों पद्माकर देखौ पलासन पावकसी मनों फूंकन लागी
वै ब्रजवारी विचारी वधू वन बावरी लौं हिये हूकन लागी
कारी कुरूप कसाइनैं यैं सु कुहूकुहू कै लिया कूकन लागी

पदावली सजी हैं, शब्द योजना है अनुप्रास है। कोई अर्थ गौरव भी है? प्रसादजी की प्रारंभिक रचना है। वसन्तसे कहते हैं—

तू आता है फिर आता है—
जीवनमें पुलकित प्रणय सदृश
यौवनकी पहली कान्ति अकुश।
जैसी हो वह तू पाता है।

दोनों पढ़कर किसमें अर्थ गौरव है सहृदय पाठक ही सोचे। नदियोंके प्रवाह का वर्णन अनेक कवियोंने किया है।

निरालाजी यमुनाके धारा-प्रवाहसे कहते हैं—

---

‡One Impulse from a vernal wood,
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can

'मुग्धाके लज्जित पलकों पर,
तू यौवनकी छवि अज्ञात।
आँख मिचौनी खेल रही है,
किस अतीत शिशुताके साथ?
किस अतीत सागर संगमको,
बहते खोज हृदयके द्वार?
बोहितके हित सरल अनिलसे
नयन सलिलसे ओत अपार...

दोनों स्कूलोंकी कवितओंमें कितनी विभिन्नता है। और देखिये। वियोगके ऊपर अनेक कवियोंने कविताएँ की हैं भाषा साहित्यके रसग्रन्थोंमे ढेरी लगी है। कोई कहते हैं "पहिले अंचवैगी हलाहलको फिरि कैकी कोलाहल कै नचि है" अथवा कोई कहते हैं—

लाज ऊपर गाज परै ब्रजराज मिलै सोई काज करोरी।

मै नवीन स्कूलकी दो एक रचना सुनाता हूँ। विरह वेदनाका कैसा चित्र है।

आह वेदना मिली बिदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित
मधुकरियोकी भीख लुटाई।
छलछल थे सन्ध्याके श्रमकण, आँसूसे गिरते थे प्रति क्षण।
मेरी यात्रापर लेती थी नीरवता अनन्त अँगड़ाई॥
चढ़कर मेरे जीवन रथमे, प्रलय चल रहा अपने पथमें।
मैने निज दुर्वल पद वलपर उससे हारी होड़ लगाई॥

(प्रसाद)

क्या हृदयमे तूफान नहीं उठ जाता?

प्रेम जन्य वियोगमें नवीन कवि केवल उसीरका लेपन और खसखानेमें बैठकर अपनी तप्त उसासोंसे नगर भरकी नदियाँ और तालाव नहीं सुखाता। वह केवल यह नहीं रोता "रात ना सुहात ना सुहात परभात आली, जब मन लागी जात काहू निरमोहीसे" उसके लिये तो—

अयि अमर शान्तिकी जननि जलन, अक्षय तेरा शृङ्गार रहै।
जीवन धन स्मृतिसा अमित निरन्तर तेरा मेरा प्यार रहै॥

धधके लपटें अन्तर तरमें तेरे चरणोंपर शीश झुके।
तूफ़ान उठे अंगारोंके, उर प्रलय सृष्टिका स्रोत रुके॥
हाँ खूब जला दे रह न जाय अस्तित्व और जब वे आवें
चरणोंपर दौड़ लिपट जानेवाली केवल विभूति पावें
(द्विज)

एक और विदग्ध हृदय 'श्याम' जी कहते हैं—

तेरी स्मृतिके मधुर अङ्कमें
देख पड़ा यह सपना।
सर्वनाश करना ही सुख है,
सबसे बढ़कर अपना।

फिर आप कहते हैं—

हँसते हुए तुम्हें देखा था,
हिमकर नील गगनमे।
उस दिन प्रथम चरण डाला था,
मैंने इस जीवनमे।
अगणित वार तुम्हें देखा पर,
कभी न थे तुम इतने,
आज जगतसे विदा-समय
तुम सुन्दर लगते जितने।

कितना दर्द है।

शैलीकी उक्तिः—‡

अवर स्वीटेस्ट सांग्ज आर दोज़,
दैट टेल आव सैडेस्ट थौट।

इन कविताओंमें कितनी चरितार्थ होती है।

रूप अथवा सौन्दर्य वर्णनमें भी नये स्कूलके कवि नवीन प्रणालीपर चल रहे हैं! अधिकाश प्राचीन कवि जड़रूपकी प्रशंसामें उत्प्रेक्षा और रूपकके भंवरमें फँस गये। वाह्य सौन्दर्यके भीतर द्रष्टाकी दृष्टिसे उस महान विधाताकी महान सुन्दरताको देखकर स्पष्ट न कर सके। रवि बाबूने कहा है 'ब्यूटी इज दी

‡ Our sweetest songs are those,
That tell of saddest thought.

सिगनेचर व्हिच दि क्रियेटर स्टैम्पस व्हेन ही इज सैटिस्फाइड विद हिज वर्क।‡ कीट्स भी कहता है 'ब्यूटी इज ट्रूथ, ट्रूथ ब्यूटी'† यह भी कहा जाता है 'सत्यं शिवं सुन्दरं'। प्राचीन कवि कटिकी क्षीणता तथा केशकी कालिमामें राह भूल गये। बड़ीसे बड़ी कविता ऐसी थी।

'एक वली सबहीको वसकरि राखत हैं,
त्रिवली जो करै वश अचरज कौन है'।

अथवा

शभु हैं पै उपजावैं मनोज, सुवृत्त हैं ये पर-चित्तके चोर हैं।

यह कविता देवीकी आराधनामें पुष्प नहीं बिखेरे गये हैं पंक फेका गया है। नवीन स्कूलके सौन्दर्य वर्णनमें सुषमा (ग्रेस) को प्रथम स्थान दिया गया है। सौन्दर्यमें विशेष स्निग्धता होती है जिसे हम सुषमा-'ग्रेस' कह सकते हैं। सूरने कृष्ण राधाके वर्णनमें, तुलसीने सीता तथा रामके वर्णनमें इसे स्थान दिया है। और भी कवियोंने अपने पद्योंमें सौन्दर्य कलाको कलाविदकी दृष्टिसे देखा है। कपोलको मक्खनका ढोका कह देना कविता नहीं है। देव, बिहारी और पद्माकर-के आपने वहुतसे कवित्त पढ़े होंगे। जरा आजकलके सौन्दर्य निरीक्षणकी बानगी देखिये—

मन्द मन्द मुसकानेमें अधरोंकी वह मिलती लाली
ऊषाकी घूंघट-लालीमें झांक पड़े ज्यों करमाली
पूर्णचन्द्रमें क्या है कमलोंमें क्या रक्खा है आली
वह तो था कुछ और हमारे उपवनका प्यारामाली
(सुमन)

मधुर मुसकान देखकर पन्तजी कहते हैं:—

विपिनमें पावस केसे दीप,
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव,
सजग हो उठते नित उर बीच
नहीं रख सकती तनिक दुराव

---

‡ Beauty is the signature which the Creator stamps when he is satisfied with his work. † Beauty is Truth, Truth Beauty.

कल्पनाके ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान

रूपका कितना सुन्दर वर्णन है सुनिये।

"और देखा वह सुन्दर दृश्य, नयनका इन्द्रजाल अभिराम;
कुसुम वैभवमें लता समान, चन्द्रिकासे लिपटा घनश्याम
नीलपरिधान बीच कुसुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजलीका फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग
घिर रहे थे घुंघराले बाल, अंस अवलंबित मुखके पास
नीलघन शावकसे सुकुमार, सुधा भरनेको विधुके पास
और उस मुखपर वह मुसकान, रक्तकिसलयपर ले विश्राम
अरुणकी एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम"

(प्रसाद)

कल्पनाकी कितनी ऊँची उड़ान है। न वासना उत्तेजित होती है न कोई अपवित्र विचार हृदयमें उठते हैं।

इन्हीं प्रसादजीकी एक और कविता सुनिये—

तुम कनककिरणके अन्तरालसे लुक छिपकर चलते हो क्यों?
नतमस्तक गर्व वहन करते, यौवनके घन रसकन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?
अधरोंके मधुर कगारोंमें, कलकल ध्वनिकी गुंजारोंमें,
मधुसरितासी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?

जो लोग कहा करते हैं कि नवीन कवितामें कुछ नहीं है और केवल तुकबन्दी है जरा एक बार इन रचनाओंको पढ़नेका कष्ट उठाएँ। किसकी कल्पना-शक्ति अधिक ऊँची और गौरवपूर्ण है? यदि पक्षपात हटा दिया जाय और इस स्कूलके उत्कृष्ट कवियोंकी रचनाएँ पढ़ी जायँ तो आश्चर्य नहीं कि नवीन कविता बाजी मार ले जाय। महात्मा कवियोंको छोड़ दीजिये तो भगवान कृष्ण और राधिकाकी आड़ में ऐसे भद्दे भद्दे कवित्त बने हैं कि आश्चर्य होता है। उस कालका यह नियम रहा होगा। हम उससे नाक भौं नहीं चढ़ाते। संसारके जीवनकालके प्रभातमें लोग पत्तोंसे तन ढकते हैं पर आज हम वैसा नहीं कर सकते। हमारे नवीन कवियोंके सामने प्रेम अतुलनीय, अनश्वर नैसर्गिक वस्तु है। यह अन्तस्तलका सौदा है। चाँदी सोनेके मोल नहीं हो सकता।

आजकलकी कविताकी कल्पनाकी उड़ान जितनी ऊँची होती है जितनी इसमें महत्ता (ग्रेन्ड्यौर) होती है पुरानी कवितामें साधारणतः नहीं मिलती साधारण वस्तुका भी वर्तमान कवि वर्णन करेगा तो वह विशाल रूपसे होगा जिससे वस्तुका चित्रण भावोंकी गंभीरता हृदय पट पर जबर्दस्त छाप रख दे। कोमल कल्पना भी होगी तो इतनी गंभीर होगी कि वह असाधारण हो जायेगी। पन्तजीका एक गीत देखिये —

स्तब्ध ज्योत्सनामें जब संसार,
चकित रहता शिशुसा नादान।
विश्वके पलकोंपर सुकुमार,
विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रोंसे कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन!
देख वसुधाका यौवन भार,
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उरकेसे मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोछ्वास
न जाने सौरभके मिस कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन

प्रसादजीने पगलीके रूपकमें रात्रिका कैसा चमत्कारपूर्ण चित्र खींचा है—

विश्व कमलकी मृदुल मधुकरी,
रजनी तू किस कोनेसे
आती चूम चूम चल जाती
पढ़े हुए किस टोनेसे
रजत कुसुमके नव परागसी
उड़ा न दे तू इतनी धूल
इस ज्योत्सना की आह बावली
तू इसमें जाएगी भूल
फटा हुआ था नील वसन क्या,
ओ यौवनकी मतवाली

देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छबि भोली भाली

नवीन कविताके पारखी एक बात और पाएँगे कि कवि अब सारा विश्व अपना घर मानता है सच पूछिये तो कवि देश, राष्ट्र, जातिके ऊपर है। वह राष्ट्रीयताका भी उपदेश देगा तो विश्ववादकी भीतिपर। वाल्ट ह्विटमैन, यीट्स, माटरलिंक, टैगोर जितने महाकवि हैं इसी रंग में रंगे हैं। हाँ दासताकी शृङ्खलामें जकड़े भारतको ऐसी बात आश्चर्यजनक अवश्य प्रतीत होती है। वैदिककालसे हम विश्वसंगीत गाते चले आते हैं। अब तो उस भारतीको जगाना चाहिये कि भारत प्राचीन गरिमा ग्रहण कर ले। हाँ हमारे भाव संकुचित न होने चाहिये। एक बात और है। आजकलकी कविता करुण कहानी है। जीवन शोकका सागर है मनुष्य इसीकी लघु लहरियोंमें हिलोरें लेता है। आनन्दकी मात्रा जीवनमें बहुत कम होती है। और कवि सचाईको छोड़ नहीं सकता।

एक और बात प्राचीन स्कूलवालोंको वर्तमान कवियोंकी बुरी मालूम होती हैं। अकसर आप लोगोंने ऐसी कविताएँ देखी होंगी जिनके चरण छोटे-बड़े होते हैं। इसपर हिन्दी जगतमें बड़ी हँसी उड़ायी जाती है। 'वाल्टव्हिटमैनने पहले पहल अंग्रेजीमें ऐसी कविता लिखी। ईट्स, टैगोर और बड़े कवि लिखते हैं कोई चूँ नहीं करता। बंगलामें भी रवि बाबूने ऐसा ही लिखा है। उनका 'ताजमहल' देखियेः—

चलेगेछे तुमि आज
महाराज
राज्य तव स्वप्न सम गेछे छूटे
सिंहासन गेछे टूटे
तवसैन्यदल
जादेर चरण भरे धरणी करित टलमल
ताहादेर स्मृति आज वायुभरे
उड़े जाय दिल्ली पथेर धूलि परे

हमारे यहाँ निरालाजीने लिखा तो कहा गया निराला पंथ खड़ा करते हैं। हमारी रायमें जबतक कविका उद्देश्य वर्डस्वर्थके अनुसार 'हाउ वर्स मे थ्रिल्ड ए

प्रिंसली थ्रोन आन अम्बल ट्रूथ† हो, तबतक सभी कविता है। मुक्तक हो, छप्पय, मालिनी, हो। सभी भावके वाहक हो सकते हैं। भाव होने चाहिये कलाका गला न घोंटना चाहिये। पर कलाकी शृङ्खलामें नवीन कड़ियाँ जोड़ीं जा सकती हैं।

वर्तमान कविता राष्ट्रीय कम अवश्य है पर सुन्दर हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदीने राष्ट्रीयता और छायावादका ऐसा सुन्दर सम्मेलन किया है कि सोने कि कलिकामें चम्पक की सुगन्ध मिला दी है। आज जो राष्ट्रीय साहित्य है वह सच्ची राष्ट्रीयताका सन्देश है, जीवन में जाग्रति फैला देने वाला है। आजकी राष्ट्रीयताका संगीत हृदयके खूनके आँसू हैं केवल शब्दाडम्बर नहीं है' एक भारतीय आत्मा' की अन्तरात्माकी चाह सुनिये—

चाह नहीं मैं सुरबालाके गहने से गूथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमी मालामे बिंध प्यारोको ललचाऊँ
चाह नहीं सम्राटोंके शवपर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवोंके सिर पर चढ़ूँ भाग्यपर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथमें देना तुम फेंक
मातृभूमिपर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक

फिर आप कहते हैं—

किस प्रकार मिनटें गिनता हूँ दिनके मास बनाता हूँ,
खानपानकी, ध्यान ज्ञानकी धुनी यहाँ रमाता हूँ।
तुमको आया जान वायुमें बाहोंको फैलाता हूँ,
चरण समझते हुए सीकचों पर मैं शीश झुकाता हूँ।
सुध बुधि खोने लगे, कहो क्या पूरी नहीं सुनोगे तान,
होता हूँ कुरबान बताओ, किस कीमतमे लोगे जान

कविके हृदयपर राष्ट्रीयताकी छाया कितनी पड़ी है। कविता वैसी तुकबन्दी नहीं है जैसी कभी कभी पत्रोंमें आती है। कविके दग्ध हृदयकी उत्तप्त उसासें हैं

नवीनजी लिखते हैं—

---

† How verse may build a princely throne on humble truth.

सावधान मेरी वीणामें चिनगारियां आन बैठी है,
टूटी हैं मिजरावें युगलांगुलियां मेरी ऐंठी है।
कंठ रुका जाता है महानाशका गीतरुद्ध होता है
आग लगेगी क्षणमें हृत्तलमें अब क्षुब्ध युद्ध होता है

इतना ही नहीं, नवीनजी और बढ़कर कम्पित स्वरोंसे गाकर संसारको कम्पायमान कर देते हैं कहते हैं:—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधरसे आये, एक हिलोर उधरसे आये
प्राणोंके लाले पड़ जाएं त्राहि त्राहि रव नभमें छाये,
नाश और सत्यानाशोंका धुंआधार जगमें छा जाये
बरसे आग जलद जल जाएँ, भस्मसात् भूधर हो जाएँ
पाप पुण्य, सद सद्भावोंकी धूल उठ उड़े दांये बांये।

\+ \+ \+ \+

नियम और उपनियमोंके ये बन्धन टूक टूक हो जाएँ,
विश्वम्भरकी पोषक वीणाके सब तार मूक हो जाएँ
शान्ति दण्ड टूटे उस महारुद्रका सिंहासन थर्राये,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्वके प्रांगणमें फहराये।
नाश नाश हा महानाशकी प्रलयंकरी आँख खुल जाये
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये

यह है नवीन कविताका थोड़ेमें दिग्दर्शन। इसका प्रभाव बढ़ रहा है पुरानी शैलीके कवि भी अनुकरण करने लगे। सनेहीजी पर भी छायावादकी छाया पड़ी। आप लिखते हैं—

वह बेपरवाह बने तो बने हमको इसकी परवाहका है,
वह प्रीतिका तोड़ना जानते हैं ढंग जाना हमारा निबाहका है
कुछ नाज जफ़ा पर है उनको; तो भरोसा हमें बड़ा आहका है,
उन्हें मान है चन्द्रसे आननपै, अभिमान हमें भी तो चाहका है।

बाबू मैथलीशरण गुप्तने भी कविताएँ छायावादके रंगमें रंगी है। दो पक्तियां यादसे लिखता हूँ।

विश्व तुम्हारी वीणा है अनमोल
जिसके दो तूम्बे भूगोल, खगोल।

प्राचीन कवियोंने बालकोके योग्य कविताएँ न लिखी। आजकल बालकोंके योग्य कविताएँ हो रही हैं। हरिऔधजी, श्रीनाथसिंह बालसखा सम्पादक आदिने इस साहित्यका अच्छा निर्माण किया है। हरिऔधजी का एकाध नमूना देखिये,

बिखरे मोती न्यारे है, या चमकीले तारे हैं,
सुथरी नीली चादर पर सुन्दर फूल पसारे हैं।
किसी बड़ी अलबेलीके बड़े छबीले प्यारे हैं,
या अंधियाली रातोंकी आखोंके ये तारे हैं।

एक कविता है—

रूपरग दोनोंमे न्यारा, तेरे मुखड़े जैसा प्यारा,
है यह चन्द या कि रस प्याला, या चादीका थाल निराला
कोई बड़ा फूल है फूला, या है यह आईना भूला,
जोति बेलियोंका है बीया, या है यह अकासका दिया।

वीर रसका खड़ी बोलीमे काव्य-गुरुवर लाला भगवानदीनजीने आरंभ किया था। वीर पंचरत्नके पश्चात वीर रसकी कोई सुन्दर रचना न निकली। वीर प्रतापका एक छन्द सुनाता हूँ।

पुरखोंके बड़े बोलकी इज्जतको बचाना,
माता व बहन बेटीका सत धर्म रखाना।
निजधर्म व सुरधामोंका सनमान बढ़ाना,
तीरथ व महा धामोंका सतकार कराना
इन कामोंमें गर जानका डर हो तो न डरिये
क्षत्रीका परम धर्म है यह ध्यानमें धरिये॥

इसी भाँति महावरेदार काव्योंका भी हरिऔधजीने आरम्भ किया। उर्दूमें बड़ी टकसाली भाषामे महावरेदार कविता होती है।

दो एक उदाहरण देखिये.—

यह तसवीर चेहरा उतर क्यों रहा है?
खिंचे किससे हो, क्या है नक़शा तुम्हारा

× × ×

थमते थमते थमेंगे आँसू
रोना है कोई हँसी नहीं है।

हरिऔधजीने बोल चाल पर एक कविताकी पुस्तक ही लिख डाली है। हास्य तथा व्यंग भी अभी खाली है। कुछ कविताएँ निकलती हैं, पर हिन्दीमें अकबरका स्थान रिक्त है।

यह खड़ी बोलीकी कविताके सम्बन्धमें मेरा थोड़ासा ज्ञान है। हमारी प्रार्थना सहृदय सज्जनोंसे है कि विशेषत· नवीन स्कूलकी कविताओंको दुरूह और क्लिष्टकाव्यके नामोंकी उपाधि देकर अपनी हृदय हीनताका परिचय न दें। ऐसी कविताएँ अवश्य हैं जो कविता नहीं होती पर पुरानी शैलीवालोंमें भी ऐसा ही है। प्रसाद जी, पं० माखन लाल चतुर्वेदी, निरालाजी, पन्तजी, नवीनजी, गुप्तजी, सियारामशरणजी तथा और भी सहृदय कवि हैं जिनका हृदय भावुकतासे परिप्लावित है। प्रकृतिके नृत्यके साथ उनकी वीणामें भी झनकार हो उठती है। वह प्रेम-सरितामें वहे चले जा रहे हैं। उनका हृदय विदग्ध हो पर उनकी कविता सरिताका जल भी सन्तप्त हृदयको शान्त कर सकता है। इन्हें अवहेलना की दृष्टिसे न देखिये। इनमेंसे कीट्स, शेली निकल सकते हैं। इतना हम कह सकते हैं कि उनकी आहोंमें सचाई है उनके रोनेमें करुणा है, उनके हास्यमें मधुरिमामयी चन्द्रिका है और वह भी राबर्ट ब्रिजेज़ के शब्दोंमें कहते हैं:—

माई आइज़ फ़ौर ब्यूटी पाइन,
माइ सोल फ़ौर गौडेस ग्रेस,
नो अदर केयर ऑर होप इज़ माइन,
टु हेवन आइ टर्न माइ फ़ेस‡

सन् १९२९]

---

‡ My eyes for Beauty pine,
My soul for goddess Grace,
No other care or hope is mine,
To Heaven I turn my face.

छायावादकी छानबीन

[जिस समय यह लेख छपा था रहस्यवाद और छायावादके संबंधमें अनेक भ्रम थे। बहुतसे लोग रहस्यवाद और छायावादको एक ही समझते थे। कुछ लोग समझते थे छायावाद विकृत रहस्यवाद है अथवा रहस्यवादकी अनुकृति है। बहुत दिनों बाद पं० रामचन्द्र शुक्लने लिखा कि छायावाद विशेष ढंगकी व्यंजना है, एक प्रकारकी शैली है।

जब प्रसाद-पंत-निराला-महादेवीने तथा अन्य कवियोंने नये ढंगकी कविता आरंभकी तब वह सभी छायावादके नामसे पुकारी जाने लगी। उनमें कुछ कविताएं रहस्यवादकी सीमाको भी स्पर्श करती थीं, इसमें संदेह नहीं। कुछ योंही तत्वविहीन थीं। इस लेखमें 'छायावाद' नवीन कविताओं के अर्थ में लिया गया है। जहाँ-जहाँ छायावाद शब्द आया है उसका अभिप्राय है, नये ढंगकी कविता। शुक्लजीके अर्थमें नहीं अपितु वह नवीन रचनाएं जो रहस्यवादको स्पर्श करती हैं।]

मई मासकी सरस्वतीमें एक 'सुकवि किंकर' महाशयने 'आजकलके हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक एक लेख छपाया है। वह लेख जून मासके 'आज' की तीन संख्याओंमें भी अवतरित किया गया है। लेखसे लेखककी विद्वत्ता, काव्य-मर्मज्ञता और बुद्धिमत्ता टपकती है, पर साथ-ही-साथ एकदेशीयता और पक्षपात भी दिखाई देता है। लेखके शीर्षकसे बोध होता है कि उक्त लेखमें वर्तमान कविता-शैली, कविताके विषय तथा कवियोंकी आलोचना होगी। पर सारा निबन्ध पढ़नेके पश्चात् यह पता लगा कि लेखक महोदयने उसमें छायावादी कवियोंको ही अपना लक्ष्य बनाया है। इस बातपर लेखमें जोर दिया गया है कि छायावादी कवि बिलकुल निपढ और गँवार होते हैं उनकी कविता निरर्थक

होती है, वह हिन्दी-साहित्यपर अत्याचार कर रहे हैं और कविताका गला घोंट रहे हैं। लेखक,पाठकोंके सम्मुख पक्षपात छोड़कर यह दिखलानेकी चेष्टा करेगा कि किस हदतक कविकिंकरकी ऐसी धारणाएँ ठीक हैं और छायावादका कविकिंकरजीने कहाँ तक मनन किया है और छायावादपर लगाए उनके अभि-योग कहाँतक उचित हैं।

लेखक पहले ही कह देना चाहता है कि वह कवि नहीं है, न छायावादी कवियोंकी वकालत करनेको उपस्थित हुआ है। कविता और साहित्यके क्षेत्रतक लेखककी पहुँच नहीं है और न उसने इस विषयका अध्ययन ही किया है। वह कुछ शब्द लिखनेसे उसकी यही अभिलाषा है कि जिस प्रकार 'सुकवि किंकर' ने अपना मंतव्य साहित्यज्ञोंके सामने रक्खा है, उसी तरह लेखक साहित्य-जगत्के समक्ष अपने विचारोंको रख दे ताकि विद्वान्-समुदाय अपना मत प्रकाशित करे और सत्यासत्यकी विवेचना करे।

सुकविजीका कहना है कि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर पचासो सालसे साहित्य-क्षेत्रमें अनवरत परिश्रम कर रहे हैं। 'बहुत कुछ ग्रन्थ रचना कर चुकनेपर उन्होने एक विशेष प्रकारकी कविताकी सृष्टिकी है।........अँगरेजीमें एक शब्द है— मिस्टिक या मिस्टिकल। पंडित मथुरा प्रसाद मिश्रने अपने त्रैभाषिक कोषमें उसका अर्थ लिखा है— गूढ़ार्थ, गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। रवींद्रनाथकी इस नए ढंगकी कविता इसी मिस्टिक शब्दके अर्थकी द्योतक है।' फिर आप लिखते हैं— 'छायावादसे लोगोंका क्या मतलब है, कुछ समझमें नहीं आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविताके भावोंकी छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े, तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिये।'

इसमें क्या संदेह है कि रवींद्र बाबू पचासो सालसे कविता-कुन्जमें अपने मधुर-गुंजारसे लोगोको प्रसन्न कर रहे हैं पर यह बात सहसा समझमें नहीं आती कि उन्होंने एक 'विशेष प्रकारकी कविताकी सृष्टि की है' अथवा 'यह नए ढंगकी कविता' है। इसपर कुछ लिखनेके पहले मिस्टिक शब्दपर कुछ कहना आवश्यक है। पं० मथुराप्रसाद मिश्रके त्रैभाषिक कोषसे मिस्टिकका जो अर्थ सुकविजीने निकाला है, वह ग्राह्य नहीं हो सकता। बहुत-से शब्द ऐसे हैं जो विशेष अर्थमें रूढ़ि हो जाते हैं। उस अवस्थामें डिक्शनरी फिर सहायता नहीं दे सकती। बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हो सकती हैं, जो गूढ़ हों, गुह्य हों, जिनका अर्थ

गुप्त अथवा गोप्य हो, पर वह मिस्टिक नहीं हो सकती। प्रहेलिकाएँ, दृष्टिकूट इत्यादि ऐसी ही रचनाएँ हैं, पर उनसे 'मिस्टिसिज्म'-से कोई संबन्ध नहीं। हाँ, 'रहस्य' कुछ कुछ ठीक अर्थका द्योतक होता है। 'मिस्टिसिज्म' का अर्थ रहस्य-वाद भी कभी-कभी लोग करते हैं। पर, यदि 'छायावाद' नाम हिन्दीमें प्रयुक्त हो गया है, तो कोई हर्ज नहीं। 'छायावाद'का अर्थ जो कविजी कहते हैं कि 'किसी कविताके भावोंकी छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़े' कुछ हो सकता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि छायावाद इतना गूढ़ हो कि समझ में न आए। बहुत छायावादी कवियोंकी रचनाएँ ऐसी अवश्य हैं, जो भावुक हृदय वालेकी समझमें सरलतासे आ जाती हैं, बहुत-सी कठिन भी हैं। प्रसिद्ध बेलजियन कवि माटरलिंक छायावादके सम्बन्ध में कहता है—

"Those intuitions, grasps of guess,
Which pull the more into the less.
Making the finite comprehend
Infinity."

इसका भाव है कि हृदयकी शक्ति, जिससे मनुष्य विराट्को परिमित रूपमें अनुभव कर सकता है, जिसके द्वारा वह असीमको ससीम देख सकता है, वही मिस्टिसिज्म है। ऐसे ही भावनाओंसे भरी जो कविताएँ होती हैं, वही छाया-वादी कही जानेका दावा कर सकती हैं। छायावाद कोई सिद्धांत नहीं है, यह मनुष्यके मनकी एक अवस्था, एक भावना है। साधारण गद्य-भाषामें यही कहा जा सकता है कि ईश्वरका, जगत्के महान् प्रणेताके अस्तित्वका अनुभव सचमुच कर लेना ईश्वरको प्रत्येक मूर्तिमें, कण-कणमें देखना ही छायावाद है। जैसे भगवान् कृष्ण ने कहा है—

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ,
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विधिसात्त्विकं।"

सचमुच सबसे उच्च ज्ञान विभक्तमें अविभक्त और अनेकतामें एकता ही देखना है। इसमें कौन कवि सफल हुए हैं, यह तो आगे दिखाया जायगा। यहाँपर इतना बतलानेका अभिप्राय है कि यदि कविताका इतिहास देखा जाय, तो यह बात बिना प्रयास दिखाई देगी कि रवींद्र बाबूके अतिरिक्त कितने ही

और कवि भी छायावादके रचयिता होगए हैं। माटरलिंकका तो एक उदाहरण ही दिया गया है। योरपमें विलियम ब्लेक और वर्डस्वर्थ पूरे छायावादी कवि कहे जाते हैं। अँगरेज़ी छायावादियोंने छायावादके चार भेद माने हैं और उनमें शेली, रोजेटी, ब्राउनिंग, कोवेन्ट्री पेटमूर, कीट्स, वागन, वर्डसवर्थ, कालरिज, टेनिसन, ब्लेक इत्यादि-इत्यादि पचीसों कवियोंको किसी-न-किसी भागमें रक्खा है। सम्भव है, हिन्दी-विज्ञ पाठक पूछें कि क्या अँगरेज़ीमें सभी कवि छायावादी ही हैं। पर ऐसा नहीं है। 'रोमान्टिक' कालके अधिकांश कवियोंका रुझान अवश्य ही इधर रहा है। किसीका कम गंभीरताके साथ और किसीका अधिक। हाँ, पुरातन कालमें इने-गिने 'क्रेशा' या 'ब्लेक' ही ऐसे थे। यह कवि लोग रवीन्द्रबाबू से सैकड़ों साल पहले हो चुके हैं। फारसीमें मौलाना रूम, खुसरो, फरीदुद्दीन अत्तार, शम्सतब्रेज और हाफ़िज़ बड़े विख्यात मिस्टिक कवि हो गए हैं। इनके समय और ठाकुर बाबूके समयमें सदियों का अंतर है। इनकी कविताएँ भीं उदाहरण-स्वरूप दिखाई जा सकती हैं, पर अँगरेज़ी और फ़ारसीकी ऐसी कविताओंको हिन्दी-पाठकोंके सम्मुख रखना फ़िज़ूल है। जो सज्जन यह भाषाएं जानते होंगे, वह उन्हें पढ़ सकते हैं या उन्होंने पढ़ा ही होगा। उर्दू में, जहाँ शृगारी कवियोंकी भरमार है, वहाँ छायावादी कवियोंकी संख्या भी कम नह है। 'आसीकी' ग़ज़लकी कुछ पंक्तियाँ देखिये। इनमें छायावाद है या नहीं? और वह भी कितना सरल!

> "वस्ल है पर दिलमें अब तक जौक़े-ग़म पेचीदा है,
> बुलबुला है ऐन दरियामें मगर नमदीदा है।
> बेहिजाबी ये कि हर शैसे है जलवा आशकार,
> उस पै घूंघट यह कि सूरत आज तक नादीदा है।
> फ़ितना-ज़ारे हश्र सब कहते हैं जिस मैदान को,
> वो तेरी नाजे-निगहका गोशए-जुंबीदा है।"

पाठक स्वयं समझ लें कि रवींद्र बाबूने क्या कोई नवीन सृष्टि की है? शाय कविकिंकर महाशयका अभिप्राय हो कि भारतमें यह नवीन रचना है। उर्दू-कवितासे यह सिद्ध ही होता है कि भारतीय कवि ऐसी भावनाओंसे अपरचित न थे। बँगलामें, संभव है, उन्होंने नवीनता पैदा की हो, पर हिन्दीमें छायावादी

कवि पहले भी हो चुके हैं। सभी लोग जानते हैं कि कबीरने छायावादकी कविताएँ लिखी हैं। बहुतोंकी तो यहाँ तक धारणा है कि कबीरकी कविताओंका रवींद्र बाबूकी कविताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस विषयमें निश्चित मत तो वही दे सकता है जो बंगला और हिन्दी दोनोंका विद्वान हो, और इस विषयसे यहाँ कोई मतलब भी नहीं है। कबीरके यह दोहे छायावाद ही हैं या और कुछ—

उठा बगूला प्रेमका तिनका उड़ा अकास ;
तिनका तिनकासे मिला, तिनका तिनके पास।

* * *

सौ जोजन साजन बसै मानो हृदय मँझार ;
कपट सनेही आँगने, जानु समुन्दर पार।

* * *

यह तन वह तन एक है, एक प्रान दुइ गात ;
अपने जियसे जानिए, मेरे जियकी बात।

* * *

अथवा—

पिया मिलनकी आस रहौं कब लौं खरी ;
ऊँचे चढ़ि नहीं जाय मने लज्जा-भरी।
पाँव नहीं ठहराय चढूँ गिर-गिर परूँ ;
फिर-फिर चढहुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ।

* * *

अंतर पट दे खोल शब्द उर लाओरी ;
दिल बिच दास 'कबीर' मिलैं तोहि बावरी।

यही नहीं मीरा इत्यादिके काव्यमें भी छायावादकी झलक है। बिना अधिक ढूँढ़-खोजके एक पद उठाकर लिख दिया जाता है—

"कोई कछू कहै मन लागा।
ऐसी प्रीति लगी मनमोहन ज्यूँ सोनेमें सुहागा।
जनम-जनमको सोया मनुवाँ, सतगुरु सब्द सुण जागा।
मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गया ज्यूँ तागा;
'मीरा'के प्रभु गिरिधर नागर भाग हमारा जागा।

भक्त-कवियोंकी ऐसी अनेक रचनाएँ दिखलाई जा सकती हैं। विस्तार-भयसे और नहीं लिखी जाती हैं। दो उदाहरण और उपस्थित हैं। उन्हें पाठक पढ़ें और देखें कि हिन्दीके पुराने शृंगारी कवि भी इन भावनाओंसे दूर नहीं थे। यदि उस समयका समाज उन रचनाओंका आदर करता, तो वह भी सैकड़ों रचनाएँ कर सकते—

हौं ही ब्रज बृंदावन मोहींमें बसत सदा,
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीनकी;
चहूँ ओर सुन्दर सघन वन देखियत,
कुञ्जनमें सुनियत गुंजन अलीनकी;
बंसी वट तट नटनागर नटतु मोमैं,
रासके विलासकी, मधुर धुनि बीनकी;
भरि रही भनक बनक ताल ताननकी,
तनक तनक तामैं झनक चुरीनकी;

* * *

'देव' जिए जब पूछौं तौ पीर—को पार कहूँ लहि आवत नाहीं;
सो सब झूठ मते मतके बस मौन सोऊ सहि आवत नाहीं।
ह्वै नद संग तरंगनि मे मन, फेन भयो गहि आवत नाहीं;
चाहै कह्यो बहुतेरो कछू पै, कहा कहिए कहि आवत नाहीं।

'रसखन'की एक सवैया है, जिसके अंतिम दो चरण इस प्रकार हैं:—

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि, काल्हि कोई कितनो समुझैहै;
माईरी वा मुखकी मुसुकानि, सम्हारि न जैहै, न जैहै, न जैहै।

इन रचनाओं और ब्लेककी इन पंक्तियोंमें कितनी सदृशता है! विशेषतः देवकी कविताओंसे—

To see a world in a grain of sand
And a Heaven in a wild flower,
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

इन उदाहरणोंसे पाठक यह तो समझ गये होंगे कि रवींद्र बाबूने किसी नई सृष्टिकी कल्पना नहीं की है।

इन कविताओंमें सहोक्ति अलंकार भी नहीं, क्योंकि सहोक्तिका लक्षण अलंकार-शास्त्रकारोंने लिखा है कि संग, साथ इत्यादि शब्दोंके योगसे एकका प्रधान रूप अन्यके गौण रूपसे कथन हो। उससे छायावादसे कोई सम्बन्ध नहीं है। छायावादका मतलब यह नहीं है कि 'द्वयर्थक' कविता हो। संभव है, लोग समझते हों कि ऐसी कविताएँ जो प्रियतमपर भी और ईश्वरपर भी लागू हैं, वही छायावाद है। बात ऐसी नहीं है। प्रियतममें कवि ईश्वरको देखता है। उसे 'हर जर्रा दयारे नज्दका तसवीरे जानाँ' बन जाता है।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि पुरातन कालसे छायावादकी कविता होती चली आई है, तो पूर्व कालमें इस विषयपर इतनी प्रचुरतासे रचनाएँ क्यों न हुईं। आजकलही इस ढंगकी कविताओंकी ऐसी बाढ़ क्यों है? इसके अनेक कारण हैं। पहले भारतीयोंका ध्यान हिन्दीकी ओर उतना आकर्षित नहीं होता था। केवल अँगरेजी ही में लोगोंकी रुचि रहती थी। जब पाश्चात्य साहित्य का रसास्वादन करनेके पश्चात् इधर हिन्दी काव्यसागरमें डुबकियाँ लगाई गईं, तब लोगोंको सूर, तुलसी, इत्यादि रत्न तो हाथ लगे, पर साथ-ही-साथ मानव-शृङ्गारके घोंघे अधिक हाथ आये। ऐसी रचनाओंमें चमत्कार, प्रसाद, शब्द-योजना गुणोंके होनेपर भी भाव उच्च दर्जेका नहीं मिला। उधर कीट्स और शेली दिमागमें चक्कर काट रहे थे। साथ ही हम यह नहीं कहते कि रवींद्र बाबूका प्रभाव नहीं पड़ा। अवश्य पड़ा, पर कोरी उनकी नक़ल नहीं की गई है; क्योंकि बँगलासे अनभिज्ञ लोग भी ऐसी रचनाएँ कर रहे हैं।

असलमें कविता, काल और समाजका प्रतिबिंब है। आजकल संसारमें छायावादका बादल छाया है और इसीकी रसमयी बूँदोंसे संतप्त हृदयको शांति मिलनेकी संभावना है। माटरलिंक बेलजियममें, ईट्स आयरलैंडमें, राम्योरोल फ्रांसमें, जानवोयर और नुटहामसन-नारवेमें इसकी वीणाका झङ्कार कर रहे हैं। संसारकी प्रगतिमें भारत पीछे नहीं रह सकता।

छायावाद यह नहीं है कि अशोकपर लिखना है और सिकंदरकी चर्चा की जाय। छायावादी अशोक और सिकन्दरमें एक ही शक्तिका अनुभव करता है। सुकवि किंकरजी कहते हैं—"पर रवि बाबूकी गोपनशील कविताने हिंदीके कुछ युवक कवियोंके दिमाग़में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असंभवको संभव कर दिखानेकी चेष्टामे अपने श्रम, समय और शक्तिका व्यर्थ ही अपव्यय कर रहे हैं। जो काम रवींद्रनाथने चालीस-पचास वर्षों के सतत अभ्यास निदिध्यासकी कृपासे कर दिखाया है, उसे वे स्कूल छोड़ते ही कमर कसकर कर दिखानेके लिये उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कॉलेजोंमें रहते-ही-रहते छायावादी कवि बनने लग गए हैं।" कुछ आगे चलकर आपने कविके लक्षण दिये हैं, और इसकी विवेचनाकी है कि कौन कवि हो सकता है।

रीति-ग्रन्थोंमे कविके लक्षण दिए हैं, पर यह कहीं नहीं लिखा है कि उसकी इतनी आयु होनी चाहिए और वह कहीं पढ़ता न हो। किंकरजीके ही कहनेसे 'प्रतिभा' आवश्यक वस्तु है। 'भानु' जीके अनुसार 'यःकरोति काव्यं स कविः' सभी कवि हैं। कारलाइल कहता है—

At bottom clearly enough, there is no perfect poet! A vein of Poetry exists in the hearts of all men."

सुन्दर दृश्य, सुन्दर फूल, कोई सौंदर्यमयी वस्तु देखकर सभीका हृदय आनंदसे परिपूर्ण हो जाता है; शब्दोंमें अपने भाव रच सके या नहीं, यह और बात है। कविता हृदयसे संबंध रखनेवाली वस्तु है। कबीरकी शिक्षा कितनी हुई थी। आजकलके कितने ही कवि, जो खड़ी बोली या ब्रजभाषामें कविता करते हैं और जिनकी रचनाका साहित्य-समाजमें आदर है, पहले कितना पढ़े हुए थे। बाबू हरिश्चंद्रने पाँच सालकी आयुमें एक दोहा बनाया था। कीट्स २५ सालकी आयुमें मर गया और उसके पूर्व काफी कविताएँ लिख गया।

उसकी भी कोई विशेष शिक्षा न थी। वाल्मीकिने किसी गुरुकुलमें शिक्षा पाई थी अथवा नहीं; पर यदि लघुकौमुदी पढ़कर कविता करना आता है, जैसा किंकरजीके बहुत कुछ कहने-सुननेसे एक बालकने किंकरजीको वचन दिया, तब तो संस्कृतके सभी विद्यार्थियोंको कवि हो जाना चाहिए।

किंकरजी काव्य-प्रकाश-कारके मतानुसार कविताके उद्देश्य लिखते हैं। खेद है कि वे उद्देश्य मान्य नहीं हो सकते। कवि चाहे छायावादी हो, चाहे दूसरी शैलीका पर यदि वह सचमुच कवि है तो वह 'स्वान्त. सुखाय' ही कविता करता है—दूसरोंको रिझाने और प्रशंसा पानेके लिये कविता नहीं करता। वह सुन्दरता-प्रेमी है, इसलिये सुंदर रूपमें अपनी कविता छिपाता है। पूर्व समयमें पुस्तकें सिली हुई नहीं होती थीं और उनके पन्ने-पन्ने अलग रहते थे। अब पुस्तकें सुंदर जिल्दोंसे सुसज्जित बनती हैं, तो क्या अब वे पुस्तकें न रहीं? फिर क्या प्राचीन ढंगके कवि 'टेढी-मेढी और ऊँची-नीची पंक्तियोंमें' अपनी कविता नहीं छपवाते? इन बातोंसे और कवितासे कोई संबंध नहीं हो सकता। पुराने समयके कवियोंके पास प्रकाशनके ऐसे साधन न थे। उस समय अपनी कविताको पढकर दूसरेको सुनाना प्रकाशनका प्रचलित साधन था। पुराने कवि अपनी कविता दूसरोंको सुनाते अवश्य थे, यह भी एक प्रकारका प्रकाशन ही हुआ। यदि ऐसा न होता, तो कैसे संभव था कि 'धर्मांध आततायियोंसे उनका कुछ बिगड़ न सका, जलप्लावन और भूकंप आदिका ज़ोर भी उनका नाश न कर सका।' जब दूसरोंको सुनाया तभी तो 'पारखियोंने' उसे कंठ किया। साहित्यके स्थायित्वका सबसे बड़ा प्रमाण समय है। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी अभी तक हैं, क्योंकि वे उत्कृष्ट कवि थे। छायावादी कविताएँ कहाँ तक स्थायी रहेंगी, यह समय ही बतलाएगा। यह न समझ लेना चाहिए कि वे सभी कवि जो छायावादी बनते हैं, सचमुच छायावादी ही हैं। जो सचमुच अंतर्जगत्से छायावादी कवि हैं, उनका सदैव आदर होगा। रद्दी रचनावाले सभी स्थानोंमें, सभी समयमें पाए जाते हैं। क्या प्राचीन शैलीके सभी कवि सुंदर कविता करनेका दावा कर सकते हैं?

एक बात पर और दो शब्द कहकर दूसरी आवश्यक आलोचनाका उत्तर देनेका प्रयत्न किया जायगा। वह है 'उपनामोंकी लागूल' पर किंकरजीकी भर्त्सना। उपनामसे कुछ होता जाता नहीं, यह ठीक है। साथ ही यह भी ठीक

है कि पुराने कवि भी इसका प्रयोग करते थे और आजकल भी पं० अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध', पं० नाथूरामशंकरजी शर्मा 'शंकर', लाला भगवानदीनजी 'दीन' प्रभृति छायावादी कवि न होते हुए और उच्च कोटिके कवि होते हुए भी अपने नामके साथ उपनाम जोड़े रहते हैं।

किंकरजी आजकलके कवियोंको 'कवित्वहंता' बतलाते हैं और एक "कविताके विशेषज्ञ" जीका "हार्दिक उद्गार" कथन करते हैं—"आजकल जो हिन्दी कविताएँ निकलती हैं, उन्हे मै अस्पृश्य समझकर दूर हीसे छोड़ देता हूँ।" क्यों 'अस्पृश्य' समझते हैं यह नहीं बतलाया गया, इसलिये क्या कहा जाय। सुधारकोंकी सदा अवहेलना और उनका सदा विरोध करना यह स्वाभाविक नियम संसारमे चला आ रहा है। रवि बाबूका विरोध क्या नहीं हुआ ? डी० एल्० राय तकने किया। कीट्सने जब पहले अपनी पुस्तकें छपाई तब उनका विरोध हुआ। मैथ्यू आरनल्ड कीट्सके संबंधमें लिखते हैं—His first volume contained the Epistles....it had no success. It was mercilessly treated by Blackwood's Edinburgh Magazine, and by the Quarterly Review.

इसका यहाँ तक प्रभाव हुआ कि कुछ लोगोंके कथनानुसार उसकी मृत्यु हो गई। संभव हैं, इसमें अत्युक्ति हो, पर उसके दिलपर गहरी चोट अवश्य पहुँची। शेलीने तो लिख ही दिया—

The curse of Cain
Light on his head who pierced thy innocent breast,
And scared the angel soul that was his earthly guest.

आज कीट्सकी कविताका कितना आदर है, इसका कहना ही क्या। बर्नर्ड शाको ही लोग 'कवित्वहंता' और मूर्ख आदि उपाधियोंसे अलंकृत करते थे। आज साहित्य-समाजका वह मणि है।

पुनः यह प्रश्न सुकविजी उठाते हैं कि कविता क्या है और इस निश्चय पर आते हैं कि छायावादकी कविता कविता नहीं है। आप ठीक ही कहते हैं कि इस विषयपर आचार्यों और शास्त्रकारोंके मतोंमें भी भेद है। ठीक! आपने बहुत कुछ लिखनेके पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि

तीन मुख्य गुण कवितामें होने चाहिए। प्रसाद, चमत्कार और माधुर्य। फिर आप एक शास्त्री महाशयकी सम्मति, "जो सर्वथा ठीक है" उद्धृत करते हैं। शास्त्री महोदयकी सम्मतिसे आजकलकी रहस्यमयी या छायामूलक कवितासे तो 'चलो वीर पटुआखाली' अच्छी होती है। 'छायावादियोंकी रचना कभी-कभी समझमें नहीं आती। ये लोग बहुधा विलक्षण छंदों या वृत्तोंका प्रयोग भी करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छ पदे, कोई ग्यारह पदे, कोई तेरह पदे। किसीकी चार सतरें गज़-गज़ भर लम्बी, तो दो सतरें दो ही दो अंगुलकी! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखनेकी बहुधा कृपा करते हैं।'

छायावादके अच्छे कवियोंमें प्रसाद भी हैं, चमत्कार भी और माधुर्य भी। छंद-योजना भी सुन्दर है। बहुतसे प्राचीन ढंगके कवियोंमें इन गुणोंका समावेश नहीं है। इनका उदाहरण दिखला दिया जायगा, पर सदा प्राचीनताकी ही लकीर पीटना आवश्यक नहीं है। जो छद 'पिंगल'ने रच दिए, उसके अतिरिक्त भी छंद बन सकते हैं। प्रत्येक साहित्यमें जब जाग्रति हुई है तब पुराने आचार्यों के मत छोड़कर नई बात ग्रहण की गई हैं। जो नियम रचना-स्वातंत्र्यमे बाधा देते हैं, उनका त्याग कर देना बेजा नहीं है। अरस्तूने अपने पोएटिक्समें नाट्य-शास्त्रके कुछ नियम बना दिये हैं। रोम इत्यादिने उन्हीं नियमोंकी नकलकी, पर जर्मनी और फ्रास और इंगलैंडके शक्तिमय साहित्य ने उसकी अवहेलना कर दी। गेटे और विक्टर ह्यूगोने उन नियमोको उठाकर फेक दिया और नाट्य-कला-शिरोमणि शेक्सपियरने उसकी परवाह न की। सबकी यदि नहीं तो छायावादके उत्कृष्ट कवियोंकी कविताएँ, जिनकी पक्तियाँ छोटी बड़ी मालूम होती हैं, पूर्ण धारायुक्त हैं। तुक मिले या नहीं, पर पढ़नेमें मनोहर अवश्य हैं। कहींसे टूटती नहीं हैं। कुछ ऐसी हैं, जिन्हें कविताकी तरह नहीं पढ सकते। रवि बाबूकी अँगरेज़ीकी कविताएँ भी इसी ढंगकी हैं। क्या इन्हें सुकविकी कविता न कहेंगे? जिन्हे इच्छा है जोसेफ़ कैंवेल की (आयरिश) कविताएँ देखे और बताएँ कि एक पक्ति तीन शब्दकी और दूसरी पचीसकी क्यों है? "A poet is painter of soul" वह भावके आगे छंदोंमें बन्द नहीं रहता।

किंकरजीके विचारसे कविताका सबसे बड़ा गुण है प्रसाद। ऐसी दशामें जिस कवितामें सबसे बड़ा गुण प्रसाद नहीं, वह कविताही नहीं। अब नीचेकी रचनाएँ पढिए—

कुंज मगमें आज मोहन मिलो मोको वीर;
चली आवत थी अकेली भरे जमुना नीर।
गहे सारंग करन सारंग सुरन सँभारत वीर;
नैन सारंग सैन मो तन करी जान अधीर।
आठ रवि ते देख तत्र तें परत नाहि गँभीर;
अल्प 'सूर' सुजान कासो कहो मनकी पीर।

* * * *

केशव कहि न जाय का कहिए

देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।
सून्य भीतिपर चित्र रंग नहिं तनु विनु लिखा चितेरे;
धोए मिटइ न मरई भीति दुःख पाइय यह तनु हेरे।
रवि-कर-नीर वसै अति दारुन मकर-रूप तेहि माँही;
वदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै;
'तुलसिदास' परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै।

* * * *

मानसी पूजा मई 'पजनेस' मलिच्छन हीन करी ठकुराई;
रोके उदोत सबै सुरगोत, बसेरन पै सिकराली छिछाई।
जानि परै न कला कछु आजकी काहे सखी अजया यक लाई;
पोसे मराल कहौ केहि कारन एरी भुजंगिनी क्यों पोसवाई।

उपर्युक्त अवतरणोंको साधारण हिन्दी जाननेवाले अथवा वह लोग भी, जिन्होंने विश्वविद्यालयोंमें हिन्दी लेकर मैट्रिक्युलेशन अथवा इंटरमीजिएट पास किया हो, तत्काल पढ़कर समझ नहीं सकते। इन कविताओंमें माधुर्य है, चमत्कार है, पर प्रसाद नहीं है। यह कहना कि जिस कविताका अर्थ साफ न हो, वह कविता नहीं, अनुचित है। तुलसी, सूर और पजनेस कवि थे और अवश्य कवि थे। जहाँ रचना-गांभीर्यकी आवश्यकता थी, वहाँ उन्होंने वैसी ही रचना

की। किसी विषयके समझनेके लिये जब तक उसकेलिए अतर्बोध (Apperception) नहीं है, तबतक उसका समझमें आना असंभव है। विशेषत कविताकेलिए, वह भी छायावादकी कविता, जिसमें दिव्य विषयोंका ही समावेश रहता है। अगर प्रसाद ही कविताका मुख्य गुण है, तो ये पंक्तियाँ भी कविता हो सकती हैं—

खटियाका टूटा वाध है।
मेरा कौन अपराध है।

तुक मिलता है, मात्रा ठीक है, व्याकरण ठीक है, अर्थ समझमे आता है। इसी प्रकार शब्दोंमें चमत्कार होनेपर भी और मधुरिमा रहनेपर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह रचना कविताकी श्रेणीमें रक्खी जा सके। ब्रौनिंगकी अकसर लोग शिकायत किया करते है कि समझमें नहीं आती, पर उसकी गणना उत्तम कवियोंमें है।

विद्वद्वर वाबू श्यामसुन्दरदासके एक भाषणका अवतरण दिया गया है। आप कहते हैं—"छायावाद और समस्या-पूर्तिसे हिन्दी-कविताको बड़ी हानि पहुँच रही है। छायावादकी ओर नवयुवकोंका झुकाव है, और ये जहाँ कुछ गुनगुनाने लगे कि चट दो-चार पद जोड़कर कवि बननेका साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताका अर्थ समझना कुछ सरल नहीं हैं।.. पूज्य रवींद्रनाथका अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिन्दीमें हो रहा है।"

अर्थके बारेमें ऊपर कहा जा चुका है। यदि रवि बाबूका अनुकरण ही किया गया, तो क्या पाप हो गया। भली चीज़को अपनाना ऐब नहीं है। रह गया, अत्याचार हो रहा है, और कविताकी जान ली जा रही है, सो बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे उत्तरदायी व्यक्तिका ऐसा कहना उचित नहीं है। समस्या-पूर्ति बहुत प्राचीन समयसे होती चली आई है। भारतेन्दु बाबूके समय भी होती रही शायद इससे लाभ ही हुआ होगा। रह गया छायावाद। यदि छायावाद से अंगरेजी, बँगला तथा अन्य योरपीय भाषाओंमें लाभ हो रहा है, तो कोई कारण नहीं कि भारत ही ऐसा अभागा देश हो, जहाँ इससे हानि होनेकी संभावना है। सैकड़ों छायावादी कवियोंमें दो-चार तो उच्च श्रेणीके निकलेंगे कि नहीं? क्या प्राचीन प्रथाके सभी कवि सूर, तुलसी और देव हो गए या हो जाते

है? साहित्य-क्षेत्रमें भी योग्यतमकी विजय (Survival of the fittest) का नियम लागू होता है। यहाँ भी उत्तम श्रेणीका साहित्यही स्थायी हो सकता है।

कुछ ऐसे लोग अवश्य हैं, जिन्होंने यों ही ऊटपटांग लिखकर छायावादको बदनाम कर रक्खा है। ऐसे ही बनावटी कवियोंके उदाहरण सुकवि किंकरजीने दृष्टान्तमें उपस्थित किये हैं। प्राचीन शैलीवाले भी कितने ही ऐसे तुक्कड़ हैं, जिनकी रचनाएँ उच्च कोटिकी पत्रिकाओंमें छपती हैं और जिनके अर्थका कहीं भी पता नहीं रहता। पर ऐसे किसी व्यक्ति विशेषकी कविताको लेकर उसकी छीछालेदर करना यहाँपर अभिष्ट नहीं है। कौन हिन्दी साहित्यका विद्यार्थी नहीं जानता कि श्रीयुत लाला भगवानदीनने कविवर मैथिलीशरण गुप्तकी भारत-भारती की एक बृहत् समालोचना की थी। लाला भगवानदीनजीकी कविताओंकी आलोचना पं० नारायणप्रसादजी 'बेताब'ने कर डाली है। पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्यायके 'प्रिय प्रवासकी' कड़ी समालोचना पहलेके 'इंदुकी' फाइलोंमें पड़ी है। जब ऐसे महारथियोंपर लेखनी उठ चुकी है, तब आजकलके नवयुवक नवीन शैलीवाले कवियोंपर दया आती है। क्या लिखा जाय ? पर जो कुछ हो, दूसरोंके छिद्रान्वेषणसे कुछ लाभ नहीं है। छायावादी कवियोंकी रचनाओंमें गुण और सरसता है कि नहीं, अब यही दिखलाना है।

श्रीयुत बाबू जयशंकर प्रसादजीकी कुछ रचनाएँ पाठकोंके सामने हैं। यह लेखकने स्वयं उनके मुखसे सुनी थीं। उनके 'आँसूसे' यह ली गई है—

स्मृति

शशि मुखपर घूँघट डाले
अंचलमें दीप छिपाए ;
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।

*　　　*

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी ;
आँखों में काली पुतली,
पुतलीमें श्याम झलक-सी।

इसकी तुलना निम्न पंक्तियोंसे कीजिये, कितना भाव सादृश्य है—

He comes with western winds,
with evening's wandering airs,
With that clear dusk of heaven
that brings the thickest stars.

—Emile Bronte

फिर आप लिखते हैं—

मैं अपलक इन नयनोंसे
निरखा करता उस छविको;
प्रतिमा - डाली भर लाता
कर देता दान सुकविको।
प्रतिमा मे सजीवता सी,
बस गयी सुछवि आँखोंमें;
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखोंमें।

Emile Bronte फिर आगे लिखती हैं—

Winds take a pensive tone,
and stars a tender fire;
And visions rise, and change,
that kill me with desire.

रचना इतनी मनमोहनी है कि लेखक कुछ और अवतरण देनेका लालच संवरण नहीं कर सकता।

कामना - सिन्धु लहराता
छवि पूरनिमा थी आयी;
रत्नाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाईं।

रवीन्द्रनाथ टाकुर कहते हैं—

"The flute steals his smile from my friend's lips nd spreads it over my life."

—Fruit Gathering

लहरों में प्यास भरी थी,
थे भँवर पात्र भी खाली;
मानस का सब रस पीकर,
लुढ़का दी तुमने प्याली।

*　　　*

सोएगी कभी न वैसी,
फिर मिलन कुंज में मेरे;
चांदनी शिथिल अलसाई,
सम्भोग सुखों से तेरे।

*　　　*

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है;
रोई आँखों में निद्रा–
बनकर, सपना सोता है।

यदि इन पंक्तियोंकी कुछ आलोचनाकी जाय तो लेख और बढ़ जायगा। दूसरी बात यह है कि लेखकको श्री प्रसादजीकी कविताएँ अति प्रिय हैं। सम्भव है, उसे दोष न दीखते हों, इसलिए इनके देखनेका भार दूसरोंपर, विज्ञ-साहित्य-मण्डल, सहृदय-कवि-समाज, समालोचक-गणपर ही छोड़ दिया जाता है। वही न्यायसे उसका निश्चय करें। इनमें प्रसाद, माधुर्य और चमत्कार है कि नहीं, इसकी तुलनात्मक आलोचना तनिक कटु मालूम पड़ती है, नहीं तो कहा जाता कि आजकल कितने ही श्रेष्ठ कवियोंसे, जिनकी रचना कोर्सकी पुस्तकोंमें आ गयी है, अच्छी और बहुत अच्छी है। पर केवल 'प्रसाद' जी ही छायावादी कवि नहीं हैं। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जीकी 'यमुने' की कुछ पंक्तियां पढ़िये—

मुग्धाके लज्जित पलकों पर
तू यौवनकी छवि अज्ञात;
आँख मिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ।
किस अतीत-सागर सगम को
बहते खोल हृदय के द्वार;
बोहित के हित सरल अनिल से
नयन-सलिल से स्रोत अपार।

कितनी सरल, उच्च, भावपूर्ण उपमाएं हैं। कटि और नितंव और कुच वाले कवियों को इसमें सिवाय नीरसता और शुष्कता के और क्या दिखाई देगा?

और भी छायावादी कवियोंकी कृतियाँ हैं। सु दर हैं। बिना उन्हें पढ़े केवल देखकर नाक-भौ चढ़ानेसे और उन्हें 'अस्पर्श्य' समझकर छोड़ देनेसे क्या पता चलेगा? हाँ, इन रचनाओंमें यमक और अनुप्रासको ध्यानमें रखकर भावकी हत्या नहीं की गई है। कविता समझने और उसका आनन्द लूटनेके लिये हमारा हृदय रसपूर्ण होना चाहिये। कविके शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि

"To know
Rather consists in opening out a way
Whence the imprisoned splendour may escape,
Than in effecting entry for a light
Supposed to be without."

—Browning

संवत् (१९८४ वि०)—

हिन्दीके नवयुवक कवि और छायावाद

साहित्य प्रांगणमें जीवनकी उषाकी स्निग्ध लालिमा जबसे छिटकी है, स्वभावतः जाग्रतिकी जगमग ज्योति चारों ओर दिखलाई देती है। इस जाग्रति-के समय मानव-समाज जिन भावोंसे स्थापित हुआ है, उसकी अनुभूति युवक हृदयने सबसे अधिक की है। कारण यही कि बीसवीं सदी युवकोंका युग है। यौवन मदिरा है। मदिरामें नशा होता है, नशामें उत्साह होता है, उत्साह जीवन है। जिस मादकताकी तरंग युवक हृदयमें हिलोरे ले रही है, जिस पीड़ा-से युवक हृदय व्यथित है, उसीका चित्रण छायावादके नामसे पुकारा जाने लगा है।

छायावाद शब्दकी जितनी छीछालेदर हिन्दीमें हुई है, उतनी कदाचित और किसी शब्दकी नहीं हुई है। जिस प्रकार हमारे गौरांग प्रभु बमका नाम सुनकर चौक जाते हैं, उसी प्रकार छायावाद शब्दसे हिन्दीके कितने विद्वान घबरा उठते हैं। प्लेगके कीटाणुओंसे अधिक नवीन कवितासे वह डरते हुए प्रतीत होते हैं। उनपर दोप देना अनुचित है। यह प्रश्न कविताका नहीं है, यह प्रश्न कालका है। जिस कालके वह फल हैं, जिस वातावरणमें उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई है, उससे सम्भव नहीं कि उनकी विचारधारा अपनी गति-परिवर्तन कर सके यह प्रश्न यौवन और जरावस्थाका है। दोनोंके विचारोंका समन्वय कठिन है। हमें खेद इतना है कि जिस सहृदयताकी उनसे हमें आशा थी वह हमे प्राप्त न हुई। बल्कि हम यहाँ तक कहनेकी धृष्टता करेंगे कि अनेक अनुदार विद्वान ऐसे हैं कि वह नवीन शैलीकी रचनाएँ पढ़ने तकका कष्ट नहीं उठाते। उन्होंने

ऐसी धारणा कर ली है कि यह रचनाएँ निरर्थक, रसहीन, कटु तथा संज्ञाहीन होती हैं। इनमें न प्रसाद है, न माधुर्य। इसका क्या कारण है, यह आगे बतलानेकी चेष्टा करेंगे; पर यह ठीक है कि प्राचीन शैलीके पक्षपाती ऐसा ही विचार करते हैं।

छायावाद क्या है? इसपर अनेक भाषाओंमें महत्वपूर्ण विवेचन हो चुका है और होता जा रहा है। हमारी हिन्दीमें भी इधर इस पर कुछ प्रकाश डालनेकी चेष्टा की गई है। पर अभी जितना विवेचन होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। छायावादका जो अर्थ मैंने समझा है, वह है ससीममें असीमकी, अनुभूति*। परिमितमें अमितका अनुभव। निश्चय ही प्रत्येक मानव हृदय इतना विकसित, इतना प्रांजल नहीं होता कि वह ऐसा अनुभव कर सके। इसलिये सब लोग छायावाद लिख नहीं सकते। यही विचार रवि बाबूका है। यद्यपि मैं यूरपवालोंके कहनेको वेद वाक्य नहीं मानता; पर प्रसिद्ध भावुक कवि माटरलिंकने Mysticism की यही व्याख्या की है। आप कहेंगे, जब यह बात है, तब क्या हिन्दी के नवयुवक कवि इस दर्जेको पहुँच गए हैं, क्योंकि निन्नानवे फीसदी हिन्दीके नवयुवक कवि छायावादी होते हैं। बात असलमें यह नहीं है। आजकलके हिन्दीके कवि चार भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एक प्राचीन ढंगके रचयिता, जिनमें हमारे गुरुवर, साहित्य मर्मज्ञ और प्रसिद्ध साहित्य सेवियोंका नाम आ सकता है। दूसरे वह जो सचमुच छायावादी कवि हैं। मेरे विचारसे ऐसे कवियोंकी सख्या परिमित है। तीसरे वह जिन्हें हम 'हृदयवादी' कह सकते हैं। उनका हृदय यौवनकी भावनाओंसे छलाछल भरा रहता है। वह पुष्पमें, पेड़में, झीलमें, चाँदमें, तारोंमें, कुंजमें, कुमुदमें प्रेमका विराट स्वरूप देखता है। चतुर्थ वह कवि हैं, जिन्हें अंग्रेजीमें (सूडो-मिस्टिक) मिथ्या

यह लेख अष्टादश हिन्दी साहित्य सम्मेलनके अवसरपर मुजफ्फरपुरमें पढा गया था।—लेखक

* निश्चय ही जब यह लेख लिखा गया था, छायावाद उसी अर्थमें समझा जाता था, जिस अर्थमें आज (१६५६ में) रहस्यवाद समझा जाता है। मैंने उस कालकी विशुद्ध छायावादी रचनाको रहस्यवादी अर्थमें ही लिया था।

छायावादी कह सकते हैं। उनकी अनुभूति कुछ नहीं, जिनकी भाषामें प्रवाह नहीं, जिनके भावमें स्नेह नहीं, जिनका हृदय दग्ध नहीं। दूसरोंकी देखा देखी कुछ एक छंदोंका संयोजन कर लेते हैं।

खेद है कि अन्तिम कवियोंको भी छायावादीकी श्रेणीमें लोग गिनते हैं। यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह नासमझी है, पर हृदयहीनता अवश्य है। यह भी ठीक है कि अंतिम श्रेणी वालोंने नवयुवक कवियों और कविता-को बहुत बदनाम किया है। पर सभी साहित्योंमें सुन्दर रचनाओंके साथ साधारण या बुरी रचनाएँ निकलती ही हैं। पारखियोंका काम यदि विशेष कुछ नहीं तो कम से कम परीक्षा करना अवश्य ही है। यहाँ तो पत्रोंमें नाम देखा, और नाक भौं सिकोड़ ली। पढ़नेका कष्ट तक नहीं उठाया जाता। मैं दो एक उद्धरण देता हूँ। इन कविताओं को लोग छायावादके नामसे पुकारते हैं। इन रचनाओंका युवक समाज तो अवश्य आदर करता है; पर खेद है, हमारे प्राचीन ढंगके साहित्यिकोंने इनकी उपेक्षा ही नहीं की, बल्कि इन पर कटूक्तियोंका क्रूर प्रहार भी किया। प्रेमकी स्मृतिमें कवि कहता है—

सुख आहत शांत उमंगें
बेगार साँस ढोनेमें;
यह हृदय समाधि बना है
रोती करुणा कोने में।
अभिलाषाओंकी करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना;
सुख का सपना हो जाना,
भींगी पलकों का लगना।
उच्छ्वास और आँसू में,
विश्राम थका सोता है;
रोई आँखो में निद्रा
बनकर सपना सोता है। (प्रसाद)

इसकी कल्पना देखिये, तरलता देखिये, विदग्ध हृदयके तप्त आँसू देखिये और आप प्राचीन ढंगकी कविताओंमें 'मैनके मरोरः', 'नासिकाका नृत्य',

'त्रिवलीकी रेखाएँ' तथा तिलका 'शालग्राम' होना देखिए। पद्माकरजी लिखते हैं—

ये अलि या वलि के अधरान मैं
आनि चढी कछु माधुरई सी।
ज्यों पद्माकर माधुरी त्यों कुच
दो उनकी चढती उनई सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितंव चढ़े
कछु ज्यों ही नितंव त्यों चातुरई सी,
जानि न ऐसी चढा चढी मैं
किहि धौं कटि बीच ही लूटि लई सी।

कल्पना अवश्य है; पर कैसी है, उसकी व्याख्या करना व्यर्थ है। पुराने कवियोंको मैं अश्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देखता। सूर, तुलसी, कबीर, रैदास आदि कितने ऐसे कवि हैं जिनके रसास्वादनसे पेट नहीं भरता। पर यह कहना ही पड़ेगा कि सूर, तुलसी, मीरा, आदिको छोड़कर—भाषा की चाहे जो उन्नति इन कवियोंने की है—स्थूल प्रेमकी ही चर्चा इन्होंने अधिक की है। अधिकाश इनमेंसे हृदयके भीतर घुसने ही नहीं पाये।

यह दोष आजकलकी नवीन कविताओं पर लगाया जाता है कि यह रवि वावू इत्यादिकी नकल है। यह अनुदारता है। यह सम्भव है, और ठीक है कि रवि वावू, शेली, कीट्स, आदिकी रचनाओंसे नवयुवक कवियोंका हृदय उद्वेलित हुआ हो; पर उनकी नकल कहना अनुचित है। इन कवियों और रवि वावू तथा योरोपियन कवियोंमें सादृश्य इसलिये है कि नवयुवक चाहे मुजफ्फर-पुरमे हो या मास्कोमें, बनारसमें हो या बर्लिनमें, एक ही प्रकार हृदयमें अनुभव करता है। जिस असंतोषकी प्रचड घनघोर घटा योरपमें छाई है, जिस प्रकार बंगाली नवयुवक भविष्यकी आशाका स्वप्न देखते हैं, इसी प्रकार हिन्दी लिखने वाले युवक भी। इनके हृदयमें भी वही स्पंदन है, इनकी वीणा में भी वही झनकार है। विद्वान पडितवर यदि थोड़ा भी कष्ट उठायें, तो देख सकते हैं कि प्राचीन कवि लोग भी, जिनके हृदयमे यौवन का उत्साह था और जिनका हृदय विराट प्रेमके रंग रँगा था, कहीं कहीं वैसा ही लिख गये हैं, जैसे रसखान का यह पद—

"माई री वा मुखीकी मुसुक्यानि सँभारि न जैहै, न जैहै, न जैहै।"

यदी आज कोई लिखता, तो हमारे गुरुजन पूछते—"मुसुकानि सँभारि न देई" का क्या अर्थ है? देवकी भी कुछ कविताओंमें प्रेमका यह रूप आता है। कबीरको तो बहुत लोग छायावादी कवि ही मानते हैं।

फिर जब प्राचीन कविगण ऐसी कविता करते थे, तब आजके युवकोंने क्यों लोग बिगड़ खड़े होते हैं? बात असलमें यह है कि प्राचीन परिपाटी जब तोड़ी जाती है, तब ऐसा ही वावेला मचता है। जब पुरानी ब्रजभाषाको छोड़कर खड़ी बोलीमें कविता आरंभ हुई, तब भी ऐसा ही रोना आरम्भ हुआ था। पूज्यवर द्विवेदीजीके अथक परिश्रमसे तथा अन्य उत्साही सज्जनोंकी दृढ़तासे समर विजय हो गया। उर्दू कवियोंने प्रणाली बदल दी। जहाँ कमर-पर तथा ख़ालपर लोग लट्टू थे, वहाँ तअल्लुक़के गिरदावमें लोग गोते मार रहे हैं। असग़र और नयाज़के आगे अब दाग़को कौन पूछता है। पर हममें अभी यह दोष लगाया जाता है कि पिंगल नहीं पढ़ा, रीतिग्रन्थ नहीं पढ़ा, नायिका भेद नहीं पढ़ा; रबर छन्द लिखता है, केचुआ छन्द लिखता है, इत्यादि। पढ़नेका कौन विरोधी हो सकता है, पर यह मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि कवि पिंगल और अलंकारसे बाध्य नहीं—उनके न पढ़नेसे भी उसका काम चल सकता है। शेक्सपीयरने (Prosody) के ग्रन्थ और Rherotic की Encyclopaedia नहीं पढ़ी थी। मीरा, रैदास, कबीरने साहित्य दर्पण और रसगंगाधर नहीं घोटा था। पर देखिये, इनकी रचनाओंमें कविता है, और वे निस्सन्देह कविताएँ हैं।

हाँ नवीन भावोंको व्यक्त करनेके लिए नवीन शब्द योजना आवश्यक है। यदि आज वीणा और विपंची, स्पंदन और झनकार शब्द छायावादियोंके हैं, तो पहलेवालोंके कुन्द, केश, कालिन्दी, कुच इत्यादि हैं। यह कहना कि उनमें अर्थ गौरव नहीं है, अन्याय है। सुनिए—

"तू फिर निस्तृति की वीणासे
उठ उठाकर पागल झंकार,
उद्गारों उफना-उफना
गौन रो श्रुतिके उद्गार
उगल प्रेम-सी स्वरोंमें
किसी क्षितिज के पार,

लघु लहरोंके मधुर स्वरोंमें
किस अतीतका गूढ विलास।" (निराला)

इसमे क्या नहीं समझमें आया, मैं नहीं कह सकता।

जुटते और टूटते जगके
नाते स्वप्न-सरीखे;
नहीं चहता मैं उनको
वे लगते मुझको तीखे।
मिलन रात्रिके चिर चुम्बनसे,
मम सम्बन्ध निराला;
केलि रूदनमे मैं जलकर हूँ
करता मधुर उजाला। (लक्ष्मीनारायण मिश्र)

अन्तर्जगतकी विषम वेदनासे जला हुआ चित्त है, जिसकी चमकमें कितनोंका काला दिल उज्जवल हो सकता है। सैकड़ों उद्धरण दिये जा सकते हैं—

हमारे नवीन और युवक हृदय सौंदर्यके उपासक हैं। उनके लिए, "A thing of beauty is joy for ever." "Beauty is truth, truth beauty" है। सत्यं शिव और सुन्दरंकी व्याख्या ही उनका मूल मंत्र है। यही उनकी कविताओंके भीतर छिपा हुआ है। प्रकृतिके प्रफुल्ल वदनका ज्योत्स्ना पूर्ण हास उनके हृदयकी गतिका परिचालक है। प्रेमका विराट रूप, घट-घट व्यापी परमात्माका कण-कणमे अस्तित्व देखना ही सच्चे सहृदय नवयुवक कवियोंका ध्येय है। प्राचीन ढङ्गकी भी कविताओंपर फिदा होनेवाले पूज्य साहित्य सेवियोंसे हमारा विनम्र निवेदन है कि यही भाव लेकर यदि फूटी आँखसे भी वह जरा यौवनकी तरल तरंगोसे भरी रचनाएँ पढ़ ले, तो फिर मुझे विश्वास है कि उनके बूढ़े हृदयमें भी गुदगुदी पैदा होने लगेगी।

सं० १९८५ वि०

प्रसादजीके उपन्यास

प्रसादजी कवि थे। उपन्यास भी कविताका ही एक रूप है। उनके हृदयमें कविता देवीकी मूर्ति इस स्थिरतासे स्थापित थी कि उनकी सभी कृतियोंमें चाहे वह गीति-काव्यकी कुछ पंक्तियाँ हों, नाटकका एक दृश्य हो अथवा औपन्यासिक चरित्र चित्रण हो वह झाँक-झाँक पड़ती थी। अपनी जीवन-यात्रामें उन्होंने प्रत्येक मील-स्तम्भको अपने विशिष्ट दृष्टिसे परखा था। प्रत्येक क्षणकी अनुभूति निराले ढंगसे की थी। प्रसादजीकी कला-प्रतिमा यदि अलंकारों और वस्त्रोंको हटाकर देखीजाय तो सत्यका ही स्वरूप है। कभी-कभी जैसे, 'कंकाल'में, वह बड़ा भीषण है, परन्तु उसका उत्तरदायी रचयिता प्रसाद नहीं है। सत्य स्वयं, परम सत्य सुन्दर ही है कि असुन्दर भी, मैं नहीं कह सकता, मेरा कभी साक्षातकार नहीं हुआ। भगवान्‌ने गीतामें जहाँ अपना परिचय दिया है वहाँ 'वित्तेशोयक्ष रक्षसाम', 'प्रह्लादश्चास्मि दैत्याना', 'मृगाणांच मृगेन्द्रोहम्', 'वैनेतेयश्च पक्षिणाम' सब सुन्दर वस्तुएँ अपने लिए खोज ली हैं। भगवान् सुन्दरताके इतने बड़े प्रेमी हैं तब असुन्दरताके लिए भी कोई स्थान उनके पास है कि नहीं मैं नहीं कह सकता। केवल बेचारे कवियोंके लिए उन्होने कहा 'कविनामुशना कवि' अर्थात् कवियोंमें मैं शुक्राचार्य कवि हूँ।

परन्तु इस संसारमें तो भीषणता तथा असुन्दरता भी कम परिमाणमें नहीं है। वह सत्य नहीं है, यह कहनेका मेरा साहस नहीं है, मै इतना बड़ा दार्शनिक नहीं हूँ। जिसकी अनुभूति हमारी इन्द्रियों द्वारा होती है, हम साधारण व्यक्तियोंके-लिए वह भी सत्यका ही एक स्वरूप है। सुन्दरता और असुन्दरता सत्यके दोनों स्वरूपों का चित्रण प्रसादजीके उपन्यासोंमें पाया जाता है।

कथानक—कवितामें प्रसादजी आन्तरिक स्वरूपमें अधिक हैं। जहाँ उन्हें वाह्य रूप भी लिखना पड़ा है वहाँ भी आन्तरिकता प्रवेशकर गयी है। नाटकोंमें उन्होंने अधिकाश अपना प्रासाद इतिहास की नींवपर खड़ा किया है। उन्होंने तीन उपन्यास लिखे। 'कंकाल' और 'तितली' तो संसारके सम्मुख आ चुके हैं। तीसरा 'इरावती' अधूरा छोड़कर वह संसारको भी छोड़ गये।

कंकालकी कथावस्तु बहुत पुष्ट नहीं है। यह घटना-प्रधान उपन्यास है। बहुत-सी घटनाएँ घटती हैं। यद्यपि उनके कर्ता अथवा भोक्ता किसी-न-किसी प्रकार कभी-न-कभी एक दूसरेसे सम्बन्धित हो जाते हैं। देवनिरजन और किशोरीकी एक कथा है, मगल और ताराकी एक कथा है। इन दोनों कथाओंका क्रमश· विकास किया गया है। और जैसे एक कुशल चित्रकार दो रंगोंको मिलता है, एक दूसरेसे मिलाये गये हैं। इनके भीतर तीन उपकथाएं घंटो और विजयकी, वाथम और लतिकाकी तथा गाला गूजरकी समाविष्ट हैं। इन तीनोंको भी एक दूसरेके साथ और दोनों मुख्य कथाओंके साथ इस प्रकारसे लेखकने बाँधा है कि यह एक शरीरके ही विभिन्न अग हो गयी हैं। एक दूसरेका सम्बन्ध घटना-चक्र द्वारा होता है। सारी कथा एक कथानकका विकास नहीं है। 'तितली' एक ग्रामका चित्र है। इसमें एक ग्रामके दो प्राणियोंके चारों ओर सारा चक्र घूमता है। वंशी और मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसकी नायिका और नायक हैं। तितलीका स्वभाव ही मधुवनमें थिरकना और नृत्य करना है। और सभी पात्र इस नृत्यके दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी, अनवरी इत्यादि नगरसे आते हैं और नगरको लौट जाते हैं। उनमे नागरिकता है। इस उपन्यासमे कथानक एक ही है। उसीके विकासमें और पात्र सहायता देते हैं। यों तो किसी उपन्यासमें घटनाओंका प्रभाव पड़े विना कथाका विकास हो ही नहीं सकता, किन्तु, 'कंकाल' में घटनाओंकी प्रधानता है, कथावस्तुकी नहीं। 'तितली'में कथाका प्रधान्य है। यह कहा जा सकता है कि 'कंकाल' का कथानक घटनाओंसे बना है, तितलीकी घटनाएँ कथानकसे बनी हैं।

चरित्र-चित्रण—प्रसादजी अपने उपन्यासोंमें आदर्शवादी नहीं हैं। उनके पात्र सजीव प्राणी हैं। देवनिरंजनसे कितने कर्मनिष्ठ तपस्वी सौंदर्यकी स्निग्धतापर मनुसे लेकर आज तक फिसलते आये हैं और किशोरी-सी कितनी किशोरियाँ सन्तान-लिप्सामें जीवनकी उस राहमें पाँव रखती हैं, जिसे समाज पतन कहता है। मंगलसे कितने युवक हमारे आपके बीच मंगल करनेको उद्यत होते हैं परन्तु समाज उन्हें बढने नहीं देता और वह अमंगल हो जाते हैं। श्रीचन्द्रसे कितने व्यव-

-सायी हमारे समाजको अलंकृत करते हैं, जो धन एकत्र करना और विलासको ही जीवनका ध्येय समझते हैं। वाथम ऐसे ईसाई व्यापारी अब भारतवर्षमें संभव है कम दिखायी देते हों (क्योंकि ईसामसीहकी भेड़ोंके उपयुक्त इस देशमें घास कम मिलती है) परन्तु कुछ ही दिनों पहले वाथम ऐसे ईसाई भारतवर्षके प्रत्येक नगरमें ही नहीं, गाँवमें भी घुसे दिखाई देते थे। जिनका काम भूले हुओंको ईसाके नाम पर ईसाई मतमें प्रवेश करा देना और किसी-न-किसी प्रकार धनोपार्जन करना था। इस प्रकार 'कंकाल'के सभी पात्र हमी आपमेंसे लिये गये हैं। उनका जीवनभी मनुष्यों का ही जीवन है। कोई असाधारण व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ते। गोस्वामी अवश्य ऊँची श्रेणीके व्यक्ति हैं। ऐसे व्यक्तियोंका भी अभाव नहीं है, देशमें कम भलेही हों। और 'कंकाल'में भी एकही गोस्वामीजी हैं। घंटी और गालाका चरित्र अवश्य कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है परन्तु जिस वातावरणमें वह पायी जाती हैं उसमें ऐसा हो जाना असम्भव नहीं है।

'तितली'में जो पात्र चित्रित किये गये हैं वह भी स्वाभाविक हैं। इन्द्रदेव, माधुरी, स्वरूपकुमारी, मधुवन, अनवरी, मैना, राजकुमारी सब चलते-फिरते व्यक्ति हैं और पग-पगपर हमारे समाजमें मिलते हैं। 'कंकाल'के गोस्वामीजीके प्रतिनिधि 'तितली'में वनजरियावाले बाबाजी हैं। जहाँ तक समझमें आता है, महात्मा गान्धी इन दोनों चरित्रोंकी सृष्टिके मूलमें हैं। जिस युगमें यह उपन्यास लिखे गये हैं वह महात्मा गान्धीका अभ्युदयकाल है और गोस्वामीजी और बाबाजी महात्माजीके स्पष्ट प्रतिनिधि हैं। पहले आध्यात्मिक और दूसरे सामाजिक।

इन दोनों उपन्यासोंमें चरित्रोंका क्रमशः उत्थान नहीं दिखाया गया है। यह तो लेखक उस समय करता है जब उसे आदर्श उपस्थित करना होता है। जिस रूपमें मनुष्य आज हमारे समाजमें पाया जाता है उसी रूपमें उन्हें लेखक ने इन पुस्तकोंमे व्यक्त किया है। अपवादों को छोड़ दीजिए उपन्यास अपवादों की सूची नहीं होते। अपवादोंको यदि छोड़ दें तो संसारमें मनुष्य पतनकी ओर अधिक उन्मुख है। हमारी स्त्री जाति अपने हृदय की दुर्बलताओंका शिकार है और मनुष्यके स्वार्थकी क्रीड़ा। प्रसादजीके चरित्रोंकी विशेषता यह है कि वह अतिरंजित नहीं हैं। उन्होंने चित्रकारी नहीं की है, फोटोग्राफी की है। प्लेटपर जो जैसा रहा है, वैसा उतार दिया है। किसी-किसी चित्रके ऊपर रंग भी चढ़ा दिया गया है। यह दोनों पुस्तकें वर्तमान हिन्दू समाजके यथार्थ चित्रण हैं।

परन्तु प्रसादजीका यथार्थवाद, 'अल्ट्रारियलिस्ट' लेखकोंकी भाँति शिष्टताकी सीमाके परे नहीं है। एक मर्यादाके भीतर है।

युगका प्रभाव—ऊपर मैं कह चुका हूँ कि प्रसादजीके सभी चरित्र समाजसे लिये गये हैं और वह आधुनिक समाज है। आज जिस अवस्थामे हिन्दू नर-नारी हैं, उसीका प्रतिबिम्ब है। अपने नाटकोंमें प्रसादजीने प्राचीन भारतकी महत्ताका दिग्दर्शन कराया है। उपन्यासोंमें अर्वाचीन भारतके जीवनके स्पष्टीकरणकी चेष्टा की है। हमारा स्त्रियोंके प्रति भाव और व्यवहार, देशमें मदिरों और मठोंकी अवस्था, पूजा-पाठका ढोंग, विवाहादि संस्कारोंका पतन, जो भी इस समय देशकी स्थिति है उसीको लेकर इन उपन्यासोंकी रचना की गई है।

आज समाजमें एक असन्तोष-सा फैला है। आज लोग सोच रहे हैं कि सुधारके लिए संगठनकी आवश्यकता है कि नहीं, निरंजनके शब्दोंमे वर्ण भेद सामाजिक जीवनका क्रियात्मक विभाग है अथवा ईश्वरप्रदत्त कुछ ऐसी वस्तु जो अमिट है। नारी और पुरुषके सम्बन्धका 'एकमात्र समझौता' विवाह ही है कि और कुछ। विवाहके लिये दो हृदयोंका सच्चा आदान-प्रदान ही पर्याप्त है कि विशेष रूपसे वेदीपर बैठकर मंत्रोच्चारण आवश्यक है। लोगोंमें भगवानके प्रति श्रद्धा और अश्रद्धाका द्वन्द्व चल रहा है। प्रेम सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न जो समाजके हृदयमें हलचल मचा रहे हैं उन्हें भी इन उपन्यासोंमें व्यक्त किया गया है।

यह कहना मूर्खता होगी कि प्रसादजीने इन सब प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दिया है अथवा सब समस्याओंकी यथोचित मीमासा की है। समाजकी अधिकाश समस्याएँ निल्य हैं। जो अलग-अलग युगमें अलग-अलग रूप धारण करके आती हैं। उस युगके अनुसार लोग उसके निराकरणका प्रयत्न करते हैं। प्रसादजीके एक नाटककी आलोचना करते हुए स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्दने 'माधुरी'मे लिखा था कि इन पुरानी बातोंसे देशका क्या कल्याण होगा, गड़ा मुर्दा उखाड़नेसे क्या लाभ? मैं इस मतसे सहमत नहीं हूँ। प्राचीनताकी ही नींवपर तो वर्तमान खड़ा है। फिर स्वयं मुंशीजीको भाँति सोचनेवालोंके लिए यह दोनों उपन्यास हैं। जिसमें समयके गतिके साथ-साथ चरित्र चलते हैं। यद्यपि मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि 'कंकाल' में भी भगवान कृष्ण हीको आदर्श माना है (मार्क्स लेनिन या आगा खाँको नहीं।)

ग्रामीण जीवनका चित्रण—प्रसादजीका जीवन अधिकांश नगरमें

बीता था। इधर हमारे देशमें राजनीतिक कारणोंसे तथा आर्थिक कुव्यवस्थाके कारण नेताओंकी दृष्टि बदली। आवाज उठी कि ग्रामोंको सुधारना आवश्यक है। 'तितली' इसीकी प्रेरणा है। परन्तु 'तितली'के अधिकांश पात्र नगर निवासी हैं। उन्हें अपने ग्रामसे प्रेम है, उसमें सुधार करना चाहते है, उसकी अवस्थाकी उन्नति करना चाहते हैं, किन्तु ग्राम-हृदय उनमें नहीं है। ग्राम-जीवन का चित्रण पूर्ण रूपसे तब होता जब इसके सब पात्र मधुवन, तितली और राजकुमारी के समान ग्रामहीके होते। वहीं वे जनमे होते, वहीं उनका जीवन बीता होता, तब उनमे ग्रामकी आत्मा बोलती। प्रतीत यह होता है कि इस पुस्तकमें ग्राम जीवनका चित्रण उतना अभीष्ट नहीं था जितना ग्रामकी समस्याओंके चित्रण का। यदि ग्राम-जीवन इस पुस्तकका आदर्श रहा तो सफलता नहीं मिली। यदि इस उपन्यासमें लेखकने उन समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न किया है जो बीसवीं शताब्दीमें गावोंमें प्रस्तुत हो गयी हैं तब लेखक अपने ध्येयपर पहुँचा है। परन्तु इन्द्रदेवके, हैमलेटकी भाँति "टु बी आर नाट टू बी" के जीवनने, और विधिवश शैलाके पिताके घटनास्थलपर पहुँच जानेसे ग्रामसुधारका कार्य विलुप्त प्रायः हो गया। इसमे मधुवनका चित्र ग्रामीण निवासीके रूपमें बहुत सच्चा उतरा है।

सम्वाद—उपन्यासोंमे सम्वाद बड़े महत्वकी वस्तु समझे जाते हैं। इनसे पात्र सजीव हो जाते हैं। प्रसादजीके उपन्यासोंमे सम्वाद उपयुक्त, ओजपूर्ण, समयानुकूल तथा स्पष्ट है। एक बात अवश्य खटकती है कि 'कंकाल'मे विशेषतः प्रसादजीके सब पात्र दार्शनिक हैं। चाहे शास्त्रोंके अध्ययन करने वाले मनीषी गोस्वामीजी हों, अथवा समाजसुधारका सपना देखने वाला मंगल हो, वृन्दावन की कुंज गलियोंमें अट्टहासकी ध्वनि फैलाने वाली घंटी हो, या कान्तारकी छाया मे विलसने वाली कमनिया वाला गुजरवाला हो, सब एक-से-एक बढ़कर तार्किक और दार्शनिक हैं। यदि इस अंशको छोड़ दिया जाय तो सम्वाद पात्रानुकूल और प्रभावोत्पादक हैं। किसी भी सम्वादने व्याख्यानका रूप धारण नहीं किया है। कहीं-कहीं तो वे बड़े ही मार्मिक ढगसे कहे गये हैं। उनका रस चखनेके लिए तो उन्हें ही पढ़ना होगा, यह लेख नहीं।

स्त्रियों का स्थान—प्रसादजीने दोनों ही उपन्यासोंमे स्त्रियोंके चरित्रोंपर विशेष ध्यान दिया है। प्रसादजीकी नारियाँ सब दुर्बल हैं। वह सदा अपनी दुर्बलताके वशीभूत हैं। उन्हें वेदना है, वह रोती हैं, खीझती हैं, समाजके कठोरतम दण्डोंको सहती हैं और समाजकी दृष्टिमें पतित भी होती हैं; परन्तु मूक हैं।

कुछ वश नहीं चलता। यही तो भारतीय स्त्रियोंका स्वाभाविक चित्रण है। गालाके शब्दोंमें स्त्रियोंकी परिभाषा है : नारी जातिका निर्माण विधाताकी एक झुंझलाहट है। एक स्थलपर वही कहती है—"स्त्री वयके हिसाबसे सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता मे निरीह है" संसारकी और स्त्रियोंके लिए यह ठीक हो या नहीं, भारतीय नारियोंके लिए यह कठोर सत्य है। हमारे समाजमे स्त्रियोंपर जो अत्याचार होता है उसीकी ओर इन उपन्यासोंमें लेखकने लोगोंकी दृष्टि आकृष्ट करनेकी चेष्टा की है। कुछ लोगोंका कहना है कि 'कंकाल'में प्रसादजीने स्त्रियोंका चरित्र बड़ा ही विडंबनापूर्ण चित्रित किया है। सभी पतनोन्मुख हैं। वर्तमान हिन्दूसमाजके मानदण्डसे अधिकाश स्त्रियाँ चरित्र-भ्रष्ट हैं। परन्तु यह बात नहीं है। प्रसादजी का अभिप्राय यही है कि समाजकी दृष्टि इन निरीह, पीड़ित, विताड़ित प्राणियोंकी ओर खींचें। हम देखें कि स्त्रियों पर समाजने कितना अत्याचार कर रखा है। दोनों उपन्यासोंमें स्त्रियाँ तो अपनी दुर्बलताके कारण अपना जीवन दुःखी बनाती हैं, उन्हींके कारण पुरुषों का जीवन भी अन्धकारमय हो जाता है। साथ ही पुरुषोंका पाप-विमोचन भी स्त्रियोंके ही द्वारा होता है। जिस भाँति शेक्सपीयरकी नारियाँ उसके नाटकके पुरुषोंके कल्याणका कारण बनती हैं, उसी प्रकार प्रसादजी की स्त्रियाँ पुरुषोंके तमोमय जीवनमें दीपककी रेखा बनती हैं। शैला ही इन्द्रदेवके जीवनको स्थिर करती है। घंटी ही विजयको शान्तिपूर्ण मृत्यु प्रदान करती है। और गाला मंगलके जीवनका मार्ग बनाती है।

स्त्रियोंमें तितलीका चरित्र अवश्य बलवान है। वह पर्वत-सी अटल, सागर-सी गभीर और पृथ्वीसी सहिष्णु है। कभी-कभी उसका चित्त विचलित होता है परन्तु वह चेत जाती है। उससे कुछ ही कम गाला हैं। हृदयकी उस कोमल भावनाके जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी वशीभूत है। कौन नहीं होता, परन्तु है पूर्ण कर्त्तव्य-निष्ठ और दृढ़।

स्त्रियोंकी दुर्बलताकी दुहाई देकर और उनके सुधारकी आवाज ऊँची उठाकर और समाजमें उन्हें उचित स्थान देनेका दावा करके भी प्रसादजीका आदर्श भारतीय है। पश्चिमके आदर्शको उन्नतिका मार्ग उन्होंने नहीं माना। शैला उसका उदाहरण है। उन्होंने स्पष्टकर दिया है कि पुरुष और स्त्रीके सम्बन्धकी सबसे उत्तम अवस्था विवाह ही है। पश्चिमका पथ मंगलमय नहीं है।

जीवनकी आलोचना—इनके दो उपन्यास समाजसे सम्बन्ध रखते हैं।

समाजके सभी अंगोंपर इन्होंने दृष्टि डाली है। पूजा, पाठ, विवाह, शिक्षा, अर्थ, न्याय आदि विषयोंका इस समय समाजमें क्या स्वरूप है? इन उपन्यासोंमे मिलता है। परन्तु सबके मूलमें जो पारिवारिक जीवन है उसीपर प्रसादजीने विशेष ध्यान दिया है। पुरुष और स्त्रीका समाजमें क्या स्थान है और एक दूसरेके प्रति क्या सम्बन्ध समाजके लिए हितकर हो सकता है, यही दो प्रश्न उनकी समस्याके मूल मे हैं। हमारे देशमें यह सम्बन्ध ठीक है कि नहीं यही उन्होंने दिखाया है। सिद्धान्तोंको लेकर मनुष्य कहाँ तक सफलतापूर्वक चल सकता है। प्रसादजीके अनुसार कोरे सिद्धान्त भयंकर होते हैं। उनका कहना है कि हम अपने लाभके लिए बहुधा सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। समाजके भयसे हम दूसरोंका जीवन नष्ट कर देते हैं। अपनी त्रुटियोंका फल भोगनेका हमें साहस नहीं होता। पारिवारिक जीवन में वैमनस्यके जो कारण हो जाते हैं, 'तितली' में उनका भी यथेष्ट दिग्दर्शन है। लतिकाकी कहानी लाकर यह भी दिखाया गया है कि केवल धर्म परिवर्तनसे जीवन मे शान्ति नहीं आ जाती। उसके लिए तो हृदयमे सन्तोष और शान्ति आवश्यक है। जैसे एक सर्जन सड़े अङ्गोंको काटकर फेंकता जाता है उसी प्रकार प्रसादजीने हमारे समाजकी दूषित स्थितिको समाजके सम्मुख नि संकोच रूपसे रख दिया है।

नियतिवाद—प्रसादजी अपने जीवन मे नियतिवादके विश्वासी थे। पग-पगपर उनके उपन्यासों मे यह स्पष्ट रूपसे झलकता है। किशोरी यात्रा करने आती है पर मिल जाता है निरंजन। भागता है तो भी वह हरद्वार पहुँच जाती है। मंगल ताराकी सहायता करने जाता है। परन्तु एक दूसरी ही घटनाका नायक बन जाता है। फिर वह जंगलमे छिपने जाता है तो मिल जाती है गाला। इसी प्रकार बन्नी विजयको खींच लाती है। शैला लन्दनसे भारत चली आती है। जहाँ उसके पिता कभी नीलका गोदाम चलाते थे। सब इस बातकी चेष्टा करते है कि अपने निश्चित मार्गकी ओर चलें, परन्तु सब व्यर्थ। नियति-सरिताकी धारा बड़े वेगसे अदृष्टकी ओर बढ़ाये चली जाती है। सब परवश, सब पराधीन, जितने पात्र हैं किसी ऐसे सूत्रधारकी डोरी द्वारा कठपुतलीसे नाच रहे हैं कि बचना असम्भव है। चाहते हैं करना कुछ, करते हैं कुछ, हो जाता है कुछ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रसादजीने सर्वोपरि यह दिखानेकी चेष्टा की है कि कोई महान् शक्ति जगत्के प्राणियोंसे खेल रही है और यह खिलौने इधर-उधर थिरक रहे हैं। सब अपने-अपने भाग्यके अधीन हैं। जिधर नियति नदी ले जाय, जाते हैं। स्वयं लाचार हैं।

विचार-धारा—प्रसादजीके उपन्यासोंमें सुधारवाद तो है परन्तु वह पश्चि-

-मके लिये हुए नवीन विचारों अथवा उपकरणोंसे नहीं है। अधिकाश उनके सिद्धात और विचार गोस्वामीजीके व्याख्यान द्वारा व्यक्त होते हैं। राजनीतिमें वे भगवान् कृष्णकी व्यवस्थाके अनुगामी प्रतीत होते हैं। वे प्राचीनताके भक्त हैं। यह तो उनके नाटकोंसे भी प्रकट होता है कि प्रसादजी भारतीय संस्कृतिके उपासक थे। 'कंकाल' उपन्यासमें भी गुप्तकालके साम्राज्य गौरवके वर्णन करनेका लालच रोक नहीं सके। वर्णव्यवस्था प्राचीन रूपमें कर्मानुसार, विवाह-प्रथा, समाजका पुराना संगठन उन्हें अभीष्ट था। ऐसा इन उपन्यासोंसे झलकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक स्वयं ठीक निश्चयपर नहीं पहुँच सका। समाज-सुधारके लिए और देश में कार्य करनेके लिए संगठनकी आवश्यकता है कि नहीं? यद्यपि एक बार वह स्वीकार कर लेता है कि संगठन होना चाहिए, फिर जाकर उसका विरोध करता है। विवाहादिमें विश्वास है परन्तु उसके पाखण्ड में नहीं। तितलीमें कुछ आर्थिक-व्यवस्थाकी ओर ध्यान दिया गया है। प्रसादजीके विचारसे जनताको अर्थ प्रेमकी शिक्षा देना उन्हें पशु बनाना है। उससे आत्मा-का निर्वासन होता है। अर्थ-प्रेमसे मनुष्य पशु बन जाता है। अर्थ-विभाजनकी उचित व्यवस्था प्राचीन प्रथानुसार ही ठीक होगी। वर्णाश्रम धर्मको ही उन्होंने उचित समझा है, आजकलकी पतितावस्थाको नहीं। परन्तु जिस रूपमें पुरातन कालमें था। प्रणयमें हृदयके सच्चे आदान-प्रदानको आडम्बरपूर्ण विवाह-संस्कारसे अधिक पवित्र उन्होंने समझा है। 'कंकाल'में वह परोक्ष रूपसे समाजके आलोचक तथा सुधारक हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी रक्षा वैवाहिक-जीवनका सुधार और नारी-जगत्का उद्धार उनका ध्येय है।

उपसंहार—उपर्युक्त बातोंके होनेपर भी उनके उपन्यासोंसे यह नहीं झल-कता कि वह उपदेशकका काम कर रहे हैं। चरित्रोंकी गति-विधिसे स्वयं आपको ग्लानि और विषाद हो जाता है। स्त्रियोंपर दया आती है। पुरुषोंपर रोष आता है और अपने समाजपर चिढ़ उत्पन्न होती है। किसी आदर्शका अभाव ही इनमें आदर्शोंकी कल्पना करा देता है। दोनों ही उपन्यास नारी जातिकी मूक पुकार हैं। प्रसादजी यह समझते थे कि उन्हींके कल्याणसे समाजका मंगल है। उन्हीं-की ओर समाजकी दृष्टि जानी चाहिए। चरित्रोंका उत्थान अथवा क्रमशः विकास दिखानेकी उन्होंने चेष्टा नहीं की। जिस अवस्थामें समाजको उन्होंने पाया उसीको रेखाङ्कित किया। उनका अभिप्राय था कि प्रत्यक्ष कटु होनेपर भी अधिक आवश्यक है और आदर्शकी कल्पना मधुर होनेपर भी वर्तमानमें उतनी आवश्यक नहीं है।

[नवम्बर १६४०

कामायनीकी कथा

कामायनीका स्थान हिन्दीके प्रबन्ध-काव्योंमें ऊँचा है इससे किसीका मतभेद नहीं है। जिन्होंने पढ़ा है, जिन्होंने नहीं पढ़ा है सभी इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि उनका अपूर्ण उपन्यास इरावती छोड़ दिया जाय तो यह उनकी अन्तिम रचना है। इसे पूरा करनेमें उन्हें चार-पाँच वर्ष लगे थे।

प्रसादजी पुराने भारतीय इतिहास तथा साहित्यके कितने प्रेमी थे उनकी रचनाओंसे प्रकट होता है। संस्कृतका बहुत गहरा ज्ञान न होनेपर भी इतनी संस्कृत उन्हें आती थी कि वे मूलमें पुस्तकें समझ लेते थे। वैदिक कहानियोंमें उन्हें रस मिलता था। जिस खाटपर वे सोते थे सिरहाने बिछौनेके नीचे एक पुस्तक वे सदा रखते थे। वह थी उपनिषदोंका संकलन। डबल क्राउनके छोटे साइजकी पुस्तक थी। जब कभी उन्हें अवकाश मिलता था इसे पढ़ा करते थे।

यह इस समय कोई नहीं बता सकता कि किस विशेष दिन अथवा तिथिको उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना आरम्भ की। वे प्रायः रातको लिखा करते थे। कामायनीकी मूल प्रति उन्होंने हरे रंगकी रूलदार कापीमें लिखी थी। वह कापी फाइलके समान थी। फीते लगे हुए थे। वे जब कोई रचना किसी पत्रमें अथवा प्रेसमें भेजते थे तब किसीसे प्रतिलिपि करा लेते थे। कामायनीकी प्रतिलिपि अधिकांश श्रीरामनयनजीने की थी।

यों तो वे कहीं कविता सुनाने नहीं जाते थे। जीवनके अन्तिम कुछ वर्षोंमें मित्रोंके आग्रहसे कभी-कभी काशीमें कहीं-कहीं चले जाते थे। किन्तु घरपर जब कुछ मित्र पहुँच जाते थे वे सुनानेमें संकोच नहीं करते थे। विशेषतः कामायनीके

अंश तो उन्होंने बहुतोंको घरपर सुनाया। प्रकाशित होनेके बहुत पहले ही पूरी कामायनी मुझे उनके मुखसे सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं नहीं कह सकता कि मैं उस समय कितना उसका दार्शनिक तत्व समझ सका। उनके पढ़नेमें भी एक मधुर लचक थी जो उनकी सुंदर रचनाओंको बहुत आकर्षक बना देती थी। जितना वे लिखते थे उतना जब कोई साहित्यिक मित्र जाता था सुनाते थे।

आशा तथा श्रद्धावाला अंश लिख चुके थे तब थोड़ा 'माधुरी'में छपा था। रजनीका पगलावाला रूपक और श्रद्धाकी सौंदर्य-छवि। 'माधुरी'ने इसे आरम्भमें आर्ट पेपरपर हरा मैट्रिक्स देकर इटालिक अक्षरोंमें छापा था। लोगोंने इसे किसी पुस्तकका अंश नहीं समझा था। लोगोंकी धारणा थी कि यह कोई मुक्तक रचना है।

नागरीप्रचारिणी सभाका कोई उत्सव था। सम्भवतः कोषोत्सव। उसके साथ कवितापाठ भी था। उसमें प्रसादजीने लज्जाका वह अंश पढा था जो 'इतना न चमत्कृत हो बाले'से आरम्भ होता है। लोगोंपर इस रचनाका बहुत प्रभाव पड़ा। लोगोंने इसे पसन्द भी बहुत किया। बाबू शिवप्रसाद गुप्त उपस्थित थे। इस रचनाकी अन्तिम पंक्तिमें 'वह हलकीसी मसलन हूँ जो बनती कानोंकी लाली'वे बहुत देरतक दुहराते रहे। उन्होंने कवितापाठ समाप्त होनेपर प्रसादसे रचनाकी प्रशंसा की।

यद्यपि कामायनीसे इसका सम्बन्ध नहीं है। फिर भी मैं यहाँ कहनेका लालच नहीं रोक सकता कि बाबू शिवप्रसाद गुप्त राजनीतिक कार्योंमें रुचि रखनेवाले व्यक्ति थे, फिर भी साहित्यमें उन्हें बहुत रस मिलता था और वे उसे समझते भी थे। प्रसादजीने उन्हें 'कंकाल' भेंट किया था। उसे पढ़कर वे प्रभावित हुए थे। यूरोप जाते समय कलकत्तेसे उसकी प्रशंसामें उन्होंने लम्बा पत्र लिखा था। 'लामिजराब'से उसकी तुलना की थी। वह पत्र शायद कलाभवनमें अब भी हो।

उन्होंने एक बार ऐसा विचार प्रकट किया कि आँसूको कामायनीका एक सर्ग बना दें और वह श्रद्धाके परित्यागके पश्चात् उसकी भावनाकी अभिव्यक्ति हो। किन्तु सांस्कृतिक पृष्ठभूमिमे दोनों रचनाओंमें अन्तर होनेके कारण फिर ऐसा उन्होंने नहीं किया। सम्भव है उन्होंने और कारण भी सोचा हो।

पहले उन्होंने इस काव्यका नाम 'श्रद्धा' सोचा था। पण्डित वाचस्पति पाठककी देख-रेखमें पुस्तक भारती भण्डारमे छप रही थी। मैं प्रयाग जा रहा था, मुझसे प्रसादजीने कहलाया कि श्रद्धा इसका नाम होगा। मैंने पाठकजीसे जाकर कह भी दिया था। फिर कुछ विचार बदला और बादमें कामायनी ही नामकरण हुआ।

कहना नहीं होगा कि यह नाम अधिक सुन्दर है। जिस कथानकका इस काव्यमें प्रयोग किया गया है उसमें श्रद्धा और कामायनी पर्यायवाची हैं।

कामायनी प्रसादजीके जीवनकालमें प्रकाशित हो गयी थी। किन्तु वह अस्वस्थ हो चले थे। उसके सम्बन्धमें मेरा पहला लेख 'आज'में छपा था। वह आलोचना तो नहीं कहा जा सकता, प्रशंसात्मक परिचय था।

धीरे-धीरे विद्वानों और साहित्य मनीषियोंका ध्यान इस ओर गया। साहित्यमें इस पुस्तकने क्या स्थान पाया इसे लोग जानते हैं। उनकी मृत्युके पश्चात् कामायनी-पर प्रसादजीको मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। पराड़करजी जब शिमलामें अध्यापक थे उसी अधिवेशनमें उनके चिरंजीवको यह पुरस्कार दिया गया। पुरस्कारके अवसरपर लोगोंने कामायनीका कुछ अंश सुननेकी इच्छा प्रकटकी और मुझे सुनानेकी आज्ञा हुई।

[सन् १९५२

—:o:—
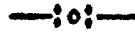
प्रसादके संस्मरण

व्यवसायका वातावरण, वह भी सुरती-तम्बाकूका। उसमें उत्पन्न हुआ हो कामायनीका रचयिता। प्रसादके पिता, पितामहमें भी कोई कवि न था। मानस-शास्त्रके पंडितोंके अनुसार वातावरण और पैतृकतासे ही मनुष्यका चरित्र और मन विकसित होता है। प्रसादके जीवनमे दोमें से एकमें भी कवि बनानेका साधन नहीं था। किन्तु जिन लोगोंने उन्हें देखा है, और जिन लोगोंका उनसे सम्पर्क रहा है, वे जानते हैं कि उनकी रचनाएँ ही उच्च काव्यकी श्रेणीमें नहीं आती हैं वे स्वयं भी कवि दिखाई पड़ते थे। कामायनी, आँसू, लहरके गीत तो कविताकी उस श्रेणीमें हैं, जो आजसे एक हजार वर्ष बाद भी कविता कही जायगी। प्रसादका व्यक्तित्व भी ऐसा था जिससे कवित्व बरसता था। मैंने अनेक कवियोंको देखा है। उनकी रचनाओंने ख्याति पायी है, किन्तु उनकी बात नीरस। कृत्रिमताकी चादर उसपर पड़ी हुई या दंभकी पालिश चढ़ी हुई है। प्रसादजीकी चाल-ढालमें बात-चीतमें, रहन-सहनमें, काव्य झलकता था।

जो लोग प्रसादजीके सम्पर्कमें आये और यदि उन्होंने गहराईसे उनका अध्ययन किया होगा इस परिणामपर वह पहुँचे होंगे कि उनका दोहरा व्यक्तित्व था। कवि प्रसाद और व्यवहारिक प्रसाद। किन्तु उन्होंने ऐसी साधना कर ली थी कि एक दूसरेको ग्रहण न कर सके। उनके आरम्भिक जीवनके सम्बन्धमें मैंने उनसे अथवा दूसरोंसे जो कुछ सुना, उतना ही जानता हूँ। वह कहा करते थे कि मैं आध सेर बादामकी ठंढई यौवनावस्थामें पीता था। डड मारता था। सौभाग्यकी बात है कि मेरा उनका परिचय उस समय हुआ जब उनकी काव्य-प्रतिभा प्रखर गतिसे ऊँची चली जा रही थी। आँसूका पहला संस्करण छप चुका था। कुछ

फुटकर रचनाएँ भी छप चुकी थीं। कामायनी अभी गर्भमें थी, आँसूके नये छन्द अभी ढले नहीं थे। आजसे सत्ताइस साल पहलेकी बात है, उनके घर पहली बार गया था। चटाई बिछी थी। एक नौकर उनके शरीरपर तेलकी मालिश कर रहा था। तेल सरसोंका न था, चमेलीका था। शरीरपर केवल कमरमें लपेटा एक लाल अंगौछा था। उन्होंने इस बातकी चेष्टा नहीं की कि भेंट थोड़ी देरके लिये स्थगित कर दें और स्नान करनेके बाद मुझे बुलायें। उन्होंने तुरन्त मुझे बुला लिया और अनेक प्रकारकी बातें आरम्भ कीं। दो-तीन मिनट बात करनेके बाद पान मंगवाया। छोटी सी जरमन-सिलवरकी तश्तरी थी, उसीमें घरमेंसे पान आया। जहाँ तक मुझे स्मरण है, उनकी मृत्युतक सदा उसी तश्तरीमें पान आता रहा। कुछ साहित्यिक बातें भी हुई और मालिशके पश्चात् भी घन्टों उनसे बात होती रही। उन्होंने यह नहीं कहा कि मुझे विलम्ब हो रहा है या भोजन ठंढा होता होगा। 'जन्मेजयका नागयज्ञ' उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ था। उसकी प्रति उन्होंने लाकर दी। मैं कोई साहित्यकार या सम्पादक न था, फिर भी उन्होंने स्नेहवश वह पुस्तक मुझे दी। अपनी पुस्तकें वह कम लोगोंको दिया करते थे। सब मिलकर दससे अधिक व्यक्ति ऐसे न थे जिन्हें वह अपनी प्रकाशित पुस्तकें भेंट करते। उनमें इस किंकरका भी सौभाग्य था।

उनके यहाँ प्रातःकालसे दस बजे राततक जो जाता उससे मिलते और जब तक वह रहता बात करते थे। व्यवसाय भी होता ही था किन्तु यह न पता चलता था कि कब वह लिखते हैं, कब काम-काज देखते हैं। लिखते प्राय रातको थे।

जबसे महात्मा गाधीका राष्ट्रीयताका आन्दोलन चला, वह खद्दरके भक्त हो गये थे और गान्धी टोपी लगाते थे। इसके पहले दुपलिया टोपी लगाते थे। दिन भर काम-काजके पश्चात् संध्या समय वह घरसे निकलते थे और बाँसके फाटकसे चौक होते हुए नारियल बाजारमें पहुँचते थे। यहाँ इनकी दूकान पूर्वजोंके समयसे चली आती है, जिसे 'सुंघनी साहूकी' दूकान कहते हैं। उसीके सामने इन्होंने एक दूकान ले रखी थी। वह केवल संध्याको बैठनेके लिये। वहाँ नव दस बजे तक बैठते थे। वहीं कभी रामचन्द्र शुक्ल, कभी रामचन्द्र वर्मा, कभी लाला भगवान-दीन तथा और भी साहित्यप्रेमी पहुँचते थे। चार-पाँच व्यक्ति रहते ही थे। और सदा हँसीकी सरिता बहा करती थी। मनहूसियत उनसे उतनी ही दूर रहती थी, जितनी चीनीसे नमक। सबकी चर्चा होती थी, किन्तु किसीकी निन्दा नहीं। हँसी-मजाक ही साधारणतः होता था।

जब वह चलते थे, उनकी चालमें मस्ती और अदा होती थी। इस मस्तीके कारण बहुतसे लोग उनसे ईर्ष्या भी करते थे, चिढते भी थे, किन्तु उन्होंने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया। उनका विरोध अनेक लोगोंने किया। उनकी साहित्यिक महत्ता अनेक साहित्यिकोंको भी सह्य नहीं थी, किन्तु प्रसादजीने ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें कभी परोक्ष में भी विरोधमें कुछ नहीं कहा। इतना ही नहीं, इन लोगोंसे सौहार्दका भाव बनाये रखा। उनके यहाँ आना-जाना भी रहा।

पत्रका उत्तर प्रसादजी प्राय नहीं देते थे। कभी आवश्यकता पड़ी, तब कुछ लिखा। काशीवालोंके लिये तो अवसर ही नहीं आ सकता था, बाहरवाले ऐसे शायद ही कोई मित्र हों जिनके पास उनका एकाध पत्र हो। सभा या अधिवेशनों में भी कभी नहीं जाते थे। उनकी बिरादरीके लोगोंने भी अनेक बार उन्हें सभापति बनाया, किन्तु कभी नहीं गये। एक बारकी घटना है, हलवाई वैश्य महासभाका अधिवेशन था, इन्हें बहुत घेरा, लोगोंने सभापति बननेके लिये। जब किसी प्रकार पिण्ड नहीं छूटा तब इन्होंने जान छुड़ानेके लिये स्वीकृति दे दी। किन्तु पीछे तार दे दिया कि नहीं आ सकूंगा।

प्राचीन परम्परा के रक्षक थे, किंतु बहुत उदार भावना थी। विचारोंमें अग्रगामी थे। वे भारतीय संस्कृतिके कितने हिमायती थे, उनकी रचनाओंसे स्पष्ट है। प्राचीन भारत तथा संस्कृतिके संबन्धमें देशी तथा विदेशी साहित्य पढा करते थे। उपनिषद्की एक प्रति उनकी चारपाईपर सदा पड़ी रहती थी। जब समय मिलता पढ़ते थे। उनके घरके पासही उनका शिवका मन्दिर था। उसकी यों तो नित्य पूजा होती ही थी, शिवरात्रिके समय विशेष समारोह होता था। प्रसादजी उस दिन व्रत रहते थे और रातको जागरण होता था। उनके मित्रगण आमंत्रित किये जाते और संगीतका भी प्रबन्ध रहता था। एक बार मैं भी फंस गया। रातको जागना पड़ा। जनार्दन झा द्विज तथा शिवपूजनसहाय भी उस रातको वहाँ थे। गानेवाला एक था, जो एक गाना गा रहा था 'छेरो छेरो ना कन्हाई।' 'ड़' को वह 'र' उच्चारण कर रहा था। उसपर कितनी हँसी हुई। घंटों हमलोग हँसते रहे। फिर घरकी बनी गरीकी बरफी हमलोगोंको प्राय पेटभर खानेको मिली।

खिलानेके प्रसादजी बहुत शौकीन थे। अपने यहाँ अनेक वस्तुएं बनवाते थे। जाड़ेके दिनोंमें जैसा मगदल वह बनवाते थे, वैसा खानेको कहीं-कहीं मिला। उन दिनों घी भी अच्छा मिलता था और स्वादिष्ट बनानेकी कला भी उन्हें ज्ञात थी। गाजरका हलवा भी बहुत अच्छा बनवाते थे। अनेक बार उनके यहां भोजन

का अवसर मिला है। उन्हें भोज्य-पदार्थ उत्कृष्ट बनवाने का नशा था। सब अपनी देख-रेखमें बनवाते थे।

आरम्भमें अपनी पुस्तकें उन्होंने बिना कुछ लिये प्रकाशकोंको दीं। कुछ लिखा-पढ़ी भी नहीं करते थे। अन्तमें भारती भंडारको अपनी रचनाएँ उन्होंने दे दीं। उससे लाभ हुआ, किन्तु अपने जीवनमें साहित्यको उन्होंने व्यवसाय नहीं बनाया। इसकी आवश्यकता भी उन्हें नहीं थी।

बनारसका पानी उनकी रग-रगमें था। घरपर बोलते तो थे ही बनारसी बोली, मस्ती, अल्हड़पन, बांक-पन सभी बनारसकी विशेषता उनमें थी। अपनी आनके धनी थे। परिस्थितियोंकी विवशतामें भी उन्होंने हाथ नहीं पसारा। अपनी अन्तिम बीमारीकी अवस्थामें उन्होंने एक महाराज कुमारका पत्र मुझे दिखाया था। महाराज कुमार अभी जीवित हैं। उन्होंने लिखा था कि यदि धन की आवश्यकता हो तो निसंकोच लिखें। उसके अभावके कारण चिकित्सामें कमी न हो। प्रसादजीने कभी सहायता स्वीकार नहीं की। यही कहते रहे कि परिस्थितियोंसे लड़ता आया हूँ, लड़ते रहने दो हमें।

———

हास्यकी कविता

हिंदी कवितामें हास्यकी परम्परा नहीं है। हास्य जिसे आज-कल हम कहते हैं—Humour—उसकी संस्कृतमें भी कमी है। फुटकर कुछ रचनायें मिलती हैं जिसमें परिहास है। संस्कृत कवियोंका हास्य विशेष सीमामें ही है। उनके आलम्बन बँधे हुए हैं। उनके बाहर संस्कृतके कवि नहीं गये। हिंदीमें भी पुराने कवि हास्यकी ओर नहीं झुके। सूरदास कृष्णकी बालक्रीड़ाका वर्णन करते कभी-कभी ऐसा लिखते हैं जिसमें मधुर हास्य मिलता है—जैसी बालकोंकी बातें सुनकर हँसी आती है। तुलसीदासने हास्यकी कुछ रचनायें की हैं। एकाध कवितावलीमें मिलती हैं। रामचरित मानसमें नारद वाले प्रकरणमें, शिवके विवाहमें, परशुरामके संवादमें, और फुलवारीमें राम और सीताके मिलनके अवसर पर कुछ-कुछ हास्य मिलता है। दरबारी कविताके समय जिन कवियोंने रीतिके ग्रंथ लिखे हैं उन्हें कर्तव्यका पालन करना पड़ता था। हास्य एक रस माना गया है इसलिए उसका उदाहरण होना चाहिये। पेटू ब्राह्मण, कृपण राजा मुख्यत उनके आलम्बन थे। उनकी प्रतिभाकी दौड़ इस मैदानके बाहर न जा सकी।

भारतेन्दुने पहले पहल हास्यकी आत्माको पहचाना। समाजकी कुरीतियों और बेढंगी बातोंकी उन्होंने खिल्ली उड़ाई। उनकी शिक्षा साधारण थी। हास्य की बारीकियोंका विश्लेषण वे सम्भवतः नहीं कर सके होंगे, फिर भी साहित्यकार की जो जो ऐश्वरीय प्रतिभा होती है उसकी प्रेरणासे उन्होंने जो हास्यकी सामग्री दी है वह अच्छे हास्यके सीमाके अन्दर आती है।

बहुतसे लोग नहीं समझते कि हास्य बौद्धिक वस्तु है। जैसे-जैसे बुद्धिका विकास होता है हास्यकी बारीकियाँ समझमें आती हैं। जिसका बौद्धिक विकास नहीं है वह न हास्य लिख सकता है न समझ सकता है। जितनी ही अधिक बुद्धि की परिपक्वता है उतना ही अधिक हास्य समझमें आ सकता है और उतना ही अधिक हास्यकी सामग्री वह मनुष्य प्रस्तुत कर सकता है। अवश्य ही बौद्धिक विकासका अर्थ किसी विशेष ढंगकी शिक्षा अथवा डिप्लोमासे नहीं है। भारतेन्दुने जहाँ हास्य लिखा है वह पुराने इस ढंगके लिखने वालोंके आगे बढ़ गये हैं।

भारतेन्दुके समय तथा उनके पश्चात भी अनेक लेखकोंने गद्य तथा पद्यमें हास्यकी रचना की। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्तने हास्यकी रचनायें की हैं। किन्तु उनकी कवितायें न तो संख्यामें इतनी हैं न इस ऊँचाईपर पहुँचीं कि आगे आने वालोंके लिये कोई मानदण्ड स्थिर कर सके। हास्यके कवियोंके लिये शोभाकी बात है कि उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाया। कोई उनका मार्ग प्रदर्शक न था। मिट्टी खोदनेसे ककंरीट रखने तकका सब काम उन्होने किया।

कवि अकबरकी रचनायें उर्दूके पत्र 'ज़माना'में आजसे तीस-पैंतिस साल पहले छपने लगीं थीं। कुछ दिनोंके बाद कभी-कभी हिन्दी पत्रोंमें भी वह रचनायें छपती थीं। उसने अवश्य लोगोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया किन्तु हिन्दी वालोंके लिये ही कठिनाइयाँ थीं। उर्दूके शेर दो चरणोंमें समाप्त हो जाते हैं। जो कुछ उसमे व्यंग विनोद होता है उतनेमें पूर्ण कर देना होता है। हिन्दीम कम से कम चार चरणोंमें कथनकी पूर्ति होती है। दोहेमें, यद्यपि उसमें भी चार चरण होते हैं, कुछ सरलता अवश्य होती है। यही कारण है हास्यकी कविताके विकास न होनेमें, यद्यपि यह महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। समाजकी अवस्था भारतवासियोंकी अत्यधिक गम्भीरताका मानसिक रोग, समाजमें हँसना अशिष्टता समझना हास्यके न पनपनेका कारण है। कक्षामें कोई विद्यार्थी हँसता है तो अशिष्ट समझा जाता है, स्त्रियोंपर समाजने इतना अधिक आतंक जमा रखा है कि उनकेलिये हँसना पापके समान है। और जहाँ बहुतसे लोग एकत्र हों वहाँ स्त्रियाँ हँसें, राम राम! यह उनकी अनैतिकता का चिन्ह समझा जाता है।

पश्चिमी साहित्यने जो भी किया है मेरा विश्वास है कि यदि उसका आभास यहाँ न मिला होता तो हिन्दीमें हास्य-रसका विकास न हुआ होता। ज्यों ज्यों अंग्रेजीका साहित्य और अंग्रेजीके माध्यम द्वारा फ्रेंच, रूसी तथा अन्य भाषाओंके साहित्यका प्रसार यहाँ हुआ हास्यकी ओर लोगोंका ध्यान गया। और हिन्दीके लेखकोंने अपनी लेखनी इस ओर भी मोड़ी। यहाँ मैं गद्यके सम्बन्धमें कुछ न लिखकर पद्यकी ही चर्चा करूँगा। जैसे कहानी और निबंधों का उन्नयन पत्रों द्वारा हुआ है, हास्यकी कविताओंकी प्रगतिका श्रेय भी मासिक तथा साप्ताहिक पत्रोंको है। अंग्रेजीका 'पंच' यहाँ लोगोंने पढ़ा। अंग्रेजी भाषाका सर्वश्रेष्ठ हास्य-विनोदका यह पत्र सदासे रहा है और उसका हास्य-विनोद ऊँची श्रेणीका समझा जाता है। उसकी देखा-देखी लखनऊके मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ादने अवध पंच निकाला। उसमें उर्दूके अनेक सिद्धहस्त लेखक परिहासपूर्ण कवितायें लिखते थे। उस युगका हिन्दीका लेखक उर्दू भी जानता था। इस पत्रका भी प्रभाव हिन्दीपर पड़ा।

सबसे पहले पं० ईश्वरीप्रसाद शर्माने हिन्दी मनोरञ्जन पत्र निकाला था। उसमें जहाँ जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा हास्यके गद्य लेख निकलते थे कुछ कवियों की हास्यकी कवितायें भी निकलती थीं। यह आजसे लगभग ४० वर्ष पहले की बात है। पत्र चला नहीं किन्तु बीज बो गया। कवितायें इधर-उधर निकलती रहीं किन्तु किसीने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। जब कलकत्तेसे मतवाला निकला अनेक लोगोंने हास्यकी कवितायें लिखनी आरम्भ की। उसके पहले ही पंत जी और निरालाजीने भी हास्यकी कवितायें लिखी थीं। कलकत्ता, फिर कुछ दिनोंतक काशीसे 'मौजी' नामका हास्यका साप्ताहिक निकलता था। उग्र जी उन दिनों काशीके 'भारत जीवन'में लिखते थे। उन्हीं दिनों काशी से 'भाड़' फिर 'भूत' नामके साप्ताहिक निकले जो हास्यके ही थे। और जिनमें हास्यकी कवितायें बराबर निकलती थीं। धीरे-धीरे यह सभी पत्र बन्द हो गये। कुछ दिनों बाद ईश्वरी प्रसाद शर्माने 'हिन्दू पंच' निकाला। एक मजिल उसने भी पूरी की। उनकी मृत्युसे वह बन्द हो गया। फिर अनेक पत्र निकले 'तरंग', 'मदारी', 'नोक-झोंक', 'गुलदस्ता', 'अलबेला' 'अंकुश', 'करेला', 'सचित्र भारत' आदि।

इसका परिणाम यह हुआ कि हास्यके अनेक कवि उभरे। कुछने आरम्भ करके फिर हास्य लिखना छोड़ दिया जैसे हितैषी जी। यद्यपि हास्य, व्यंग लिखने

की इनकी अच्छी प्रतिभा थी। विचित्र बात यह है कि हास्य-रसके अच्छे पत्र अधिक दिनों तक चल नहीं सके। इसका मुख्य कारण यह था कि उन्होंने अपना स्टैंडर्ड एक-सा नहीं रखा। जहाँ तक कविताका सम्बन्ध है, पहले तो अच्छी रचनायें निकलीं, फिर रसहीन, निर्जीव हास्यकी रचनायें छपने लगीं। इतने अधिक हास्यके कवि न थे जो बराबर स्रोतको कायम रखते।

जो प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं वह तो हास्यकी सामग्री सब जगह पा जाते हैं। उन्हें आलम्बन मिल जाते हैं। जो साधारण कवि हैं उनके लिये कठिनाई उपस्थित हो जाती है। पुरानी हास्यकी कविता इस समय नीरस इसलिये जान पड़ती है कि अब वह आलम्बन हास्यके आलम्बन नहीं रहे। हास्यके आलम्बन समय समयपर बदलते रहे हैं। कुछ ही दिन पहले विदेशी वेशभूषा, खानपान महिलाओंका पर्दे में न रहना, पश्चिमी शिक्षा, मूछें न रखना हास्यकी सामग्री समझी जाती थी। अब वह सब हमारे प्रतिदिनके रहन सहनका ढंग हो गया। सूट सभी पहनते हैं। केक और बिस्कुट, टोस्ट और चाय नित्यका आहार हो गया, पर्दोंकी प्रथा उठ गई, मूँछ मुड़वाना प्रथा हो गई। इन बातोंमे अब कोई ऐसी बात नहीं रह गई जिस पर हँसी आ सके। हँसी तो उसपर आती है जो साधारण प्रचलित बात न हो जिसमे साधारणसे कुछ विचित्रता हो। हम चलते हुए आदमीपर नहीं हँसते क्योंकि वह तो धर्म ही है। चलने मे कुछ विचित्रता हो या चलते चलते कोई गिर पड़े तो हँसी आ जाती है। इसलिये प्रचलित ढंग, फैशन, प्रथापर हास्यकी रचना नहीं होती। पहले अंग्रेजी सरकारका भी मजाक उड़ाया जाता था। अब अपनी सरकार है, उनपर व्यंग क्या हो सकता है? कुछ लोग जो मन्त्रियों और नेताओंपर फब्तियाँ कसते हैं उनकी अनेक रचनाओंमें हास्य-विनोद कम रहता है राजनीतिक घृणा, प्रच्छन्न ईर्ष्याकी अधिकाई रहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अब शासन और सरकारपर व्यंग हो ही नहीं सकता। अनेक स्थानोंपर कचाई है, दोष हैं, छिद्र हैं, धूर्तता है, बेईमानी है। हास्य और विनोद द्वारा उन्हें प्रगट करना आवश्यक है और लोग सामयिक पत्र पत्रिकाओंमें लिखते भी हैं। समाजमें सदा ऐसी बातें होती रहेंगी जो परिहासका आलम्बन होंगी। कुशल कवि उसका उपयोग करता है और कर सकता है। किन्तु ऐसी रचनाये अधिकांश सामयिक हो जाती हैं। कुछ दिनों के पश्चात् उनका कुछ महत्व नहीं रह जाता। बहुत सी तो समझमें भी नहीं आतीं। जैसे 'अकबर'का यह क़िता लीजिये—

करज़नो किचनर की हालत पर जो कल,
वह सनम तशरीह का तालिब हुआ।
कह दिया मैंने कि यह है साफ़ बात,
देख लो तुम ज़न पै नर ग़ालिब हुआ।

इस रचनामें उस झगड़ेकी ओर संकेत है जो लार्ड कर्जन और जंगी लाट लार्ड किचनरमें हुआ था कि जंगी लाट वाइसरायके मातहत हैं कि नहीं और विलायतकी सरकारने किचनरके पक्षमें निर्णय किया था? आजके लोग तो जानते भी नहीं। यह इतिहास और विधानकी बात है। इसी प्रकार अनेक कवियों की रचनायें हैं।

इस समय हास्यकी कवितायें जो हिन्दीमें लिखी जा रही हैं सात प्रकारकी हैं।

(१) समाजके विभिन्न अंगोंका परिहास।
(२) व्यंगात्मक रचनायें।
(३) पैरोडी।
(४) चमत्कारिक रचनायें।
(५) शाब्दिक श्लेष अथवा विशेष रूपसे शब्दोंका चयन।
(६) नीर-हास्य जिसे अंग्रेजीमें 'नानसेन्स पोयट्री' कहते हैं।

जिसमें न किसीपर व्यंग होता है न बौछार होती है न किसी प्रकारकी आलोचना होती है। पानीकी भाँति स्वच्छ केवल हँसानेके लिए यह रचनायें होती हैं। जैसे—

अजब चाँदनी रात है
मानो बरसा भात है।'

'नान सेन्स' किसी बुरे अर्थमें नहीं लिया जाता। अंग्रेजीमें गद्य-पद्य में अच्छा खासा साहित्य इसका है। 'लेविसके रोल'[1] (चार्ल्स एच० डाजसन)

१—इनका 'ऐलिस इन वन्डर लैंड', और 'थ्रू ए लुकिंग ग्लास'

और 'एडवर्ड लियर'[1] इसके आचार्य हैं इसके अतिरिक्त और भी इस ढंगके हास्य-के कवि हैं।

(७) भाषाका हास्य जैसे आज भोजपुरी इत्यादि कवितासे हँसी आती है।

ऊपर जो विभाजन हास्य काव्यका किया गया है वह हिन्दीका ही है। अंग्रेजीमें हास्यकी और भी कवितायें होती हैं जिस प्रकारकी रचना हिन्दीमें नहीं होती जैसे 'लिमरिक'[2]। 'लिमरिक' चार अथवा पाँच पंक्तियोंकी कविता होती है और विशुद्ध हास्य उसमें रहता है। इसमें तुककी विशेषता होती है। इसी प्रकार और भी दो एक रचनायें हैं। इसके अतिरिक्त ऊपर जो विभाजन है उसमें और भी विभाजन हो सकते हैं जैसे व्यंगात्मक रचनाओंमें व्यंग है, ताना है, फ़बती है, बनाना है, बौछार है। पैरोडीमें अर्ध पैरोडी है, सम्पूर्ण पैरोडी है। जहाँ केवल छन्दोंकी नकल है वहीं अर्धपैरोडी है। जहाँ छन्दके साथ साथ शब्द भी बदल दिये जाते हैं और गम्भीरसे हास्यमें परिवर्तन हो जाता है वह पूर्ण पैरोडी है।

हिन्दीमें हास्यके जो कवि है वह अधिकांश समाजपर ही हास्य लिखते हैं। व्यंगात्मक और चमत्कारपूर्ण रचना भी लोगोंने लिखी है। पैरोडी भी अनेक लोगोंने लिखी है। नीर-हास्य प्राय नहीं देखनेमें आता। यद्यपि पत्र पत्रिकाओंमे इसकी माँग रहती है, फिर भी लोग कम लिखते हैं। इसके तीन कारण हैं। 'बड़े' कवि हास्यमें लिखना उचित नहीं समझते। इनकी समझ मे हास्य हल्की वस्तु है, उसमें महत्ता नहीं है। पश्चिममे यह बात नहीं है। यूनानके महाकवि अरिस्टोफेनीज, अंग्रेजीके चासर, शेक्सपीयर, मिल्टन, बर्नस कीट्स, श्रीमती ब्राउनिंग, अमेरिकाके होम्स, टेलर, लागफेलो, आदिने हास्य की कवितायें लिखी हैं और वह सजीव हैं, ओजस्विनी हैं। दूसरा कारण हमारी मनोवृत्ति है। हम समझते हैं कि हास्य रसकी कविता साहित्य निर्माणकी वस्तु नहीं है। पाठ्य पुस्तकमें इसका चयन नहीं हो सकता। साहित्यका इतिहास-कार इसके सम्बन्धमे लिखना उचित नहीं समझता। इसलिए क्यों ऐसी रचनाकी

१—इनका 'नानसेन्स बुक्स' पढ़नेकी वस्तु है। हास्य प्रेमी सभी लोगों को पढ़ना चाहिए।

२—अभी श्री भारतभूषण अग्रवाल (आल इन्डिया रेडियो इलाहाबाद) ने सुन्दर 'लिमरिक' लिखे हैं। और किसीने ऐसी रचना की हो मुझे ज्ञात नहीं है।

जाय। अधिकांश लोग इसलिए तो लिखते नहीं कि उनका कवि जाग्रत होता है। वह तो इसलिए लिखते हैं कि मेरा नाम हो, आलोचनात्मक पुस्तकोंमें मेरा वर्णन हो। तब ऐसी रचना करना उचित समझा जाता है जिससे ख्याति बढ़े, नामके अक्षर चमकें। तीसरा कारण हमारी शिक्षा, संस्कृति और विचित्र सामाजिक धारणा है। इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। इतना ही नहीं कि हम गरीब हैं भूखे हैं यह तो साधारण बात है। हमारा वातावरण ही गम्भीर करुण भावोंसे लदा हुआ है। भय भी पदे-पदे हम लोगोंके जीवनमें है। पुत्र-पुत्री पिताके डरके मारे शङ्कित रहती है, विद्यार्थी अध्यापकसे भय खाता रहता है। कर्मचारी अधिकारीसे भय खाता है। भय हास्यका विरोधी है। जब हम एक साथ बराबरीके स्तर पर मिलते नहीं तब हास्य विनोद जीवनमें आ नहीं सकता। जीवनमें नहीं है तो साहित्यमे कहाँसे आ सकता है। इसके लिये कोई दवा नहीं हो सकती। मनोवृत्ति बदलनेकी बात है।

हास्यकी कविताएँ, जो कभी-कभी निकलती है, उनमे कई दोष हैं। जो अच्छा लिखते हैं उनकी बात मैं नहीं कहता किन्तु कुछ लोग, खेद है, ऐसे लोगों को संख्या अधिक है, गन्दे विचार, निम्नकोटिका आक्षेप, महिलाओं पर कटाक्ष ही हास्य रस समझने लग गये हैं। ऐसी रचनायें छप तो कम पाती हैं, किन्तु कवि-सम्मेलनोंमें जहाँ किसी प्रकारका नियन्त्रण नहीं रहता उच्छृङ्खल ढंगसे पढ़ी जाती हैं। एकत्र जनता ही ही ही कर देती है। रचयिता समझता है मैंने अनुपम रचना की है, सफल हास्यका लेखक हूँ। एक और रोग चल पड़ा है। कुछ लोगोंने समझ रखा है भोजपुरी भाषामें रचना करना हास्य रसकी रचना है। कविताको किसी भाषा विशेषकी अपेक्षा नहीं है। भोजपुरी में कुछ लोगोंने सुन्दर और साहित्यिक रचनायेंकी हैं। किन्तु कवि-सम्मेलनोंमें कभी-कभी कुछ लोग विकृत, भोंडी, रचना भोजपुरीमें हास्यके नामपर कर देते हैं। हँसी सुनकर आ जाती है। वह समझते हैं कि मैं हास्य का कवि हूँ।

कवि-सम्मेलनका जिक्र आ गया है। आजकल कवि-सम्मेलनोंमें हास्यके कवियोंकी बुलाहट बहुत होती है। कवि-सम्मेलन मनोरजनके लिये तो होता ही है किन्तु बहुधा ऐसी रचना सुननेमें आती है जो भद्दी और कभी-कभी अश्लील होती है। यों तो कोई नंगा हो जाय तब भी हँसी आ जायगी। उसे साहित्य तो नहीं कहा जा सकता।

पश्चिममें हास्य जीवनका आवश्यक अंग बन गया है। अनेक पत्र ऐसे निकलते हैं जिनमें हास्य ही मुख्य विषय होता है। इंगलैंडका 'पंच' अमेरिका का 'न्यूयार्कर', रूसका 'क्रोकोडायल' अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पा चुके हैं किन्तु कभी उनमें ऐसी रचना नहीं निकलती जो पढ़ने या सुननेसे किसीको लज्जा का अनुभव हो। हमारे यहाँ कवि-सम्मेलनोंमें बहुत बार भोंड़ी रचनायें सुननेमे आती हैं। रुचिका परिष्कार अच्छे साहित्यके निर्माणके लिये आवश्यक है।

२०१२ वि०]

———

भारतीकी अपूर्व प्रतिभा निराला

'ही दैट आफ सच ए हाइट हैज बिल्ट हिज माइंड ऐण्ड रेयर्ड द ड्वेलिंग आफ हिज थाट्स सो स्ट्रांग ऐज नाइदर फियर नार होप कैन शेक द फ्रेम आफ हिज रिजाल्व्ड पावर्स, नार आल द विंड आफ वैनिटी एण्ड मैलिस पियर्स टु रांग हिज सेटल्ड पीस'

ये पंक्तियाँ अंग्रेजी कवि समुएल डेनियलने एक व्यक्तिके सम्बन्धमें लिखी थीं। कविवर निरालाके सम्बन्धमें उन सभी लोगोंके हृदयोंमें इसीकी प्रतिध्वनि उठती होगी जिन्होंने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं और उन्हें निकटसे देखा है। निराला हैं प्राचीन वट वृक्ष जिसने आतप और शीत, आंधी और झंझा देखा है और अडिग चट्टानके समान सबका स्वागत किया है। उनका आरम्भिक जीवन जिन्होंने देखा है उन्हें स्मरण होगा कि यही नहीं कि उनकी अवहेलना की गयी अपितु कटूक्तियोंसे, व्यंगोंसे और भर्त्सनासे उन्हें तथा उनकी रचनाओंको पुरस्कृत किया गया। मानवसमाजका सदासे यही ढंग रहा है कि प्रचलित प्रणालीको छोड़कर जब नवीनता आयी है, मिटी हुई लीक छोडकर जब किसीने नयी राह पकड़ी है, धर्म, साहित्य, राजनीतिको जब नयी दृष्टिसे किसीने देखा है तब-तब उसे गालीका ही उपहार मिला है, जबरदस्त आलोचनाका उसे सामना करना पड़ा है। जिसमें सचाई रही है और इसके बूतेपर जो खड़ा रह गया उसे सफलता मिली, वह हमें कुछ दे गया।

निरालाका शैशव बंगला भाषाके सम्पर्कमें बीता। कालिदास और तुलसीदासके समान पत्नीकी प्रेरणासे उन्होंने हिन्दी सीखी। छायावादका प्रभात था। प्रसादने 'इन्दु'के माध्यमसे नयी प्रतिभाका परिचय हिन्दी संसारको दिया। निरालाको

कलकत्तेमें 'मतवाला' मिला। हिन्दी कविताको नये टेकनिकका आश्रय मिला। पुरानी परम्परामें पले हुए साहित्य-मनीषियोंको यह रुचा नहीं। मुक्त छन्दको उन्होंने 'रबड़' छन्द और 'केचुआ' छन्द कहकर हँसी उड़ायी। वे यह नहीं समझते थे कि आगे चलकर भावनाओंकी अभिव्यक्तिका यह साधारण माध्यम होगा। कम ही लोग भविष्यकी रेखा पढ़ सकते हैं। पुराने समयमें भी आलूको लोगोंने नहीं अपनाया, तम्बाकूका बहिष्कार किया। दोनों जीवनसंगी बने। विषयोंमेंभी वे नवीनता लाये। अधिक महत्व था नयी दृष्टिसे उन्हें देखनेका, नये ढंगसे प्रकाशनका। यह भी लोगोंकी समझमे न आया। इसकी विचित्रता अच्छी न लगी।

निरालाकी रचनाएँ दो दृष्टियोंसे महत्वकी हैं। जितने नवीन छन्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है उतने अभीतक हिंदीके किसी कविने नहीं किया। यों तो पिंगल शास्त्रके अनुसार कोई नया छन्द नहीं बन सकता। महर्षि पिंगलाचार्यने सभीका वर्णन, संकेत तथा नियम बता दिया है। किन्तु इनका प्रयोग नहीं किया जाता था। कविता संस्कृत वृत्तोंमें लिखी जाती थी अथवा मात्रिक छन्दोंमें। पहलेमें कम, दूसरेमें कुछ प्रचलित बंधे छन्द थे। निरालाने नये छन्द गढ़े जिनसे हिंदी जनता अपरिचित थी। 'ह्विटमन'की मुक्त छन्दप्रणालीका उन्होंने हिन्दीमे खुले दिलसे प्रचार किया। उसमें भी संगीतमय धारा बहायी। अपने संगीतज्ञानसे रचनामें सहायता ली। गीतोंको भी निरालाने सजीवता प्रदान की। लोगोंका मत था कि खड़ी बोलीमें गीत लिखे ही नहीं जा सकते थे। उनके सौष्ठवके लिए ब्रज भाषा ही रिजर्व थी। उनके गीतोंको उन्हें गाते जिन्होंने सुना है वे जानते होंगे कि उनमें कितना रस है, उनकी आत्मा कितनी सजीव है। इसीके साथ यह भी जानना चाहिये कि शब्दोंको उन्होंने शक्ति प्रदानकी है। ब्रज भाषाके कवियोंने शब्दोंको गढ़कर हिंदीको बहुत समृद्ध किया। देवने, बिहारीने और घनानन्दने भी अनेक शब्दोंको घिस-घिसकर शालिग्राम बनाया। निरालाने भी शब्दोंको बनाया और उनका प्रयोग किया। खड़ी बोलीमें यह कार्य औरोंने बहुत कम किया प्रायः नहीं किया।

विचारों और विषयोंका उनका चयन महत्वका है। तुलसीदास, रामकी शक्तिपूजा तथा परमहंस रामकृष्ण, छोटे-छोटे कथानक हैं। प्रबन्ध काव्यके शिशु उन्हें कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीत लिखे हैं। काव्यसंसारमें अमर रहनेके लिए केवल गीतका सहारा लेना खतरेसे खाली नहीं है। सब लोग सूर, कबीर या मीरा नहीं हो सकते जब तक मुक्तकमें इतना बल न हो कि वह लोगोंकी आत्मामें घर कर जाय।

निरालाकी एक और विशेषता रही है कि वह भारतीय संस्कृतिसे प्रभावित रहे हैं। उनकी आत्मा उससे ओत-प्रोत है। तुलसीदास, रामकी शक्तिपूजा आदि रचनाओंमें अथवा उनके गीतोंमे भारतीयता कूट-कूटकर भरी मिलेगी। किंतु यह न समझना चाहिये कि वह भारतीय सस्कृतिके आवरणमें लीचड़ताका प्रचारकर रहे हैं। उन्होंने पुरानी निर्जीव स्मृतियोंमें प्राण प्रतिष्ठाकी है। उनके सम्बन्धमें भ्रम फैलनेका मुख्य कारण यह रहा है कि लोगोंने उनकी रचनाएँ समझीं कम। भाषा-की कठोरता अवश्य उनकी कविताओंमें है, किन्तु इससे अधिक है भावोंको समेट-कर थोड़ेमें रखनेका प्रयास। सस्कृतनिष्ठ भाषाका स्वच्छन्दता पूर्वक प्रयोग, समास युक्त पदावली, नये शब्दोंका गढना उनकी रचनाओंको कठिन बना देता है। उनकी रचना समझनेके लिए भाषा-ज्ञान आवश्यक है। इन चट्टानोंको तोड़िये तब तो भीतर स्वर्णके टुकड़े मधुर शीतल जलके स्रोत मिलते हैं।

कल्पनाके आकाशमें विहरनेवाला यह पक्षी धरतीपर नहीं उतरता, ऐसा नहीं है। अपनी रचनाओंमें समाजकी विषमताओंको, समाजकी कुरुचियोंको कवि भूला नहीं है। 'वह तोड़ती पत्थर' 'ठूठ', आदिमें बड़ी सुन्दरतासे, मनोहर उक्तियोंद्वारा कटाक्ष किया गया है। 'कुकुरमुत्ताको' लोगोंने केवल परि-हासकी तुकबन्दी माना। कम लोगोंने समझा कि यह हास-परिहासके आवरणसे पूंजीवादपर बहुत सुन्दर व्यग्य है। 'कुकुरमुत्ता' सर्वहाराका प्रतीक है। वैसा ही उपेक्षित, तिरस्कृत और अपरिष्कृत। किन्तु जैसे प्रचारवादी रचनाएँ लाठीमार शब्दोंकी जोड़ होती हैं, इसमें वह बात नहीं है। इसमें काव्यकी सुन्दरता भी है। 'चतुरी चमार,' 'कुल्ली भाट' आदि गद्य रचनाओंमें भी व्यंग ही का प्राधान्य है।

जैसा बल निरालाके शरीरमें है वैसा ही ओज वैसी ही शक्ति उनकी वाणीमें है। सम्भवतः इतना ओज आजके किसी कविकी रचना में नहीं पाया जाता। यों तो उनके अनेक गीत ऐसे हैं जिन्हें सुनकर रक्तमें रवानी आ जाती है। शिमला साहित्य सम्मेलनके अवसरपर जब श्री सत्यनारायण सिंहके (जो इस समय संसदके मंत्री हैं) एक वाक्यसे सारा वातावरण क्षुब्ध हो गया था। निरालाने जब 'आओ फिर एक बार' अपनी गरजती हुई वाणीसे स्वरका संधान करते हुए पढ़ा, सारा पंजाबी समुदाय श्रद्धासे, सम्मानसे गद्‌गद् हो गया, आनन्दसे पुलकित हो गया। सीजरके समान क्षणभरमें उन्होंने सबपर विजय प्राप्त कर ली। 'तुलसीदास' और 'रामकी शक्ति पूजा'में वाणीको जो गौरव निरालाने प्रदान किया है वह पढ़ने और सुनने-

वाले जानते हैं। भारतीय इतिहास और संस्कृतिकी हड्डियोंमें जान फूंककर आपने मूर्ति खड़ी कर दी जो हमको झकझोरकर जगा देती है।

जब एक प्रतिभाका ऐसा विकास लोगोंने देखा, स्वार्थसे रहा न गया। 'जे बिन काज दाहिनें बाये' उनके विरोधमें अनर्गल प्रचार करने लगे। इसका उनके मनपर प्रभाव पड़े बिना न रह सका, फिर भी अच्छी काव्यशक्ति क्षीण नहीं हुई। अभी कुछ मास पूर्व इन पंक्तियोंका लेखक उनसे मिला था। उन्होंने अपना नया संग्रह 'अर्चना' दिया था। 'अर्चना' पढ़नेसे पता चलता है कि निराला कवि अभी वही है जिसने 'आज संवार सितार दे' लिखा था। स्थानकी संकीर्णताके कारण इस लेखमें 'अर्चना' पर साहित्यिक दृष्टिपात करना सम्भव नहीं है। इतना कहा जा सकता है कि कविने यहां भी वही सांस्कृतिक मर्यादा रखी है। इसमें भी वही भक्तिकी गम्भीरता है, भावोंकी सचाई है जो उसकी पहलेकी रचनाओंमें है।

[सन् १९५३]

—.o:—

यथार्थवादकी कुप्रवृत्तियाँ

कलियुग आप इसे भले ही न मानें किन्तु कर युग तो मानना ही पड़ेगा क्योंकि जिधर देखिये उधर कर ही कर है और उसके बोझसे ही हम धराशायी हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें हमारी रचनाएँ जिस युगमें हम रहते हैं उसीके अनुसार होनी चाहिये। आजके जीवनमें आनन्द नहीं है। कोई भी साहित्य समाजसे, मानव जीवनसे अलग नहीं बन सकता। वही तो उसका प्राण है, वह साहित्यका आधार है। यह अपनेको धोखा देना होगा कि हम किसी रचनाको इसकी परिधिसे बाहर रख सकें। किंतु हमारे पूर्वज साहित्यिक आलोचकोंने एक ऐसा शाश्वत जाल बुन रक्खा है मजाल नहीं, कोई साहित्यकार उससे बाहर निकल आये। हाँ ऐसी रचनाएँ हो सकती हैं जिनका हमारे हृदयपर कुछ भी प्रभाव न पड़े। वह रसके भाव हृदयमें नहीं उत्पन्न कर सकती किन्तु ऐसी नीरस रचनाओंको साहित्य कहना साहित्यके प्रति अन्याय करना है। मान लीजिये एक रचना है :—

"चाँदनी रात,
आओ हम—तुम करें बात।
कंपित क्यों तुम्हारा गात,
तब 'उल्लू' बोल उठा हठात्"॥

इसमें यथार्थवाद है इसमें सन्देह नहीं। इसकी अभिव्यंजना यों है। प्रेमी और प्रेमिका चाँदनी रातके सुन्दर वातावरणमें बैठे हैं। रसिकता है। बैठने का सामान न हो तो खड़े हैं। दोनों बात कर रहे हैं। प्रेमी प्रेमिकाका स्पर्श करता है। उसका शरीर काँप रहा है। प्रेमी पूछता है तुम्हारा शरीर क्यों काँप रहा है। तुम्हें निर्भय होना चाहिये। लाज तथा संकोच पुरातनके प्रतीक हैं। इसी समय उल्लू बोल उठा। उल्लू पूंजीपतिका प्रतीक है जो सब कामोंमें बाधा डालता है, जैसे प्राचीन युगमें इन्द्र सब तपस्याओंमें बाधा डालते थे। इससे किसी रसका उद्रेक हृदयमें होता है किन्तु क्या इसे आप साहित्य कहेंगे? यदि इसे आप साहित्य कहेंगे तो मिट्टीके तेलको सुधा, शिरीषके पुष्पको वज्र, मच्छरको ह्वेल और मेजपरके पेपर वेटको हिमालय पहाड़ कहनेमें कोई हानि न होगी। साहित्य यदि साहित्य है तो वह हृदयको स्पर्श करेगा और किसी न किसी रसकी निष्पत्ति होगी।

यह सत्य है कि यथार्थवादी साहित्य समाजका सुधार करना चाहता है। समाजमें जो विषमता है आर्थिक और राजनीतिक, उसीपर उसका आक्रमण है। अन्याय अत्याचारपर उसका आक्रोश है। यह कोई अनुचित बात नहीं है। इन्हें वह मिटाना चाहता है किन्तु वह चाहता क्या है?—वह वही चाहता है जो आदर्शवादी अपनी रचनामें चित्रित करता है। आदर्शवादी किसी वस्तुको पूर्ण रूपमें, सुन्दर रूपमें देखता है। यथार्थवादीका ध्यान अपूर्णताकी ओर रहता है। सम्भवतः ध्येय दोनोंका एक है किन्तु अभिव्यक्तिके ढंगमें अन्तर है। अपूर्णताकी ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। ऐसा पहले भी होता रहा है। रामचरित मानसमें कलिकालके वर्णनमें इसका संकेत है। भारतेन्दुका भी ध्यान इस ओर गया था और उनके पीछे आने वाले लोगोंने भी समाजके अभावों की ओर रचनाओंमें देखा था और अपनी रचनाओंमें व्यक्त किया था। अवश्य ही उनमें वह तीव्रता नहीं थी, वह स्पष्टता नहीं थी।

शतियोंकी दासताने हमें हताश कर दिया है। हम अपनेको पराजित अनुभव करते हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी हमारी आवश्यकताओं-की पूर्ति नहीं होती। उपकरण भी जो साधारणतः ठीक ढंगसे जीवनयापनके लिए आवश्यक हैं, उपलब्ध नहीं होते तब हृदयका विचलित हो जाना स्वाभाविक है। आजका साहित्यकार खुले शब्दोंसे इन अभावोंकी ओर ध्यान दिलानेको विवश

हो गया है। इस प्रवृत्तिको कोई रोक नहीं सकता। रोकनेका प्रयास व्यर्थ होगा। रोका भी क्यों जाय? सत्यकी अभिव्यक्ति आवश्यक है। समय भी इसी प्रकार है। साहित्य समय और समाजसे पृथक नहीं हो सकता।

यथार्थवादकी अभिव्यक्ति यहीं तक होती तो किसीको विरोध न होता। किन्तु जिस ढंगसे आज इस साहित्यका निर्माण हो रहा है उससे सहमति नहीं हो सकती। एक बात तो यह है कि हम सदा विदेशी मान्यताओंकी ओर देखते रहते हैं। यह मानसिक दासता राजनीतिक दासतासे भी भयंकर है। दूसरी बात है शालीनताकी सीमाका उलंघन। गाली किसी विशेष अवसरपर भली लगती है, किसी विशेष व्यक्तिके मुखसे आनन्द-दायिनी होती है और हमें बार-बार सुनने-की इच्छा होती है किन्तु साहित्यमें इसका स्थान नहीं है। गालीसे हमारे कथन-को बल नहीं प्राप्त होता। हमारा खोखलापन, असंस्कृत अभिरुचिकी यह परिचायिका होती है। 'उल्लू, पाजी, हरामी' कह देनेसे यदि कोई बात प्रमाणित हो जाती अथवा सत्य स्पष्ट हो जाता तो राम, कृष्ण, बुद्ध, गान्धी गालीका ही सहारा लेकर सर्वहारासे बातचीत करते और उन्हें अपने सिद्धात समझाते। वीभत्स उपमाओं, अशिव कल्पनाओं तथा अश्लील वर्णनोंके बिना भी यथार्थकी अभि-व्यक्ति हो सकती है। नयी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओंका बहिष्कार या तिरस्कार नहीं होना चाहिये; उनका स्वागत करना चाहिये किन्तु वह भद्दी और शिवेतर न हो। हम यदि अच्छा नहीं लगता तो किसी सुन्दरीके शरीरके रंगकी उपमा हम चम्पक अथवा कंचनसे भले ही न दें क्योंकि यह उपमाएँ बहुत घिस गयी हैं। उसके लिए नवीन उपमाएँ खोजें। किन्तु यह तो न कहें कि इसका रग पीबके समान है। किसीके उजले बालकी उपमा कुन्द, कपास या कपूरसे न देकर कोड़ीसे देना कहाँ तक साहित्यकी अभिव्यजनाको हितकर बना सकता है, सहृदयगण विचार करें। जिस औचित्यके सम्बन्धमें यहांके आचार्यों तथा आलोचकोंने सिर खपाया और साहित्य रचनाको सुन्दर बनानेके लिए विशद विवेचना की, उसका ज्ञान इन साहित्यकारोंको नहीं है। यदि इसकी जानकारी हो तो सम्भवतः ऐसा न हो।

दूसरी बात कामवासनाके सम्बन्धमें है। काम कोई घृणित या उपेक्षित भावना नहीं है, मनुष्यकी एक आवश्यक बुभुक्षा है और संसारमें सृष्टिकी परम्परा प्रचलित रखनेके लिए आवश्यक गुण है। पुराने धर्म शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, मनुष्यके सफल जीवनके लिए आवश्यक उपकरण समझे गये। मोक्ष प्राप्तिके पहले कामवासनाकी तृप्ति आवश्यक समझी गयी किन्तु जिस भद्दे और बीभत्स ढगसे

उसका वर्णन कुछ लेखक अथवा कवि यथार्थवादके नामपर आज कर रहे हैं, वह सभ्यता, शिष्टताके नितान्त प्रतिकूल है। जो रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं अथवा पुस्तकोंमें प्रकाशित होती हैं :वह सरलतासे सबके हाथोंमें पहुँच जाती हैं कन्याएँ, अबोध बालक सभीको उन्हें पढ़नेका अवसर मिलता है—यह कहाँ तक उनके जीवनके लिए लाभप्रद होगा यह विचारकोंके सोचनेकी बात है। यदि ये लेखक यह समझते हैं कि नग्नसे नग्न कामुकताका वर्णन भी बाल-बच्चे, कन्याएँ और कुमारियाँ पढ़ें, इससे उनके जीवनका कल्याण होगा, तब दूसरी बात है। यह किसी अंशमे सत्य भले ही हो कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिको दबानेसे हमारे मन और शरीरमें विकार और दोष उत्पन्न होते हैं। पश्चिमके वातावरणमे, वहांके समाजमें सेक्सकी बाते ऐसी हो सकती हैं जिनपर फ्रायडका सिद्धात लागू हो। हमारे यहाँका समाज, हमारे यहाँका पारिवारिक जीवन, पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्रीका सम्बन्ध ऐसा है और न जाने किस युगसे ऐसा चला आ रहा है कि सेक्सकी बातें अधिकांश इस प्रकार नहीं होती जिससे बालक-बालिकाओंके मनपर कुप्रभाव पड़े, इसलिए किसी प्रवृत्तिको दबाने या रोकनेकी समस्या नहीं उत्पन्न होती।

एक मनोरंजक बात और है। शृङ्गार-कालीन युग जब पतनकी सीमापर पहुँचा और भक्तिकी वास्तविक भावना न रही, दरबारी कवि राधा और कृष्णके बहाने कामोत्तेजक और वासनापूर्ण रचनाएँ अपने संरक्षकोंको सुनाने लगे, उस समयकी रचनाओंपर वर्तमान युगके आलोचकोंका तीक्ष्ण आक्षेप होता है। उन्हें वासनाके यज्ञमें घी डालनेवाला कहा जाता है, कामको जाग्रत करनेवाला कहा जाता है और नाना प्रकारके लाञ्छनोंसे उनका स्वागत किया जाता है। मेरे सम्मुख अनेक ऐसी रचनाएँ आयी हैं जो शृंगार-कालीन रचनाओंसे भी अधिक उत्तान शृंगारसे परिपूर्ण हैं और मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्यकी गति-विधिसे जो लोग परिचित हैं, उनके सम्मुख भी आयीं होंगी।

यदि उपर्युक्त कुप्रवृत्तियाँ यथार्थवादी साहित्यसे निकाल दी जायँ तो मैं समझता हूँ कि यथार्थवादी साहित्यसे किसीका विरोध न होगा और यथार्थवाद आदर्शवादका पूरक हो जायगा।

[सन् १५६६ ई०]

———

कामायनी

भारतका वातावरण इस समय भावुकता प्रधान हो रहा है। राजनीति, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि सभी विषयोंपर भावुकताकी छाप है। अंग्रेजीमे साधारणतः ऐसे कालको 'रोमाटिक' युग कहते हैं। समाजमें परिवर्तनके साथ ही कविता, कला आदिमें भी स्वभावत परिवर्तन हो जाता है। हिंदी साहित्यपर भी ऐसा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। खड़ी बोलीकी कविता आरंभमें प्राचीन परिपाटीका अनुसरण करती रही। साहित्यके किसी युगमें ऐसा तो कभी नहीं होता कि प्राचीन परंपरा बिलकुल नष्ट हो जाय। आज भी राधारानी संबंधी कविताएँ और रीतिकालके विचारोंके पोषक कवि देखे जाते हैं। परन्तु प्रत्येक युगमें उस समयकी विशेषता होती है। उस कालकी आत्मा सबके ऊपर बोलती रहती है और बाकी वाणी मूकप्राय होती है।

बहुत शीघ्रतासे हिन्दीमें 'रोमाटिक' युगके लक्षण दिखाई पड़ने लगे, यद्यपि इसका आरम्भ मुक्तक गीतिकाव्यों द्वारा हुआ। जिन्होंने हिंदी साहित्यकी गतिकी ओर सूक्ष्म दृष्टि नहीं रखी है वे प्रसादजीको नाटककार ही समझते रहे हैं। यह मैं नहीं कहता कि और लोगोंने खड़ी बोलीके रोमांटिक युगके प्रारम्भमे काव्य-कालके विकासमें हाथ नहीं बँटाया, परन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रसादजी रोमांटिक युगके प्रथम प्रमुख कवि थे। यद्यपि उस कालकी और आजकी आपकी कविताओंमें आकाश पातालका अन्तर है, जो स्वभाविक है, फिर भी उस समयकी कविताओंमें भी आपकी कल्पना मौलिक मार्गपर चल रही थी जिसे लोगोंने छाया-वादका नाम देना आरंभ कर दिया था।

'रोमांटिक' कालमें गीतिकाव्य का बड़ा महत्व होता हैं। हृदयकी भावुकताओंका स्रोत उमड़ा रहता है जो संगीतकी लयमें फूटे बिना रह नहीं सकता। यह कहना तो ठीक न होगा कि मुक्तक रचनाओंमें कवि अपना संदेश संसारको सुना नहीं सकता। कीट्सने सौंदर्यका, शेलीने मानवताका, वर्ड्स्वर्थने प्रकृतिकी सजीवताका सन्देश-गीतिकाव्य द्वारा ही दिया। फिर भी उनमें वह शक्ति नहीं जो मिलटनके 'पैरेडाइस लास्ट' के गरजती हुई स्वतन्त्रताके सन्देशमें अथवा दांतेके उस राजनीतिक सन्देशमें है जो उसने 'डिवाइना कामीडिया' में दिया है। और हमारे यहाँ? पद्माकर, बिहारी, देवके पास मनुष्यके लिये क्या सन्देश है? सिवा तुलसीके और कुछ-कुछ मीराके और कवियोंके पास समाजमें कुछ कहनेको है या नहीं, इसमें सन्देह है।

महाकाव्यकी एक महत्ता है। उसके लिये साधनाकी आवश्यकता है। कथानक तो रेखामात्र होता है, जो रंग भरा जाता है वही मनुष्य समाजके लिये जीता जागता चित्र बना देता है। कथानकके व्याजसे कवि मनुष्यके लिये कोई आदर्श और सन्देश उपस्थित करता है। हिन्दीमें खड़ी बोलीमें 'प्रिय प्रवास' पहले पहल महाकाव्यके रूपमें उपस्थित हुआ। जहाँतक मुझे मालूम है, 'साकेत' दूसरा है और 'कामायनी' तीसरा। मैं और दोनों पुस्तकोंके सम्बन्धमें कुछ न कहकर 'कामायनी' पर एक दृष्टि डालता हूँ।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि यह हिन्दीका रोमांटिक काल है। कामायनी अथसे इतितक रोमांटिक काव्यके गुणोंसे विभूषित है। कामायनीका कथानक पौराणिक कथाओंके आधारपर नहीं है। कविने इस बातपर ध्यान दिया है कि राम और कृष्णकी कथा, वाल्मीकि और व्यासके कालसे लेकर आजतक अनेक बार कही जा चुकी है। तेजसे तेज तलवारकी धार भी बहुप्रयोगसे कुंठित हो जाती है। इसलिये कविने इन आधारोंके ऊपर अपना प्रासाद खड़ा करनेकी चेष्टा नहीं की। साथ ही प्रसादजीमें विशेषता यह भी थी कि वे प्राचीन भारतीय संस्कृतिके पक्षपाती थे। उनकी कविताओं तथा नाटकोंमें यत्र-तत्र इसका प्रमाण मिलता है। इसलिये उन्होंने अपने महाकाव्यका आधार वैदिक गाथाको बनाया।

सृष्टि और प्रलय सभी धर्मोंमें विशिष्ट स्थान रखते हैं। सभी पुराणोंमें इस सम्बन्धमें विचित्र कल्पनाएँ हैं। हिन्दुओंमें सृष्टिके सम्बन्धमें जो कल्पना है वह शतपथ ब्राह्मण और भागवत आदिके आधारपर है जिसका सारांश यह है कि

देवोंकी सृष्टि जल निमग्न हो गयी, केवल मनु बच रहे, श्रद्धा जिसके लिये वेदोंमें कामायनी शब्द भी आया है मनुकी सहयोगिनी बनी और इन्हींके द्वारा मानवी सृष्टिका सर्जन हुआ। जैसा कि कविने आमुखमें लिखा है, यह रूपक भी हो सकता है श्रद्धा और मनुके सहयोगसे संसारकी सृष्टि हुई हो।

कामायनीका कथानक यों है—मनु शिलाखंडपर बैठे हैं, जल हिलोरें ले रहा है, मनु देवताओंकी गत सृष्टिपर विचार कर रहे हैं। उनकी बुराइयोंको सोचकर मनु चिन्ता और शोकमें मग्न होते हैं। ऊषाके उदयके साथ-साथ आशाका भी संचार होता है, श्रद्धाका आगमन होता है। सौन्दर्य और यौवनके समागमसे काम और वासनाकी जागृति होती है और प्रेमके पुरस्कार रूप एक पुत्र उत्पन्न होता है। मनुको ईर्ष्या होती है, ईड़ाका आगमन होता है और मनु इस ओर खिंच जाते हैं। मनु श्रद्धाको छोड़कर चले जाते हैं। फिर कुछ दिनों बाद दोनों मिलते हैं।

यह काव्य वास्तवमें सृष्टि-प्रक्रिया और मनुष्यकी आत्माके विकासका रूपक है। कविने काव्योचित स्वतन्त्रतासे भी काम लिया है।

इस महाकाव्यका सबसे बड़ा गुण इसका गीतिमय सौन्दर्य है। कहीं कोई स्थल ले लीजिये आभ्यान्तरिक स्वर-लहरी तरंगायित हो उठती है। गीति-काव्यका प्रधान गुण मनोभावोंकी अभिव्यंजना है। वह पद-पदपर इस काव्यमें उपस्थित है। कथानक बहुत बड़ा नहीं है और प्लाट सीधा-साधा है। नाटकोंकी भाँति चरित्र-चित्रणमें ज्वार-भाटाका सा उतार-चढ़ाव नहीं है। परन्तु जितने भी पात्र हैं उनके चरित्र पारिपक्व हैं। मनु परिस्थितियोंके दास हैं। और शेक्सपियरकी भाँति प्रसादजीने भी पुरुषके प्रोत्साहनका श्रेय स्त्रियोंको ही दिया है। श्रद्धा ही मनुके संशयोंका निवारण करती हैं और वही उनके सुखका कारण बनती है, जैसे मानव-जीवनकी सिद्धि श्रद्धासे हो हो सकती है। जीवनके विकासके लिये ईड़ा अथवा बुद्धिकी जितनी आवश्यकता है उतना ही उसका पार्टभी इस काव्यमें है। समाजके विकासके लिये और उसके उपकरणोंके लिये बुद्धिको आवश्यकता है। यह स्वयं ईड़ाके शब्दोंमें सुनिये। मनुसे ईड़ा कहती है—

हाँ तुम ही अपने हो सहाय!
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर,
फिर किसकी नर शरण जाय।

जितने विचार संस्कार रहे,
उनका न दूसरा है उपाय।
यह प्रकृति परम रमणीय,
अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन।
तुम उसका पटल खोलनेमें,
परिकर कसकर बन कर्म-लीन।
सबका नियमन शासन करते
बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।
तुम ही इसके निर्णायक हो,
हो कहीं विषमता या समता।
तुम जड़ताको चैतन्य करो
विज्ञान-सहज साधन उपाय।
यश अखिल लोकमें रहे छाय।

प्रसादजीकी वर्णन-शैली सदासे ही बड़ी मनोरंजक और सुन्दर कल्पनाओंसे परिपूर्ण रही है। वह शैली इस महाकाव्यमें और भी सजग हो उठी है। वर्णनोंमें सिनेमाके चित्रकी भाँति एकके बाद एक रंगीन सजीव चित्र अपने चित्ताकर्षक रूपमें चले आते हैं। श्रद्धा आती है, मनुसे पूछती है—

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर
तरंगोंसे फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जनका चुपचाप
प्रभाकी धारासे अभिषेक।

मनुकी क्या अवस्था होती है—

'सुना यह मनुने मधु गुंजार,
मधुकरीका-सा जब सानन्द।
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कविका ज्यों सुन्दर छन्द।"

श्रद्धाके सौन्दर्यका वर्णन कविने कितना सुन्दर किया है यह लिखकर बताया नहीं जा सकता। सब उद्धरण देना भी सम्भव नहीं। एक छन्द लिखता हूँ—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।

खिला हो ज्यों बिजलीका फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।'

जब मनु श्रद्धाके प्रेममें अपनेको एक प्रकार भूल जाते हैं और श्रद्धाकी अनुपस्थितिमें भविष्यकी कल्पना करते हैं, उस अवसरकी दो चार पंक्तियाँ सुनिये। कितनी कोमल कल्पना है—

हम दोनोंकी सन्तान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली।
रंगोंसे जिसने खेला हो
ऐसे फूलोंकी वह डाली।
जड़ चेतनताकी गाँठ वही
सुलझन है भूल सुधारोंकी।
व शीतलता है शान्तिमयी
जीवनके उष्ण विचारोंकी।

जब श्रद्धाने अपनेको मनुके समर्पण कर दिया है उस समय कविने उसके मुखसे जो कुछ कहलाया है वह नारीत्वकी परिभाषा ही है—

किन्तु बोली, "क्या समर्पण आजका हे देव
बनेगा चिर-बन्ध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल कहो क्या ले सकूंगी दान
वह, जिसे उपयोग करनेमें विकल हो प्रान।"

लज्जावाला सर्ग तो कोमल कल्पनाओं और सुन्दर भावनाओंका 'अलबम' है। केवल पाँच छन्द पाठकोंकी भेंट करता हूँ—

लज्जा कहती है—

मै रतिकी प्रतिकृति लज्जा हूँ,
मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पगमें
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलोंकी
आँखोंमें अंजनसी लगती।

कुंचित अलकोंकी घुंघराली
मनकी मरोर बनकर जगती।
चंचल किशोर सुन्दरताकी
मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकीसी मसलन हूँ
जो बनती कानोंकी लाली।

फिर श्रद्धा उससे पूछती है और नारीत्व का ऐसा स्वाभाविक और सुन्दर चित्र खींचती है कि कविकी कलापर मन मुग्ध हो जाता है। श्रद्धा कहती है—

यह आज समझ तो पायी हूँ।
मैं दुर्बलतामें नारी हूँ।
अवयवकी सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।

× × × ×

सर्वस्व समर्पण करनेकी
विश्वास महा तरु छायामें।
चुपचाप खड़ी रहनेको क्यों
ममता जगती है मायामें।

× × × ×

निस्संबल होकर तिरती हूँ
इस मानसकी गहराईमे।
चाहती नहीं जागरण कभी
सपनेकी इस सुघराईमें।

× × × ×

मैं जभी तोलनेका करती
उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ।
भुज-लता फँसाकर नर-तरुसे
झूलेसी झोंके खाती हूँ।
इस अर्पणमे कुछ, और नहीं,
केवल उत्सर्ग झलकता है।

मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ

इतना ही सरल झलकता है।

इसी प्रकार कविने प्रकृति-वर्णन बड़ा ही सुन्दर और सजीव किया है। निशीथ-शोभा, सन्ध्या और प्रभातकी सुषमा, सागरकी तरंगोंकी सुन्दरता, वनका वैभव खूब बेजोड़ ढंगसे लिखा गया है। स्थानाभावसे मैं अवतरण नहीं देता हूँ।

कामायनी कर्मवाद और नियतिवादका ऐसा मिश्रण है कि मैं स्वयं निश्चय नहीं कर सका कि प्रधानता किसकी है। घटनाएँ तो सभी नियतिके चक्रमें पड़कर घटी ही हैं। उनपर न मनुका अधिकार है न श्रद्धाका वश। किन्तु श्रद्धा और ईड़ा दोनों कर्म करनेका स्थान-स्थानपर बड़े जोरोंमें उपदेश देती हैं। श्रद्धा कहती है—

और यह क्या तुम सुनते नहीं

विधाताका मंगल वरदान।

शक्तिशाली हो विजयी बनो,

विश्वमें गूँज रहा जय-गान।

फिर एक जगह—

कहा आगन्तुकने सस्नेह।

अरे तुम इतने हुए अधीर

हार बैठे जीवनका दाँव।

जीतते मरकर जिसको वीर"

कुंठित, जर्जर, भस्मीभूत प्राचीनताकी राखसे नवीन सृष्टिके सर्जनका उपदेश सुनिये—

प्रकृतिके यौवनका शृंगार,

करेंगे कभी न बासी फूल।

मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र

आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनताका यह निर्मोह

सहन करती न प्रकृति पल एक।

नित्य नूतनताका आनन्द

किये है परिवर्तनमें टेक।

ऐसे विचार एक दो जगह नहीं पुस्तकभरमें भरे पड़े हैं। वर्तमान भारत के लिये कैसा उत्साहवर्द्धक संदेश है।

लेख बहुत बढ़ गया है, इस कारण हिन्दीके और महाकाव्योंसे तुलनात्मक विवेचनके लोभको संवरण करना पड़ रहा है। परन्तु इतना कहना ही होगा कि खड़ी बोली में इस ढंगकी दूसरी रचना अभी नहीं हुई। अनेक दृष्टियोंसे यह काव्य प्रसादजीकी बड़ी परिपक्व रचना है।

पुराने आचार्योंने महाकाव्योंमें जिन जिन बातोंकी आवश्यकताएँ बतायी हैं 'कामायनी'में वह सब हैं कि नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु यह वह सजीव रचना है जो साहित्य-संसारमें अमर होगी यह मेरा विश्वास है।

[सन् १९३७ ई०]

'प्रसाद' का व्यक्तित्व

इधर हिंदीमें जितनी रचनाएँ निकली हैं उनमें कामायनी सबसे महान है, इसमें किसी सुलझे साहित्यकारको सन्देह नहीं हो सकता। रामचरित मानसके पश्चात इस गम्भीरता तथा इस ऊँचाईकी रचना देखनेमें नहीं आयी। उसका कवि भी कितना महान था यह सब लोग कदाचित् नहीं जानते। प्रसादजीने अपना जीवन चरित नहीं लिखा। पुराने किसी कविने नहीं लिखा। दूसरोंने भी नहीं लिखा। प्रसादके सम्पर्कमें रहनेवालोंने भी इसकी आवश्यकता नहीं समझी।

मैं उनके जीवनकी कुछ घटनाओंका वर्णन यहाँ करूँगा जिससे उनकी महत्ता और हृदयकी विशालताका पता चलता है। उनके एक भानजे थे श्री अम्बिका-प्रसाद गुप्त। जब वह चलते थे तब 'शिव शिव' कहा करते थे। यही उनके प्रणामका भी ढंग था। और प्रत्येक बातपर भी 'शिव शिव' कहा करते थे। साहित्य प्रेमी भी थे। उन्होंने एक मासिक पत्र निकाला 'इन्दु'। इसमें प्रसादजीकी भी प्रेरणा थी। उस समय सरस्वतीके अतिरिक्त कोई सुन्दर मासिक पत्र नहीं निकलता था। इन्दु बहुत ही प्रकाशवान निकला। ऊँची कोटिकी साहित्यिक रचनाएँ उसमें निकलती रहीं। पत्र लोकप्रिय भी हुआ। किन्तु हिन्दी पत्रकारिताके अनुभवी जानते हैं कि पत्रोंके चलानेमें कितनी कठिनाइयाँ होती हैं। पत्रमें घाटा हो रहा था। प्रसादजीने भी सहायता की किन्तु चला नहीं, पत्र बन्द हो गया। कुछ दिनोंके पश्चात अम्बिका प्रसादजी प्रसादजीसे रुष्ट हो गये। मित्रोंने सम्बन्धियोंने उनके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा। प्रसादजीने यही नहीं कि किसीसे उस सम्बन्धमें

कुछ नहीं कहा, इनके विपरीत उनके परिवारको सदा आर्थिक सहायता प्रदान करते रहे और गुप्तजीके बाद भी वह सहायता चलती रही। प्रसादजीकी साहित्यिक ख्यातिसे बहुतसे लोग जलते थे। लिखनेका तो कम लोगोंका साहस हुआ किंतु बातोंमें बहुत लोग इधर-उधर उनके संबन्धमें कहते थे। किसी व्यक्ति अथवा आलोचकके संबन्धमें उन्होंने कभी प्रत्यक्ष या परोक्षमें कुछ नहीं कहा, लिखनेकी बात तो दूर, सपना थी।

उन दिनों काशीमें एक पण्डित ज्वाला राम नागर थे। विद्वान भी थे, प्रतिभा सम्पन्न भी थे। प्राचीन परम्पराके समर्थक होनेके कारण प्रसादी शैलीके विरोधी थे। उन्होंने कुछ लेख लिखे जिनमें नवीन शैलीपर भद्दे ढंगसे आक्षेप किया। संध्याका समय था। कोई पाँच बजा था। प्रसादजी स्नान करके बाहर आये और एक खाटपर बैठे थे। दूसरी खाटपर मैं था और श्रीश्यामलाल थे जो इस समय कस्तूरबा ट्रस्टके मंत्री हैं और वर्धामें रहते हैं। हम लोग यों ही बात कर रहे थे। उसी समय एक सज्जन आये। वह अभी जीवित हैं। वह ज्वालारामके यहाँ भी आते-जाते थे। उन्होंने आते ही कहा कि नागरजीने आपके विरोधमें ऐसा लिखा है। प्रसादजीने कहा जान पड़ता है उस लेखसे आपको बड़ी चोट पहुँची। वह सज्जन कुछ खिसियाकर बोले—यह प्रवृत्ति साहित्यके लिए घातक है। प्रसादजीने कहा—यह तो आप लेख लिखनेवालेसे कहिये। उन्होंने कहा—यदि आप कुछ लिखें तो मैं 'आज'में छापनेके लिए दे आऊँ। प्रसादजी बोले—जबतक उस लेखका जवाब लिखूँगा तबतक एक कविता लिख डालूँ तो कैसा हो—आपकी क्या राय है। हम लोग हँस पड़े। वह सज्जन थोड़ी देर बाद पान खाकर चले गये।

जो लोग उनके यहाँ आते-जाते थे उनमें कुछ तो उनके मित्र थे, कुछ उनकी मित्रताका ढोंग बनाये हुए थे और कुछ निजी कार्यसे उनके पास जाते थे। प्रसादजी बहुत चतुर व्यक्ति थे। वह सबको समझते थे। कुछ लोग समझते थे कि हम प्रसादजीको मूर्ख बना रहे हैं। किन्तु ऐसी बात न थी। वह संसारका उतार-चढ़ाव देख चुके थे। वह अच्छी तरह जानते थे कि कौन धूर्त है, कौन मित्र।

अपने महल्लेवालोंसे उनका बड़ा प्रेमपूर्ण सम्बन्ध था। सबके कार्यमें सम्मिलित होना, उनकी सहायता करना उनकी विशेषता थी। महल्लेवाले उनको 'साव' कहा करते थे। उनके दुःख-सुखमें वह शरीक होते थे। काशीमें जब पहले

पहल हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ तब यह भी रातको महल्लेकी हर गलीमें टहलकर पहरा दे रहे थे। इससे महल्लेवालोंमें बहुत उत्साह था।

उनकी पढाई तो स्कूलमें बहुत कम हुई थी परन्तु उन्होंने निजी रूपसे अच्छा अध्ययन किया था। पुरातत्वमें उनकी विशेष रुचि थी। नाटकोंको लिखनेके पहले वह उस विषयका ऐतिहासिक अध्ययन अवश्य कर लिया करते थे। और उस समय जो पुस्तकें पूरब तथा पश्चिमके विद्वानोंने लिखी थीं उन्हें उन्होंने पढ़ लिया था।

वह परिष्कृत सनातन धर्मी विचारोंके थे। परम्परागत जो पूजा इत्यादि उनके घरमें चली आती थी उसका उन्होंने बड़ी आस्थासे निर्वाह किया। यद्यपि स्वयं बैठकर पूजा-पाठ नहीं करते थे। वह ईश्वरवादी थे और नियतिमें उनका गंभीर विश्वास था। वह विश्वास करते थे कि नियति जिधर खींचती ले जा रही है उधरसे हटना असम्भव है। मरणासन्न होनेपर भी वह किसी सैनिटोरियममें नहीं गये। वह कहते थे सैनिटोरियम नहीं बचायेगा यदि ईश्वर नहीं बचा सकता।

[सन् १९५१ ई०]

—:०:—

हास्यका मनोविज्ञान

हँसी क्यों आती है? किसी बात अथवा किसी स्थितिके भीतर कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसे सुनकर या देखकर लोग खिलखिला पड़ते हैं? जब शब्दोंमें श्लेषका व्यवहार होता है, जब कोई विचित्र आकार हम देखते हैं, जब हम सड़कपर किसीको बाइसिकिलसे फिसलकर गिरता देखते हैं अथवा जब किसी अभिनेताकी विचित्र भावभंगी देखते हैं, हमें हँसी आ जाती है। क्या इन सब व्यापारोंमें कोई ऐसी बात छिपी है जो सबमे सामान्य है? प्राचीन साहित्य-शास्त्रियोंने शृंगार रसके अन्वेषणमें इतनी छान-बीन की कि मालूम होता है, और रसोंकी सूक्ष्मतापर विचार करनेका उन्हें अवकाशही न मिला। हाँ, हास्यको उन्होने एक रस माना है अवश्य। इसका स्थायी भाव हँसी है--शब्द, वेश, कुरूपता इत्यादि उद्दीपन हैं। परंपराके अनुसार इसके देवता, रंग, विभाव, अनुभाव, सब स्थिर कर लिए गए। यह भी बताया गया कि हँसी कितने प्रकारोंकी होती है। यह सभी बाह्य बातें हैं। जहाँ उद्दीपनोंकी व्याख्या इस रसके संबन्धमें की गई वहाँ इसका भी विश्लेषण होना चाहिए था कि क्यों उन्हें देखकर हँसी आ जाती है। अरस्तू तथा अफलातून-जैसे विद्वानोंने इसपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की; पर असफल रहे। पाश्चात्य दार्शनिक सली, स्पेंसर आदिने भी इसपर विवाद किया है। अधिकाश विद्वानोंने इसी तर्कमें अपनी शक्ति लगा दी है कि किस बातपर हँसी आती है। क्यों हँसी आती है, इधर कम लोगोंने ध्यान दिया है।

प्रत्येक परिहासपूर्ण विषयमें तीन बातोंका समावेश होना आवश्यक है। पहली बात जो सब हँसीकी बातोंमें पाई जाती है, वह है 'मानवता'। बहुतसे लोगोंने मनुष्य

को वह प्राणी बतलाया है जो हँसता है। कोई प्राकृतिक दृश्य हो, बड़ा मनलुभावना हो, सुन्दर हो; परन्तु उसे देखकर हँसी नहीं आती। हाँ, किसी पेड़की डालीका रूप किसी मनुष्यके चेहरेके आकारके समान बन गया हो, अथवा किसी पर्वत-शिलाका रूप किसी व्यक्तिके अनुरूप हो, तो उसे देखकर अवश्य हँसी आ जाती है। कोई विचित्र टोपी या कुर्त्ता देखकर भी हँसी आ जाती है; परन्तु सचमुच यदि हम ध्यान दें तो टोपी अथवा कुर्त्तेपर हँसी नहीं आती, बल्कि मनुष्यने जो उसका रूप बना दिया है उसे देखकर हँसी आती है। इसी प्रकार सभी ऐसी बातोंके सम्बन्धमें--जिन्हें देख या सुन या पढकर हँसी आती है—यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि उसके आवरणमें मनुष्य किसी न किसी रूपमें छिपा है। दूसरी बात जो हँसीके विषयमें आचार्योंने निश्चित की है वह है वेदना अथवा करुणाका अभाव। भारतीय शास्त्रियोंने भी करुण रसको हास्यका विरोधी माना है। जब तक मनुष्यका हृदय शांत है, अविचलित है, तभी तक हास्यका प्रवेश हो सकता है। जहाँ कारुणिक भावोंसे हृदय उद्वेलित हो वहाँ हँसी कैसे आ सकती है? भावुकता हास्यका सबसे बड़ा वैरी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो हमारी दयाका पात्र है, अथवा जिसपर हम प्रेम करते हैं, उसपर हम हँस नहीं सकते। परन्तु उस अवस्थामें, क्षण ही भरके लिए सही, हमारे मनसे प्रेम अथवा करुणाका भाव हट जाता है। बड़े-बड़े विद्वानोंकी मंडलीमें, जहाँ बड़े परिपक्व बुद्धिवाले हों, रोना चाहे कभी न होता हो, हँसी कुछ न कुछ होती ही है। परन्तु जहाँ ऐसे लोगोंका समुदाय है जिनमें भावुकताकी प्रधानता है—बात-बातमें जिनके हृदयपर चोट लगती है, उन्हें हँसी कभी आ नहीं सकती। तुलसीदासका एक सवैया है—

> बिंध्यके बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
> गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे॥
> ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि काननको पगु धारे॥

इस कवितामें व्यंगद्वारा जो परिहास किया गया है उसके कारण सहज ही हँसी आ जाती है; परन्तु यदि हम इसे पढकर उस कालके साधुओंके आचरणपर सोचने लगें तो हास्यके स्थानपर ग्लानि उत्पन्न होगी। संसारके प्रत्येक कार्यके साथ यदि सबलोग सहानुभूतिका भाव रक्खें तो सारे संसारमें मुर्दनी छा जायगी। सबलोगोंके हृदयकी भावनाओंके साथ हमारा हृदयभी स्पन्दन करे तो हँसी नहीं आ सकती,

और वही यदि तटस्थ रहकर संसारके सभी कृत्योंपर उदासीन व्यक्तिकी भाँति देखा जाय तो अधिक बातोंमें हँसी आजाएगी। देहाती स्त्रियाँ किसी आत्मीयके मर जानेपर बड़ा वर्णन करके रोती हैं। यदि कोई उनका रोना सुने, पर यह उसे विश्वास हो कि कोई मरा नहीं है, तो सुननेवालेको हँसी आ जाएगी! रोनेका अभिनय जो कितने अभिनेता करते हैं उसे सुनकर रुलाई नहीं आती, बल्कि हँसी; क्योंकि वहाँ वेदनाका अभाव है। दूसरा उदाहरण लीजिए। कहीं नाच होता हो और गाना एकदम बन्द कर दिया जाय और बाजा भी, तो नाचनेवालेको देखकर तुरन्त हंसी आ जाएगी। हँसीके लिए आवश्यक है कि थोड़ी देरके लिए हृदय बेहोश हो जाय। भावुकताकी मृत्यु तथा सहानुभूतिका अभाव हास्यके लिये जरूरी है। हँसीका सम्बन्ध बुद्धि और समझ से है, हृदयसे नहीं। इसीके साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धिका सम्बन्ध और लोगोंकी बुद्धियोंसे बना रहना चाहिए। अकेले विनोदका आनन्द कैसे आ सकता है? हास्यके लिए प्रतिध्वनिकी आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूँजती है। परन्तु हँसनेवालोंकी संख्या अपरिमित नहीं हो सकती; एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बातपर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रोंमें जो व्यंग-विनोदकी चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं उनका आनन्द इसी कारण सबको नहीं आता; जिन्हे कुछ बातें मालूम हैं उन्हींको हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातोंमें होता है। दस व्यक्ति बातें करते हों और हँसते हों—जिन्हें उन बातोंका संकेत मालूम है वे तो हँसते हैं, और लोग बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नहीं आती। एक भाषाके विनोदात्मक लेखोंका सफल अनुवाद दूसरी भाषामें इसी कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले देशकी सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरेसे भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास-परिहासके व्यापारके भीतर छिपी रहती हैं—चाहे वह व्यङ्गचित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो; इन तीन बातोंकी भित्तिपर यदि ये बने हैं तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करनेसे हास्यका और भी विश्लेषण हो सकता है; पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसीके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तुमें साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते, समझते या पानेकी आशा करते हैं, उनमें सहसा या शनैः-शनैः परिवर्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समयका हो सकता है। जिस स्थानपर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा जो न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमे, जैसा ऊपर कहा जा चुका है,

गंभीरताका भाव न आने पाए। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एकबार एक मित्रके यहाँ तेरहवींके भोजमें हमलोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मजाक कर रहे थे और जोर-जोरसे हँस रहे थे। यह देखकर जिसके यहाँ हमलोग गए थे उसने कहा कि आपलोगोंको मालूम होना चाहिए कि आपलोग गमीकी दावतमें आये हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे सज्जनने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौकेपर आएँगे तो न हँसेंगे। इसे सुनकर बड़े जोरोंका कहकहा लगा। बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था; पर कहे जानेपर कोई हँसी न रोक सका। यहाँपर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्यको करना चाहिए था अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसरपर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आ गई। एक आदमी चला जा रहा है, रास्तेमें केलेका छिलका पैरके नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है, सबलोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य एकाएक न गिरकर चलते-चलते धीरेसे बैठ जाता तो लोग न हँसते। वास्तवमें जब किसीको लोग चलते देखते हैं तब यही आशा करते हैं कि वह चलता जाएगा। पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति में यकायक परिवर्तन हो जानेके कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूलके पास एक बारात ठहरी हुई थी। तंबूके नीचे नाच हो रहा था। तंबूकी रस्सी मेरे स्कूलकी दीवारमें कई जगह बँधी हुई थी। कुछ बालकोंने शरारतसे इधरकी सब रस्सियाँ खोल दीं। एक ओरसे तंबू गिरने लगा। यकायक सारी मंडलीमें भगदड़ मच गई। जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफिलवालोंके भागनेपर बड़े जोरसे हँसने लगे। यह जो स्थितिमें सहसा परिवर्तन हो गया, वही हँसीका कारण था। इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यंग-चित्रको देखकर हँसी इसलिये आती है कि जहाँ वस्तुकी आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपातसे विरुद्ध—वस्तु मौजूद है। जहाँ डेढ़ इंचकी नाक होनी चाहिए वहाँ तीन इंचकी, जहाँ दो फीटके पैर होने चाहिए वहाँ पाँच फीटके रहते हैं। हाजिरजवाबीकी बातोंपर भी इसीलिये हँसी आती है कि जैसे उत्तरकी आशा सुननेवालेको नहीं है वैसा श्लिष्ट, द्व्यर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है। यहाँ भी साधारणसे भिन्न अवस्था हो जाती है। हाँ, यहाँ भी गंभीरताका भाव हृदयमें न आना चाहिए।

ऊपर यह कहा गया है कि गंभीरता अथवा सहानुभूतिका अभाव हास्यके लिये आवश्यक है। यह इसलिये कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि हास्यके वैरी हैं।

हास्यसे गंभीरता का इस प्रकार विचित्र तारतम्य है। किसी गंभीर बातपर साधारण-से परिवर्तन होने पर हँसी आ जाती है; पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गंभीरता धारण कर सकती है।
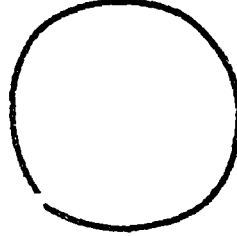
मान लीजिये, कोई सज्जन कहीं जानेके लिये कपड़ा पहनकर तैयार हैं और पान माँगते हैं। स्त्री एक तश्तरीमें पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसीकी बात नहीं है, न हँसी आती है; पूरी गंभीरता है। अब मान लीजिए कि पानमें चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँहमें काटता है तो खानेवाला मुँह बनाता है। आपको उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-शनाप बकने लगता है। इस समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोधमें वह तश्तरी उठाकर अपनी स्त्रीके ऊपर फेंक देता है। अब उसे देखकर हँसी नहीं आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्रीके हाथमें तश्तरीसे चोट आ गई है। अब हमें क्रोध आ जाता है और पुनः हम गंभीर हो जाते हैं। हम इस प्रकार देखते हैं कि गंभीरताका विचार-मात्र हास्यके लिये घातक है। साथ ही, यह भी है कि गंभीरताकी जब अति होने लगती है तब हास्यकी उत्पत्ति होती है। हास्यकी मनोवृत्ति केवल बुद्धिपर अवलम्बित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान् लोग नहीं हँसते। गंभीर लोग नहीं हँसते, गंभीर लोगोंपर हँसी आती है। हाँ, हास्यकी पूर्त्तिके लिये व्यंग एक आवश्यक वस्तु है। यह सूक्ष्मसे सूक्ष्म हो सकता है और भद्दासे भद्दा। प्राचीन संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्यमें, विशेषतः कवितामें, और अंगरेज़ी साहित्य में भी, प्रचुर परिमाणमें व्यंगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यंगमें भी सामान्य अथवा साधारण स्थितिमें जो होना चाहिए उसके अभावकी ओर संकेत रहता है, इसीसे उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है। [सन् १६२६ ई०]

———

हिन्दी काव्यको नयी चेतना देनेवाला कवि

निरालाकी रचनाओंका स्वाद हिन्दी पाठकोंको उस समय पहली बार मिला, जब कलकत्तेसे मतवाला निकला। इसके पहले भी उन्होंने लिखा था किन्तु हिन्दी जगत्‌के सामने उस समयतक वे कृतियाँ नहीं आयी थीं। हिन्दीके साहित्य क्षेत्रमें उस समय परिवर्तन हो रहा था। द्विवेदीजीके प्रकाशमे पनपनेवाले साहित्यकार प्रौढ़ताको पहुँच चुके थे। उनमे विकासकी क्षमता अब नहीं रह गयी थी। कविताके बाहरी और भीतरी अवयव उस सीमाको पहुँच चुके थे जिसके आगे जानेकी राह न थी। विवरणात्मक रचनाओंको पढकर लोग आकंठ रस ले चुके थे। कुछ नयी बात चाहिये थी।

मनुष्यका स्वभाव है कि वह नयी चीज चाहता है। जिसे नयी चीज नहीं सोहती वह भरतके समान जड़ होगा, जनकके समान विदेह होगा, किन्तु जीवनकी चेतनता जहाँ होगी वहाँ प्रत्येक वस्तुकी प्रतिक्रिया होगी। यह दूसरी बात है कि कुछ लोग उसका विरोध कर और कुछ लोग उसकी भक्तिमें विभोर होकर उसे विश्वकी महत्तम सृष्टि मान लें। जब किसी प्रकारकी नवीनता समाजमें आती है— चाहे वह साहित्यिक हो, राजनीतिक हो, धर्मिक हो—सदैव ऐसा ही होता है। नयेसे नया कवि हो, यदि उसके टेकनीकमें, विषयमें या बाहरी रूपमें कोई नयी बात नहीं है तो उसका स्वागत नहीं होगा।

निरालाजीने जब साहित्य संसारमें प्रवेश किया साहित्यके बागमें नयी कलियाँ खिलने लग गयी थीं। लोग उनकी महकसे परिचित होने लग गये थे। जयशंकर-प्रसादकी रचनाओंका स्वागत भी हो चुका था और तिरस्कार भी। हिन्दीवाले,

जिन्हें नयी रचना, नये ढंगकी आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, इन लोगोंकी ओर आकृष्ट हुए। नवयुगकी दागबेल निरालाके पहले पड़ चुकी थी। नींव डालनी थी, दीवार उठानी थी। यद्यपि ऊपरके महलके ढाँचेकी रूपरेखा स्पष्ट किसीके मनमें न थी। कहीं किसी देशमें, किसी साहित्यमें इस प्रकार निर्माण होता भी नहीं। यदि इस प्रकार पूर्वनिश्चित विधिसे साहित्यका निर्माण हो तो वह निर्जीव हो जायगा। हिन्दीमें भी यही हुआ। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अव्यवस्थित, रूपहीन, अस्थिपंजरके समान साहित्य बढ़ा। एक-एक रचयिताने बड़ी कलासे एक-एक कक्षका निर्माण किया, सगोपन प्रदर्शित किया।

प्रसाद अभिव्यंजनामें जितनी नवीनता लाये उतनी टेकनीकमें नहीं। वह ऊँचे उड़े, किन्तु नीचे डोरसे बँधे हुए थे। कल्पनाके आकाशमें बहुत फैले, घूमे और घूम-घामकर निश्चित धरातलपर उतरे। बड़ी गरिमाके साथ, महत्ताके साथ, सुदूर आकाशकी स्वस्थ और जीवनदायिनी वायु, साहित्यिक ओजोन उन्होंने हिन्दी कविताको दिया। निराला कटी हुई पतंगके समान स्वच्छन्द आकाशमें विहरे—उन्मुक्त, बन्धनहीन, सबल बाहुओंसे हवाको चीरते हुए।

ठीक अर्थमें क्रान्ति उन्होंने कवितामें की। निरालाजी कहते हैं कि 'जूहीकी कली' मेरी पहली हिन्दीकी कविता है। उसका विषय घोर शृंगार है। किन्तु जिस टेकनीक द्वारा उन्होंने उसे व्यक्त किया है वह लोगोंको प्रिय लगी। वे लोग जो उसी प्रकारकी ब्रजभाषाकी शृंगारिक रचनाओंको सुनकर नाक भौं सिकोड़ते थे, इस रचनामें सुन्दरताकी झलक देखने लगे। इसका कारण और कुछ नहीं था। वस्तु तो शाश्वत थी। प्रेमका वियोग और संयोग महामानव मनुके समयसे होता चला आया है और अभी कई अरब वर्षोंतक रहेगा—जबतक विज्ञान मनुष्यको सेक्सहीन न बना ले। उन्होंने पुरानी शराबको नयी बोतलमें नहीं रखा। पुरानी शराब पुनः खींची, उसमें अपनी ओरसे कुछ मसाले मिलाये। कराबेमें नहीं कंटरमें रखा।

निरालाने नये छन्द गढ़े। पिंगलमें सबके लिए संकेत था। सब लोगोंने पढ़ा था किन्तु प्रयोग किसीने नहीं किया। नये प्रयोगोंके लिए साहसकी आवश्यकता तो होती ही है। उस समय उन छन्दोंकी लोगोंने लिहाड़ी ली। किसीने विड़ छन्दसे उसका नामकरण किया, किसीने कचुआ छन्दसे। साहित्य मार्तण्डकी प्रखर धूपमें जिन्होंने अपना शरीर तपाया था उनमेंसे भी कितनोंने उसकी विडम्बना की।

यह कल्पनाकी बात नहीं है। अपनी देखी और सुनी है। उन वृत्तोंमें संगीतकी जानकारी छिपी थी, और जब निरालाजी स्वयं पढते थे तब पंक्तियाँ लयपर लहराती थीं। यहाँपर मै यह समीक्षा नहीं करना चाहता कि जो लोग कहते हैं कि यह वाल्टह्विटमनकी नकल है वे कहातक ठीक कहते हैं। यह हिन्दी साहित्यपर पहला आक्रमण निरालाका था। मतवालामें उनकी जितनी भी रचनाएँ प्रकाशित हुईं जैसे यमुनाके प्रति, जागो फिर एक बार आदि सब छन्दकी दृष्टिसे नवीन थीं। उन्होंने बरबस अपनी ओर लोगोंको खींचा। पारखियोंने समझा कि हिन्दीके उद्यानमें नया पेड़ लगा। इसमें सदा फूल होंगे। जड़ भी मजबूत है।

निरालाका एक गीत मैं दे रहा हूँ। देखनेमे यह साधारण गीत जान पड़ता है किन्तु यह उस क्रान्तिकी ओर ललकार है जो कवि हिन्दी साहित्यमें लाना चाहता है।

> फिर संवार सितार लो बाधकर फिर ठाट, अपने
> अकपर झंकार दो।
> शब्दके कलिदल खुलें, गति-पवन भर कार थर-थर
> मीढ भ्रमरावलि ढुलें, गीत परिमल बहे निर्मल,
> फिर बहार-बहार हो।
> स्वप्न ज्यों सज जाय, यह तरी, यह सरित, यह तट,
> यह गगन समुदाय कमल वलयित-सरल-दृग जल
> हारका उपहार हो!

नये साहित्यके निर्माणकी ओर कविका सकेत है।

निरालाने बंगला साहित्य पढ़ा था बंगला साहित्यकारोंके बीच रहे। रविबाबू द्वारा वहा साहित्यमें कितना परिवर्तन हुआ और उनसे बंगला कविता कितनी अनुप्राणित हुई। वह हिन्दीमें भी परिवर्तन लाये। निरालाकी कवितामें तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। उनकी कवितामें ओज है, नये छन्द और शब्दोंका नया गठन है और भारतीय सास्कृतिक धरातलसे वह फिसली नहीं है। 'रामकी शक्ति पूजा और तुलसीदास' हो, 'वह तोड़ती थी पत्थर' हो, 'जागो फिर एक बार' हो या कुकुरमुत्ता हो अथवा उनके गीत हों सभी रचनाओंमें पाठकोंको यह बात मिलेगी।

आजकलके अनेक कवियोंकी वाणीमें ओज है किन्तु जिस प्रकार शब्द निरालाकी अंगुलियों पर नाचते हैं, कम लोगोंका अधिकार है। निरालाने शब्दोंको

नये अर्थोंकी ओर मोड़ा है। यह भी ठीक है कि कहीं-कहीं इस कारण अस्पष्टता आ गयी है। बहुतसे लोगोंको यह अच्छा न लगा। किन्तु इस कारण निरालाकी कवितामें त्रुटि आ गयी हो यह बात नहीं है। अस्पष्टता गुण नहीं है। किन्तु कवि जब भावोंकी अभिव्यक्ति करता है तब कभी-कभी व्याकरण सिद्धान्तके नियमोंके बाहर हो जाता है। यह कहना तो बड़े साहसका काम होगा कि निरालाकी कविता पूर्ण है। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि निरालाने कविता-कामिनीको नये ढंगसे संवारा, ऐसे आभूषणोंसे अलंकृत किया जो पुरानी आंखोंको विचित्रसे लगे। साड़ीकी जगह स्कर्ट नहीं पहनाया किन्तु कपड़ा तो नया था। शृंगार साज नये थे।

[सन् १९५४ ई०]

राष्ट्रीय साहित्य

राष्ट्रीय साहित्य क्या है? इसके पहले हम यह जान लें कि राष्ट्र क्या है? और साहित्य क्या है? पाश्चात्य देशके इतिहास लिखनेवालोंमें अधिकांश लेखकोंने भारतवर्षका इतिहास भ्रमपूर्ण लिखा है। भारतवर्षमें अनेक जातियाँ हैं, अनेक भाषाएँ हैं, यही प्रचार करना उनका मुख्य ध्येय रहा है। बिना इसके साम्राज्य दृढ़ होना असम्भव है। राष्ट्रकी परिभाषाके अन्तर्गत इस रूपसे भारत देश नहीं आ सकता। एक राष्ट्रके लिये एक देश, एक भाषा, एक अपना राज्य इन लोगोंने आवश्यक माना है। स्थूल रूपसे यह ठीक है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भाषा गौण है। यूरोपमें अनेक ऐसे देश हैं जहाँ एकसे अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं परन्तु हैं वह राष्ट्र। इंगलैंडमें ही वेल्स, और स्काटलैंडमें दो विभिन्न भाषाएँ हैं और इंग्लैंडमें अंग्रेजी अलगसे। इसी प्रकारसे स्वीत्सरलैंडमें। राष्ट्रके लिये एक संस्कृतिकी आवश्यकता अधिक है, भाषाकी कम। संस्कृतिके लिये सब जातिकी एकता आवश्यक है। यदि किसी एक भौगोलिक सीमाके भीतर एक जातिके वंशज और एक संस्कृतिके लोग हों तो वह एक राष्ट्र है। राष्ट्रके लिये एक राजनीतिक गुण भी आवश्यक है, वह है एक शासन। और वह अपना ही शासन होना चाहिये।

हमारे देशमें भौगोलिक सीमा तो एक है ही। राज्य दूसरेका है। संस्कृतियाँ दो इस समय देशमें हैं। एक आर्य तथा हिन्दू संस्कृति; दूसरी मुसलिम संस्कृति। अंग्रेजी राज्यके पहले मुसलमानोंका शासन देशमें था, उसके पहले हिन्दुओंका। कुछ हिन्दू राजा थे जिनके शासन कालमें प्रायः सारे देशपर एक व्यक्तिका राज्य

था। अकबरके समयसे औरंगजेबके शासन कालतक सारे भारतवर्षपर एक राज्य था। अशोकके कालमें भारत एक राष्ट्र था, इसमें संदेह नहीं हो सकता। इसके पहले उत्तर भारतमें एक राष्ट्रीय कल्पना थी। मुसलमानोंके आगमनके पश्चात् दो विभिन्न और विरोधी संस्कृतियोंका घात-प्रतिघात होने लगा। अकबरने अवश्य एक राष्ट्रकी कल्पना की। उसके पीछे जो शासक आये उनमें इतनी विचार बुद्धि न थी। अंग्रेजी शासन कालका फल यह अवश्य हुआ कि विभिन्न दो संस्कृतियोंने भी राष्ट्रीयताका महत्त्व समझा और हम एक राष्ट्रके निर्माणमें संलग्न हो रहे हैं।

यूरोपमें पन्द्रहवीं शताब्दीके पहले राष्ट्रीयताके भाव कहीं थे ही नहीं। वैदिक कालमें राष्ट्रीयताके भाव हमारे देशमें थे, इसके कितने ही प्रमाण वेदके मंत्रोंमें मिलते हैं। अथर्ववेदके बारहवें कांडमें पचासों मंत्र ऐसे आये हैं। हमारे देशमें राष्ट्रीय भावनाएँ बहुत पहले जाग्रत हो गयी थीं। परन्तु राजनीतिक उलट-फेरसे उन भावनाओंका लोप हो गया।

साहित्यका विश्लेषण अनेक आचार्योंने अनेक रूपसे किया है। साधारणतः, भाव सहित जो हो वह साहित्य है, यह प्राच्य विद्वानोंका मत है। पश्चिमी विद्वानों-का साधारणतः मत है कि किसी देशके ऊँचे विचारवालोंका सबसे ऊँचा विचार साहित्य है। विश्लेषण करनेपर दोनों प्राय. एक ही निष्कर्षपर पहुँचते हैं। भावसे अर्थ ऐसे ही भाव हैं जो व्यक्तिविशेषकी अनुभूतियोंका फल हों। वह ऊँचा होगा ही। यों तो साहित्यका अर्थ आजकल इतना असीम हो गया है कि टाइमटेबुल और सिनेमा-विज्ञापन भी एक प्रकारका साहित्य बोला जाता है। परन्तु विचारवान लोगोंने साहित्यके साथ स्थायित्व अनिवार्य माना है। लोग बहुधा कहा करते हैं यह 'स्थायी साहित्य' है। सच पूछिये तो जो साहित्य है वह स्थायी होगा और जो स्थायी विचार है वह साहित्य है।

हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्य क्या है? जिस प्रकार बहुतसी बातोंमें हमारे विचार विवेचनात्मक नहीं हैं उसी प्रकारसे राष्ट्रीय साहित्यके सम्बन्धमें भी हमने इस बातका कभी विचार नहीं किया कि हमारे राष्ट्रीय साहित्यकी स्थिति क्या है।

प्राचीन कालमें हमारे यहाँ पर्याप्त परिमाणमें राष्ट्रीय साहित्यका निर्माण हो चुका है। वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, कालिदासके नाटक और संस्कृतके काव्य-ग्रंथ राष्ट्रीय साहित्य हैं। इनमें बहुतेरे तो विश्वकी संपत्ति हैं। परन्तु सभी ऐसे हैं कि भारतके प्रत्येक कोनेमें उनकी स्मृति है, उनकी आत्माका संचार है।

आज यद्यपि संस्कृत कहीं नहीं बोली जाती, फिर भी इन ग्रन्थोंकी छाया प्रत्येक आधुनिक साहित्यमें पड़ रही है। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी और सुदूर दक्षिण प्रान्तमें भी, कम-बेश, इनका प्रभाव है। वही कथाएँ, वही उपमाएँ, वही परिपाटी साधारणत: रूप बदल-बदल कर आजकलकी रचनाओंको अनुप्राणित कर रही हैं।

मुगल शासन कालमें भी ऐसी रचनाएँ हुईं और विशेषत: अकबरके राजमें। इन सबमें सबसे महत्त्वपूर्ण तुलसीदासका रामचरितमानस है। यों तो वह विश्व साहित्यकी श्रेणीमें है; परन्तु भारतीय राष्ट्रकी आत्मा उसमें बोल रही है, यह सब लोग जानते हैं।

आजकल हमारे राष्ट्रका निर्माण हो रहा है और राष्ट्रीय साहित्यकी सृष्टिकी ओर लोगोंका ध्यान भी है, परन्तु हम कितने सफल इस ओर हुए हैं, हमें देखना चाहिये। राष्ट्रीय साहित्य केवल यह नहीं है कि राष्ट्रके नाम कोई कविता रच दी गयी या कोई राजनीतिक कहानी या उपन्यास लिख दिया गया। हिन्दी राष्ट्र भाषा है, इसे अधिकांश लोगोंने मान लिया है। फिर भी यह हमें न भूलना चाहिये कि एक दल ऐसे लोगोंका है जो इसे माननेके लिये तैयार नहीं है। इसी कारणसे हमें राष्ट्रीय साहित्य निर्माण करनेमें कठिनाई हो रही है। राष्ट्रीय साहित्य तो वही हो सकता है जिसमें सारे भारतवर्षकी आत्मा बोल रही हो।

प्रान्तीय भाषाओंमें जो रचनाएँ होती हैं वह अपनी प्रान्तीय समस्याओंको लेकर होती हैं, परन्तु उन्हींमें ऐसी बातें भी हो सकती हैं जो सारे राष्ट्रकी प्रतिनिधि हों। भाषाकी भिन्नताके कारण ऐसी बातोंका पता चलना असंभव होता है। भाषाका परिधान साहित्यके शरीरको कुछ छिपा अवश्य लेता है, फिर भी संपूर्ण रूपसे प्रकट करनेमें बाधक नहीं होता है। यदि आजकलकी पुस्तकोंमें ऐसी रचनाओंको ढूँढनेका प्रयत्न करें कि कौन राष्ट्रीय साहित्यकी श्रेणीमें आ सकती है, तब बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। रवीन्द्रनाथकी रचनाओंमें अनेक स्थलोंपर भारतकी पीड़ाकी पुकार, स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकी विकलता और वर्तमान स्थितिसे असंतोष प्रदर्शित होता है। कविकी साधना और अनुभूति इतनी विशाल और विस्तृत है कि वह भारत ही नहीं किन्तु संसारका प्रतिनिधि कवि हो जाता है। लिखा उनने बंगला अपनी भाषामें परन्तु यह विश्वकी आत्माका प्रस्फुटन जो उनकी रचनाओंमें हुआ है छिप नहीं सका। सारे संसारकी एक भाषा नहीं हो

सकती। फिर भी जैसे रूसमें, इङ्गलैण्डमें, जर्मनीमें, फ्रांसमें, इटलीमें, स्पेनमें, कमसे कम एक-एक साहित्यकार ऐसा अवश्य निकल आयेगा जिसकी रचना विश्व साहित्यकी कोटिमें रखी जा सके। लिखते सब हैं अपनी भाषामें, परन्तु उनका सार्वभौमिक विचार-विकास छिप नहीं सकता।

उसी प्रकार हमारे देशमें भी ऐसी रचनाएँ जो भी हों, चाहे किसी भाषामें हों यदि राष्ट्रीय जीवनको प्रदर्शित करती हैं तो छिप नहीं सकतीं। सारे संसारमें एक भाषा नहीं हो सकती है, परन्तु एक देशमें एक भाषा हो सकती है। यदि हमारा राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्र भाषामें ही हो तब तो 'अधिकस्य अधिकं फलं' होगा ही। परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता है तबतक भी हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यकी रचना होनी चाहिये। मराठी, बगाली, गुजराती, तामिल आदि भाषाओंमें ऐसे साहित्यका निर्माण अवश्य हुआ होगा जो राष्ट्रीय साहित्यकी श्रेणीमें आ सकते हैं। उर्दूमें डाक्टर इकबालकी कुछ रचनाएँ इस श्रेणीमें रखी जा सकती हैं। परन्तु इधर उनकी रचनाओंमे साम्प्रदायिकताका भाव आगया है। मुंशी प्रेमचन्दकी रचनाएँ राष्ट्रीय साहित्यकी श्रेणीमे निःसंकोच रखी जा सकती हैं। वर्तमान भारत की समस्याओंको उन्होंने बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है। उनकी रचनाओंके पढ़नेसे मालूम होता है कि एक भारतीयकी आत्मा बोल रही है।

देशकी आवश्यकताओं या दुर्दशाओं या महान् आत्माओंकी प्रशंसाकी सूची राष्ट्रीय साहित्य नहीं है। यदि यह बात होती तो प्रत्येक कांग्रेसकी रिपोर्ट अथवा स्कूलोंमें जो इतिहास पढ़ाया जाता है, राष्ट्रीय साहित्य माना जाता। यह भी आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक विचारोंका साहित्य केवल इस श्रेणीमें रखा जाय। यदि हम कहानीमे प्रेम प्रदर्शित करते हैं तो वह भारतीय आदर्शका हो, यदि हम समाजका चित्रण करते हों तो वह भारतीय समाज हो, चन्द्रमाकी चान्दनीका गीत गाते हों तो वह भारतीय आकाशका चन्द्रमा हो, हमारी कविताकी सामग्री भारतीय हो तभी वह राष्ट्रीय साहित्य हो सकता है। ऐसा ही साहित्य हमारे देश वालोंके हृदयमें घर कर सकता है।

यह मानना पड़ेगा कि हमारे पास वर्तमान समयके राष्ट्रीय साहित्यकी पूँजी बहुत थोड़ी है। यह भविष्यवाणी करना कि इस समयका कौनसा साहित्य आजसे दो चार सौ सालके बाद रह जायगा, बड़े साहसका काम है। ऐसा साहित्य जो एक क्षणके लिये हमें उत्तेजित कर दे प्रचुर परिमाणमें मिलेगा; परन्तु उनमे प्रचारकी

गन्ध आती है। प्रोपेगेण्डा और साहित्यमें बड़ा अन्तर है। अधिकांश रचनाएँ आजकल इसी दृष्टि-कोणसे होती हैं। राष्ट्रनिर्माणमें उनसे कुछ सहायता मिल जाय, यह सम्भव है; परन्तु जो कसौटी राष्ट्रीय साहित्यकी हमने बताई है उस पर परखनेसे वह साहित्य रह नहीं जाती। इसका एक कारण विदेशी राज्य अवश्य है। जब राष्ट्रीय जीवनके विकासकी सामग्री नहीं मिलती तब राष्ट्रीय साहित्य नहीं पनप सकता। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये राष्ट्रीय जाग्रतिके साधन नहीं हैं। हमारे युवक जो रचनाएँ करते हैं उनमें राष्ट्रीय भावनाका अभाव रहता है। हम अपने प्रान्त और अपने नगरके व्यक्तियोंका चरित्र चित्रण करके भी उसे सारे राष्ट्रका चरित्र बना सकते हैं। चासर, शेक्सपियर, मिल्टन, ड्राइडन, ऐडिसन, पोप तथा जानसनने बहुतेरे ऐसे व्यक्तियोंका चरित्र खींचा है जो लन्दनके हैं परन्तु वह सारे इङ्गलैण्ड के प्रतिनिधि हैं। हम जहाँ भी रहें भारतके दृष्टिकोणसे देख सकते हैं, परन्तु ऐसा करते नहीं।

हिन्दीमें कहानी और कविता इन दोकी प्रचुरता है। कवितामें तो प्राय राष्ट्रीय भावनाओंका अभाव ही है। इसके अपवाद हैं, हमें इससे इनकार नहीं है परन्तु अधिकांश लोग शेली और कीट्सकी भाँति सन्देश ही देना चाहते हैं। राष्ट्रका संगीत कम लोग गाते हैं। कहानीमें मुंशी प्रेमचन्दकी रचनाएँ अवश्य राष्ट्रीय साहित्यकी श्रेणीमें आ सकती हैं, हम यह ऊपर कह चुके हैं।

राष्ट्रीय साहित्य विश्व-साहित्यका विरोधी नहीं है। ऊँचा राष्ट्रीय साहित्य ही विश्व-साहित्य हो जाता है। रामायण राष्ट्र-साहित्य पहले है, विश्व-साहित्य पीछे और इसी प्रकार शेक्सपियरके नाटक भी। हैमलेट अथवा ओथेलो अथवा पोरशिया यूरोपीय व्यक्ति हैं और फिर संसारके चरित्रोंके नमूने हैं। विक्टर ह्यूगो का जाँ वालजाँ फ्रेंच व्यक्ति है मगर संसारके साहित्यमें उसका स्थान है। राम और रावण हमारे घरकी चीज़ें हैं परन्तु संसारके हो गये। इसलिये विश्व-साहित्यके निर्माणके लिये निखरा हुआ राष्ट्रीय साहित्य ही चाहिये।

जब इसी विचार और प्रेमसे साहित्यकार और कलाकार अपनी सामग्रीका उपयोग करेंगे तब राष्ट्रीय साहित्यका निर्माण हो सकेगा।

[सन् १९३७ ई०]

स्वराज्य-आन्दोलनका हिन्दी-साहित्यपर प्रभाव

देशकी जाग्रतिमें भाषाका बड़ा प्रभाव है। पराजित देशपर जहाँ अनेक दमन नीतियाँ बरती जाती हैं, इस बातकी भी चेष्टा की जाती है कि उस देशकी संस्कृतिका नाश हो जाय। संस्कृतिकी विजय, सामाजिक विजय, राजनैतिक विजयसे बड़ी होती है। भाषा, भोजन तथा भेष राष्ट्रीयताके चिह्न हैं। जिस देशने इन्हें खो दिया उसका अपना कुछ नहीं रह जाता। अपनी वस्तुपर मनुष्यको गर्व होता है। उसे देखकर मनुष्यका मस्तक उन्नत होता है।

हिन्दी हमारी भाषा है। भारतवर्षका सबसे अधिक जन-समुदाय हिन्दी बोलता है और लगभग सभी भारतीय इसे समझ लेते हैं। इसका प्राचीन साहित्य ऐसे रत्न-भाण्डारसे परिपूर्ण है जिसकी ज्योति संसारको प्रकाशमान कर सकती है। हिन्दी-साहित्यकी आधुनिक प्रगति भी अत्यन्त आशाजनक है। परन्तु कुछ ही दिन पहले हम अपनी ही भाषाको भूल-सा गये थे।

जबसे अँगरेज़ी राज्यकी नींव भारत-देशमें पड़ी, विदेशका ऐसा जादू चला कि हम अपनेको भूल गये। अँगरेजी रहन सहन, अँगरेज़ी चाल-ढाल हमे प्रिय लगने लगी। बड़े बड़े नेता भी जिन्हें देशसे वास्तविक प्रेम था, जो देशके लिए त्यागी बने हुए थे, अँगरेज़ीमे ही बोलना, अँगरेजीमें लिखना अपना कर्तव्य समझते थे। परन्तु जबसे राष्ट्रीयताके भाव देशमें जाग्रत हुए हैं, विचारोंने पलटा खाया। समुद्रसे टकरा कर तरंगें फिर लौटीं। योरपीय 'रिनेसां' (नवजाग्रति) कालमें योरपियोंने अपनी पुरानी भाषा और प्राचीन साहित्यकी ओर दृष्टि फेरी थी। भारतवर्षने भी देश-भाषाका

मार्मिक तत्व समझा। इस प्रकार भारतीय नेता और देशवासी जबसे अपनी हीनताका अनुभव करने लगे, हिन्दीके पुनरुत्थानकी चेष्टा करने लगे। और अनेक रूपोंमें हिन्दी-साहित्यकी वृद्धि होने लगी। पर जबसे स्वराज्य-आन्दोलनने वर्तमान रूप लिया है तबसे हिन्दी-साहित्यमें एक विचित्र परिवर्तन हुआ है।

देशके नेताओंका पहले इस ओर ध्यान न था। लखनऊ-कांग्रेसमें महात्मा गान्धीने १९१६में पहले-पहल कहा था—"अगर हमारे तामिल भाई एक सालके भीतर हिन्दी नहीं सीख लेते तो उन्हींकी हानि होगी।" उसके पश्चात् तीन वर्षों तक कांग्रेस पुराने ढर्रे पर चलती रही।

सन् १९२०में कांग्रेसका वर्तमान रूप आया। और वही समय है जबसे असहयोग-आन्दोलन आदिका आरम्भ हुआ। यद्यपि स्वराज्यपार्टीका जन्म १९२२ में हुआ, तथापि स्वराज्य आन्दोलनका आरम्भ और कांग्रेसके उद्देश्यका परिवर्तन तीन साल पहले हो चुका था।

राष्ट्रीय विचारोंका ही प्रभाव है कि कितने ही रूसी उपन्यासोंके अनुवाद घड़ल्लेसे हिन्दीमें हो रहे हैं।

स्वराज्य-आन्दोलनसे विद्वानोंके हृदयमें इस बातकी कितनी प्रेरणा हुई है कि अपना प्राचीन इतिहास ढूँढ़ निकालें। प्राचीन समाज-व्यवस्था, राजस्व तथा अन्य देशोंकी शासन-प्रणालीको हिन्दी-भाषा-भाषियोंके सम्मुख रखना विद्वानोंने अपना कर्तव्य समझा। और उसमें इस बातका ध्यान रक्खा कि भारतीयताकी दृष्टिसे ये पुस्तकें लिखी जायँ। स्वराज्य-आन्दोलनमें जो नेता जेलमें गये उनमेंसे दो एकने अपना समय पुस्तकें लिखनेमें व्यतीत किया। विद्यार्थीजीके बारेमें ऊपर कहा गया है। लाला लाजपतरायने भारतवर्षका इतिहास जेलमें ही लिखा जो एक ही भाग रह गया। इतिहास, समाज-शास्त्र आदिपर अनेक और उच्च कोटिकी पुस्तकें निकली हैं। अन्तर्देशीय शासन-विधान पर बाबू सम्पूर्णानन्दजीका 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान' एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। ऐसी पुस्तक हिन्दीमें दूसरी नहीं है। आपने चीनकी क्रान्तिपर भी बड़ी ओजस्विनी भाषामें एक पुस्तक लिखी है। भाई परमानन्दका 'भारतवर्षका इतिहास', सावरकरके 'हिन्दू-पद-पादशाही'का तथा जायसवाल के 'एन्शंट हिन्दू पालिटिक्सका अनुवाद, अनुवाद होनेपर भी उत्कृष्ट श्रेणीकी पुस्तकें हैं। समाजसे सम्बन्ध रखनेवाली इधर दस वर्षोंमें अनेक भली-बुरी पुस्तकें निकली हैं। अपनी स्वतंत्रताके प्रेमियोंने हिन्दी-भाषा-भाषियोंके सामने प्राचीन तथा नवीन विचारोंका रखना अपना कर्त्तव्य समझा। श्रीयुत भगवानदास केलाने भी अनेक राष्ट्रीय पुस्तकें लिखी हैं। स्वामी श्रद्धानन्दका 'कल्याण मार्गका पथिक' तथा महात्मा गान्धीकी 'आत्मकथा' विचित्र पुस्तके हैं। अन्तिम पुस्तक हिन्दीमें एक अनोखी जीवनी है। कोई ऐसा हिन्दी जाननेवाला न होगा जिसने यह पुस्तक न पढ़ी हो। श्रीयुत शौकत उसमानीकी 'मेरी रूसयात्रा' विचित्र तथा अपने ढंगकी एक ही पुस्तक है। काशीनिवासी डाक्टर भगवानदासजीका 'समन्वय' एक गंभीर सामाजिक, दार्शनिक लेखोंका संग्रह है। इस प्रकार अनेक पुस्तकें ऐसी निकली हैं जो यदि स्वराज्य-आन्दोलन न होता तो कभी न निकलतीं।

देशकी जाग्रति तथा स्वराज्यके आन्दोलनने देशमें दो-तीन ऐसी संस्थायें खुलवायीं जिनका मुख्य उद्देश्य हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यका प्रकाशन तथा प्रचार है। काशीके धनकुबेर बाबू शिवप्रसादजी गुप्तका 'ज्ञानमण्डल' ऐसी ही एक प्रमुख संस्था है। गुप्तजी उन सज्जनोंमें हैं जिन्होंने अपना निजी धन व्यय करके कितने हिन्दीके प्रेमियों और विद्वानोंको आश्रय दिया है। आप पत्र लिखनेसे

लेकर अपने स्टेटका सारा कार्य हिन्दीमें करते हैं। बैंकका चेक भी हिन्दीमें लिखते हैं। आपने ही ज्ञानमण्डलको जन्म दिया है। ज्ञानमण्डलने अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक तथा जीवन-चरित्र-सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित करके हिन्दी-साहित्यका भण्डार भरा है। अजमेरका 'सस्ता साहित्य-मण्डल' दूसरी संस्था है जो स्वराज्य-आन्दोलनका ही पुत्र है। यहाँसे भी राष्ट्रीयतापूर्ण हिन्दीकी अनेक सस्ती पुस्तकें निकलती हैं। 'प्रताप-कार्यालय' पहलेका है। परन्तु उसने भी राष्ट्रीय साहित्यके निर्माण करनेमें पूरा योग दिया है।

स्वराज्य-आन्दोलनका हिन्दी-जगतपर एक और प्रभाव पड़ा है। राष्ट्रीय शिक्षा अपनी ही भाषामें हो, इस हेतु अनेक प्रान्तोंमें विद्यापीठोंकी स्थापना हुई। काशीका विद्यापीठ श्रीशिवप्रसादजी गुप्तके ही दान का फल है। विहार विद्यापीठ पटना मे है और गुजरात-विद्यापीठ गुजरातमें। प्रथम दोमें हिन्दी-द्वारा शिक्षा होती है। तीसरेमें भी हिन्दी पढ़ाई जाती है। इससे हिन्दीकी अनेक पुस्तकें लिखी गईं और लिखायी गईं। इन विद्यापीठोंका सारा पाठ्य-क्रम हिन्दीमें होनेके कारण हिन्दी-साहित्यको वड़ी उत्तेजना मिली है। स्वराज्य-आन्दोलनके कारण म्युनिसिपल तथा जिला बोर्डोंमें कितनी बार स्वराजी सदस्योंकी अधिकता हुई। इन सदस्योंने अपने यहाँके स्कूलोंमें पुराने ढंगकी पुस्तकें हटाकर हिन्दीकी, राष्ट्रीय ढंगकी, पुस्तकें रक्खीं। इससे कितनीही छोटी-बड़ी राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तकें हिन्दीमें बनीं।

किसी देशके किसी आन्दोलनका प्रभाव वहाँके समाचार-पत्रोंपर अधिक पड़ता है। उसके समर्थक तथा विरोधी पत्र निकलने लगते हैं। हमारे देशमें स्वराज्य-आन्दोलनसे हिन्दीमें अनेक ऊँचे तथा नीचे दर्जेके पत्र निकले। इनमें सबसे पहला हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ दैनिक 'आज' है। यह भी बाबू शिवप्रसाद गुप्तकी दानवीरता तथा देश-प्रेमका उज्ज्वल उदाहरण है। विगत दस वर्षोंसे अपनी मातृ-भाषा द्वारा यह जो देशकी सेवा कर रहा है, किसीसे नहीं छिपी है। इसका सम्पादन पण्डित बाबूरावजी पराड़कर बड़ी योग्यतासे करते हैं। वर्षों यह घाटेपर चलता रहा है। साप्ताहिक पत्रोंमें 'प्रताप' स्वराज्य-आन्दोलनसे पहलेका सर्वश्रेष्ठ पत्र है। उसने देशकी जो सेवा की है वह एक हिन्दी-पत्रके लिए अनुकरणीय है। १९१९में 'सैनिक', १९२०मे 'स्वदेश', १९२४में 'मतवाला', १९२७में 'कृष्णसंदेश' निकले। ये उन साप्ताहिक पत्रोंमे हैं जो अपने योग्य सम्पादकोंद्वारा स्वदेशकी निर्भीक सेवा कर रहे हैं। इनका अलग-अलग साहित्य है, परन्तु हिन्दी-साहित्यके

इतिहासमें इनका स्थान है। महात्माजीका हिन्दी 'नवजीवन' कुछ गुजराती नवजीवनके अनुवाद तथा कुछ स्वतंत्र लेखोंसे पूर्ण निकलता है। यह भी राष्ट्रीय आन्दोलनहीका प्रतिफल है। दो वर्षोंसे अजमेरसे पण्डित हरिभाऊ उपाध्यायके सम्पादनमें 'त्यागभूमि' मासिक-पत्रिका निकलती है जो एक राजनैतिक पत्रिका है।

जबसे स्वराज्य-आन्दोलन निश्चित रूपसे देशमें होने लगा है देशके नेताओंने समझ लिया कि हमारी एक भाषा होनी चाहिये और वह हिन्दी ही होगी। इस विषय को बार-बार सामने रखने का श्रेय महात्मा गान्धी को है इसीका प्रभाव है कि कांग्रेस मंचपर भी बहुत लोग हिन्दीमें बोलते हैं। कानपुर-कांग्रेसमें श्रीयुत पुरुषोत्तमदासजी टण्डनने इस आशयका प्रस्ताव उपस्थित किया था कि कांग्रेसकी सारी कार्यवाही हिन्दीमें हो। इस प्रस्तावके पक्षमें अधिक लोग न थे, इसलिए प्रस्ताव गिर गया। परन्तु हिन्दीकी ओर प्रति दिवस लोगोंका ध्यान आकर्षित होता जा रहा है। इसी कारण राष्ट्रभाषा-सम्मेलन होने लगे हैं, और बंगाल तथा मदरास प्रदेशोंमें भी लोग हिन्दी पढ़ रहे हैं। मदरासने एक हिन्दी पाक्षिक पत्र भी निकलने लगा है। इस स्वराज्य-आन्दोलनका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनपर भी अधिक प्रभाव पड़ा। राजनैतिक नेता सम्मेलनके अध्यक्ष होने लगे। इन्दौरमें महात्माजी, कलकत्तेमें श्रीयुत भगवानदासजी, कानपुरमें श्रीयुत पुरुषोत्तमदास टंडनजी सम्मेलनके सभापति हुए। आगामी गोरखपुर सम्मेलनके सभापति प्रताप-संपादक श्रीगणेशशंकरजी विद्यार्थी होंगे। इस प्रकार साहित्य-सम्मेलनमें भी राष्ट्रीयताके भावोंका प्रवेश हो रहा है।

यह असंभव था कि देशमें राजनैतिक आन्दोलन हो और अपनी भाषापर और अपने साहित्यपर उसका प्रभाव न पड़े। यह अनुभव हो रहा है कि प्रतिदिन यह प्रभाव बढ़ता जाता है। बंगाल और मदरासके नेता भी कह रहे हैं कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है। हमें पूर्ण आशा है कि प्रत्येक भारतवासी हिन्दी बोलेगा। हिन्दी-साहित्य संसारके उच्चतम साहित्योंमें होगा। वह हमारी राष्ट्रीयताको जगायेगा और हमें स्वाधीनताकी सीढ़ी पर चढ़ाएगा।

[फरवरी १९३०

———

कविवर गुप्तजीकी कविता

कवि दो प्रकारके होते हैं, एक जो देशकालके परे अपनी आत्मानुभूतियोंकी तूलिकासे चित्र रँगते जाते हैं; उनकी अनुभूति बहुत कोमल और पवित्र होती है। चाहे वे अपने देशका वर्णन करते हों, अथवा अपनी जातिका, उनकी आत्मा समस्त व्यक्तिगत बन्धनोंसे मुक्त होकर 'सत्य'का चित्र खींचती है जो सब देशोंमें और सब कालमें एक-सा रहता है। गोस्वामी तुलसीदासने रामका चरित्र लिखा है। राम और भरत क्या केवल अयोध्याके राजा थे? परन्तु काव्यकी आत्मा इतनी पुष्ट और ऊँची है कि आज तीन सौ सालके बाद उसकी सुन्दरतामें अथवा सचाईमें कमी नहीं होने पायी और आगे भी कमी नहीं होगी। भारत ही नहीं योरप और अमेरिकामें यदि रामचरितमानस पढ़ा जाय तो वहाँके निवासियोंको भी यही लोकोत्तर आनन्द आयेगा इसमें सन्देह नहीं। अंग्रेजीमें इतने नाटककारोंके होनेपर भी शेक्सपीयरका काव्य आज भी ऐसा मालूम होता है मानों उसमें हमारे कालकी घटनाओंका उल्लेख है। अन्य किसी देशमें भी शेक्सपीयरके नाटक पढ़े जायँ तो मालूम पड़ेगा कि उसके पात्र अपने देशके ही पात्र हैं।

जिन चरित्रोंको तुलसीदासने आदर्शरूप मानकर ईश्वरका स्वरूप दे दिया है उन्हें छोड़ दीजिये, वे तो ईश्वर ही हैं; नहीं तो विभीषण आज भी घर-घर पाये जाते हैं और सूर्पनखा भी आये दिन देखी जाती हैं। शेक्सपीयरके 'ओथेलो'से ईर्ष्यालु और 'इयागो'से बदमाश हमारे समाजमें रोज देखे जाते हैं और आज भी 'इमोजेन' अथवा 'पोरशिया' सी सुचरित्रा स्त्रियोंकी कमी नहीं है।

दूसरे कवि वे होते हैं जो किसी विशेष घटनासे प्रभावित होते हैं और उन्हीं दुःखपूर्ण अथवा सुखमय घटनाओंके कारण उनकी प्रतिभा उद्वेलित होती है। उनकी कविताएँ हमारे हृदयमें ओज, दया, करुणा और अन्यायके प्रति क्रोध तथा पापके प्रति घृणा आदि भावोंका सृजन करती हैं। पहली श्रेणीके कवि महात्माओंकी भाँति दो-चार सौ सालमें कभी-कभी उल्काकी भाँति अपनी ज्योति झलकाकर विलीन हो जाते हैं। दूसरे कवि भी कम होते हैं; परन्तु प्रत्येक देशमें और प्रत्येक कालमें होते अवश्य हैं। यदि पहली श्रेणीके कवि महात्मा हैं तो दूसरे इतिहासकार हैं। यदि पहली श्रेणीके कवियोंने भगवद्भजनकी ओर लोगोंको लगाया है तो इस श्रेणीके कवियोंने देश और जातिके लिए बलिदान होनेकी राह दिखलायी है और इस प्रकारसे मुक्तिका साधन बताया है। ऐसे ही कवि अपने समयके प्रतिबिम्ब होते हैं। उनके काव्यकी आत्मा अपने युगकी भावनाओंसे ओतप्रोत होती है। ऐसे कवि अपने कालके विचारोंको और विचारोंके विकासको प्रतिध्वनित करते हैं। वे इतिहासको स्पष्ट करते हैं। जहाँ इतिहासकार मुर्दोंकी सूची खड़ी करता है, नीरस संधियोंकी नामावली गिनाता है, राजाओंकी वंशावली-गणना करता है, वहाँ कवि मुर्दा हड्डियोंमें जीवन प्रदान करता है, अतीतका चित्र सजीवताके रंगमें रंगता है और वर्तमानके चित्रोंमें उत्साह और ओजका फ्रेम लगाता हुआ भविष्यके चित्रोंमे वह उज्ज्वल मुसकान भर देता है जो स्वर्गीय सुषमा प्रकट करती है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त किस श्रेणीके कवि हैं? साहित्यिक-समालोचनाका सबसे बड़ा लक्षण समय है। हम नहीं कह सकते कि आजसे सौ साल बाद 'भारत-भारती' लोग इसी लगनसे पढ़ेंगे जैसे आज पढ़ते हैं। किसी कविकी सब रचनाओंमें एक ही प्रकारका रस और एक ही प्रकारकी गरिमा नहीं होती। यह नहीं कहा जा सकता कि 'भारत-भारती' सौ सालके बाद लोगोंको अवश्य ही रुचिकर होगी; पर इतनी आशा की जा सकती है कि 'साकेत' की भविष्यमें भी वही प्रतिष्ठा होगी जो आज हो रही है। परन्तु साहित्यिक आलोचकका कर्तव्य भविष्यवाणी करना नहीं है। गुप्तजीमें पहली श्रेणीके कवियोंके गुण हैं अथवा नहीं यह समयकी कसौटीपर आनेवाले आलोचक बतावेंगे। हाँ, इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि गुप्तजी अपने समयके प्रतिनिधि हैं। महात्माओंके गुणोंका उनके काव्यमें समावेश हो अथवा नहीं, प्रकृत कविके गुण उनकी रचनामें दिखायी देते हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्तके साहित्यिक विकासका समय वह है जब हिन्दीमें एक युगान्तर उपस्थित हुआ था। हिन्दी गद्य-शैलीको एक विशिष्ट रूप देनेवाले, और खड़ी बोलीकी कविताको प्रोत्साहन देनेवाले आचार्य द्विवेदीजी सरस्वतीकी प्रबल धारा प्रवाहित कर रहे थे। हिन्दीका वह रूप स्थिर हो रहा था जिसने उसे एक प्रान्तीय भाषासे उठाकर राष्ट्र-भाषाके सिंहासनपर बैठा दिया और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंने समझना आरम्भ कर दिया कि हिन्दीसे ही देशका कल्याण होगा। नये विचारों, कहानियों, तथा कविताका हिंदीमें पदार्पण हो गया था।

राजनीतिक वातावरण जाग्रतिका था। यद्यपि वे राष्ट्रीयताके भाव जो आज प्रत्येक भारतीयके हृदयमें उठते हैं उस समय नहीं थे, फिर भी मारले-मिण्टो सुधार आ गये थे। पश्चिमी राजनीतिक संगठनकी शैलीका अंकुर हिन्दुस्तानमें प्रौढ हो रहा था। ऐसे समय यह स्वाभाविक था कि कोई कवि-हृदय राष्ट्रीयताके भावोंसे उद्वेलित हो और उसकी रचनाओंपर देशाभिमान, राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम की छाप पड़ जाय। कविका हृदय तो सिस्मोग्राफके समान होता है। तनिक-सी भी घटना हुई उसका हृदय हिल उठा। यदि प्रेमीका हृदय प्रेमिकाकी एक मुसकान पर हँस देता है और जरा सी तीखी चितवनपर काँप उठता है तो कविका हृदय भी इससे कम नहीं है। सच बात तो यह है कि कवि-हृदय ही प्रेमी हो सकता है। वह कवि ही है जो पुष्पोंकी एक-एक पंखड़ीकी स्निग्धतापर नाच उठता है और एक-एक मुरझाई हुई पत्तोंपर घंटों रोता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कविका हृदय भावुक है। कोई घटना ऐसी नहीं है जिससे उसका हृदय स्पन्दित न हो सके।

गुप्तजीके हृदयपर भी देशकी करुणा-जनक अवस्थाका प्रभाव पड़ा है। क्यों न पड़ता। जो देश भोजन बिना मर रहा हो, जिस देशके निवासी राजनीतिक दास हों, जिस देशके निवासी दूसरे देशोंमें अप्रतिष्ठित हों, उनका प्रभाव किस जाग्रत हृदयपर न पड़ेगा। हाँ, कुछ लोग भावोंको स्पर्श करके चुप्पी साध जाते हैं और कुछ लेक्चरोंमें गला फाड़ देते हैं, कवि उन्हीं भावोंको शब्दोंके मोतियोंकी मालामें गूँथता है और देशवासियोंको उपहार-स्वरूप देता है।

इन्हीं भावोंसे प्रेरित होकर आजसे बीस-बाइस साल पहले गुप्तजीने अपनी प्रथम उत्कृष्ट रचना देशको समर्पित की थी। 'भारत-भारती' एक ऐसे कविकी रचना है जिसे देशकी दीन अवस्थाकी ठेस लगी है और जो देशकी उन्नति तथा जाग्रति में सहायक होना चाहता है। आरम्भमें मङ्गला-चरणमें ही कवि लिखता है—

एक दूसरे स्थलपर गुप्तजी अपनी प्राचीन कृतियोंके सम्बन्धमें कहते हैं:—

'हम पर-हितार्थं सदैव अपने प्राण भी देते रहे,
हाँ, लोकके उपकार-हित ही जन्म हम लेते रहे।
सुर भी परीक्षक हैं हमारे धर्मके अनुरागके,
इतिहास और पुराण हैं साक्षी हमारे त्यागके ॥

अन्तमें कवि कहता है.—

'यह पाप-पूर्ण परावलम्बन चूर्ण होकर दूर हो;
फिर स्वावलम्बनका हमें प्रिय पुण्य पाठ पढ़ाइये।

× × × ×

यह आर्य भूमि सचेत हो फिर कार्य भूमि बने अहा!
वह प्रीति-नीति बढ़े परस्पर भीति-भाव भगाइये।

× × × ×

सुख और दुखमें एक-सा सब भाइयोंका भाग हो,
अन्त करणमें गूँजता राष्ट्रीयताका राग हो ॥'

इन भावोंको लेकर जो कवि साहित्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण हुआ हो उसका सारा साहित्यिक जीवन राष्ट्रीयताके रससे भरा हो तो क्या आश्चर्य!

गुप्तजीकी साहित्यिक कृतियाँ चार विभागोंमें बाँटी जा सकती हैं। अनुवाद, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक तथा आत्मगत काव्य (Subjective Poems)।

गुप्तजीने मुख्यतः बंगालसे पुस्तकें अनुवादित की हैं। हॉ, एक 'स्वप्नवासवदत्ता' भास कविकी है। मेघनाद वध, विरहणी व्रजागना और वीरांगना माइकेल मधुसूदनकी हैं। 'पलासाका युद्ध' नवीन चन्द्रसेनके 'पलाशीर युद्ध'का अनुवाद है। कलाकारके हृदयकी प्रतिबिम्ब उसकी मौलिक कृतियोंपर ही पड़ सकता है। इसलिए इस लेखमें हम गुप्तजीद्वारा अनूदित रचनाओंपर विचार नहीं करेंगे।

गुप्तजीका काव्य-जीवन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राष्ट्रीयतासे आरम्भ हुआ है, इसलिए उनकी रचनाओंमें इन भावोंकी अधिकता है।

'भारत-भारती' तो अतीत और वर्तमान भारतके उत्थान तथा पतनका जीता-जागता फोटो है। उसके दो एक उद्धरण ऊपर दिये गये हैं। पुस्तक ऐसी ख्याति पा चुकी है कि अधिक अवतरण देनेकी मैं यहाँ आवश्यकता नहीं समझता।

'किसान' पढ़कर कोई जिन्दादिल आदमी बिना चार आँसू बहाये नहीं रह सकता। भारतीय किसानोंकी करुण-कहानी जानना हो तो 'किसान' पढ़िये। कल्लूकी रामकहानी और कुलवन्तीका करुण-राग पढ़कर यदि हृदयमें करुणा, ग्लानि आदि भावोंका उदय नहीं होता तो आप मुर्दे हैं। इन पुस्तकोंसे भारतीय जाग्रतिमें यदि सहायता नहीं मिली तो मानना होगा कि देश सोया नहीं मर गया है। हमारी समझमें कविकी यह बड़ी सफल रचना है। 'किसान'की भाषा भी किसानोंकी भाषा है जिसे सब लोग समझ सकते हैं—

'बनता है दिन रात हमारा रुधिर पसीना,
जाता है सर्वस्व सूदमें फिर भी छीना,
हा-हा खाना और सर्वदा आँसू पीना,
नहीं चाहिए नाथ! हमें अब ऐसा जीना।'

कल्लू जिस समय अधिकारियोंद्वारा धोखा खाकर फिजी टापूमें चला जाता है, उसके हृदयसे जो उद्गार निकलते हैं सभी राष्ट्रीय भारतीयोंके उद्गार हैं। कहता है—

'भारतवासी बंधु हमारे! तुम यह खाँड़ न लेना,
लज्जासे यदि न हो घृणासे इसे न मुँहमें देना।
हम स्वदेशियोंके शोणितमें यह शर्करा सनी है।
हाय हड्डियाँ पिसीं हमारी तब यह यहाँ बनी है।'

अब अवस्था सुधर गयी है। ठीक है कि अब फिजी आदि टापुओंके लिए भर्ती नहीं होती, परन्तु किसानोंके लिए अन्य यन्त्रणाएँ हैं। दस-बीस-पचास सालके पीछे जब हमारे किसानोंकी अवस्था सुधर जायगी, जब वे अपनी धरतीके मालिक होंगे, उस समय 'किसान' कविता एक प्राचीन-झलक रह जायगी और आनेवाली सन्तान इसे अचंभेसे देखेगी; परन्तु अभी तो यह जीवित चित्र है।

यह मानना पड़ेगा कि गुप्तजीकी राष्ट्रीयता उन सुधारकों अथवा नेताओंकी भाँति नहीं है जो हिन्दू धर्म मिटाकर भारतमे एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं। हिन्दू धर्मकी मर्यादा भी आप कायम रखना चाहते हैं और हिन्दुओंको जगाकर एक राष्ट्र भी बनाना चाहते हैं। आर्यसामाजिक ढंगकी शुद्धि भी गुप्तजी उचित नहीं समझतेः—

'किन्तु शुद्धि कैसी वह हाय,
कोई भी ब्राह्मण बन जाय!'

कविको दुख है कि 'होकर ऋषियोंकी सन्तान सहते हो तुम क्यों अपमान।' गुप्तजीके विचार हिन्दू-हितोंकी रक्षा करना चाहते हैं, साथ ही वे पुराने दकियानूसी नहीं हैं, क्योंकि उनका कहना है—

'छोड़ो ऊँच-नीचका दंभ,
सम है हम सबका आरम्भ।
वह विराट् है एक उदार
जिससे जन्मे हैं हम चार'

देशमें राष्ट्रीय विचारोंकी अनेक श्रेणियाँ हैं। गुप्तजी अधिकांश लोगोंकी भाँति अतीतकी नींवपर नव-भारतका प्रासाद निर्माण करना चाहते हैं। इसीलिए बेर-बेर प्राचीनताकी स्मृति दिलाते जाते हैं। जिसके उदाहरण 'भारत-भारती', हिन्दू 'गुरुकुल' आदि सभी काव्योंमें विद्यमान हैं। साथ ही यह भी आकाँक्षा है कि जो कुछ ज्ञान-विज्ञान पश्चिमसे हम सीख सकें सीखें। हाँ, अपनेको पश्चिमकी तरंगोंमें वह न जाने दे, इसका ध्यान अवश्य रहे—

उनका सा दृढ पक्ष रहे, पर अपना ही लक्ष्य रहे।
उनका ऐसा ढंग बढे, पर अपना ही रंग चढ़े॥
उनकी प्रस्तावना पगे, पर अपनी भावना जगे।
उनका सा उद्योग करो, किन्तु योग में भोग भरो॥
भय पर उसकी सत्ता है, शास्त्रों में सुमहत्ता है।
किन्तु तुम्हारी विश्व-विजय रही प्रेम की प्रभुतामय॥

गुप्तजीने जहाँ अपनी रचनाओंमें ऐतिहासिक सामग्रीका उपयोग किया है वहाँ भी इस प्रकारसे जातीयताकी भावना स्पष्ट झलकती है। क्या रामचरित्र, क्या बुद्धचरित्र और क्या सिक्खोंके गुरुओंकी गाथा तथा सिक्ख जातिका इतिहास, इन्हें पढनेसे जहाँ और-और भावोंका उदय होता है वहाँ राष्ट्रीयताके भाव दूध-पानीकी भाँति मिश्रित हैं गुरुकुलमें जहाँ बड़ी ओजस्विनी भाषामें दसों गुरुओंके जीवन-चरित हैं, वहाँ बलिदान और देश प्रेमकी शिक्षाका स्थल-स्थलपर पुट है।

'साकेत' और 'यशोधरा'को भी हम ऐतिहासिक काव्य मानते हैं। बुद्धदेव ऐतिहासिक व्यक्ति थे इसमें किसीको संदेह नहीं है। राम और लक्ष्मण कितने भी पुराने हों, उनकी स्मृति कितनी भी धुंधली हो, हैं हमारे इतिहासके नायक और हमारे भारतीय राजा तथा शासक।

इन दो रचनाओंमें इतिहास और राष्ट्रीयताके साथ कविकी काव्य-कलाका पूरा विकास हुआ है।

'यशोधरा' यद्यपि बादकी रचना है फिर भी कविको अपनी प्रतिभाका चमत्कार दिखानेके लिए उतना स्थान नहीं मिला है जितना 'साकेत'में। सूरदासके पश्चात बाल-मनोवृत्तिका सुन्दर चित्र यदि कहीं मुझे दिखलायी पड़ा तो 'यशोधरा' में जहाँ कवि ने राहुलका बालपन दिखलाया है—

'ओ माँ, आँगनमें फिरता था कोई मेरे संग लगा,
आया त्योंही मै अलिन्दमें छिपा न जाने कहाँ भगा'
'बेटा भीत न होना वह था, तेरा ही प्रतिबिम्ब जगा'
'अम्ब प्रीति क्या ?' 'मृषा भ्रान्ति वह रह तू रह तू प्रीति-पगा'

* * * *

'नहीं पियूँगा, नहीं पियूँगा पय हो चाहे पानी'
'नहीं पियेगा बेटा यदि तू तो सुन चुका कहानी'
'तू न कहेगी तो कह लूँगा मै अपनी मनमानी,
सुन ! राजा वनमें रहता था, घर रहती थी रानी'

राहुल-जननीवाला सर्ग बड़ी रोचक और कोमल भावनाओंसे भरा है।

'यशोधरा' और 'साकेत' पढनेसे मालूम होता है कि कवि केवल राष्ट्रीयताकी कराल अग्नि ही प्रज्ज्वलित करना नहीं जानता वह शान्त और करुण रसकी सरस और शीतल धारा बहाना भी जानता है। उर्मिला और यशोधराके चरित्र-चित्रण में कविने जो कमाल कर दिखाया है, उसकी क्या प्रशंसा की जाय। 'साकेत'की समालोचनामें मै पहले एक बार लिख चुका हूँ कि वह बीसवीं शताब्दीका रामायण है। इसपर मैं दूसरी बार जोर देना चाहता हूँ कि वह बीसवीं सदीका है। 'साकेत'के पात्रोंको कविने बीसवीं सदीके रंगमे रंगा है और काव्यकी दृष्टिसे 'साकेत' एक सुष्ठु महाकाव्य है। उसकी उक्तियाँ बड़ी सुन्दर रसपूर्ण और मौलिक हैं—

'हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी'

अथवा—

'तुम अर्द्ध नग्न क्यों अशेष समयमें'
आओ हम कातें बुनें गानकी लयमें,

था—

'सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया'

इत्यादि भाव आजके हैं।

काव्यका आनन्द स्थान-स्थानपर मिलता है। 'यशोधरा' और 'साकेत' कविताकी दृष्टिसे उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। अपनी काव्यानुभूतिके अनेक भावोंको मिश्रित करके गुप्तजीने इन पुस्तकोंमें विशेषत 'साकेत'में जो चित्र बनाया है वह हिन्दी-जगत्‌में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

'साकेत'के नवम सर्गमें तो कविकी प्रतिभा फूट पड़ी है। काव्य-रसिकोंको नीचेके उदाहरण हृदयग्राही होंगे—

'काली काली कोइल बोली—होली-होली-होली!'
हंसकर लाल-लाल होठोंपर हरियाली हिल डोली,
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृतिकी पीली-पीली चोली।'

*　　　*　　　*　　　*

'अरुण संध्याको आगे ठेल देखनेको कुछ नूतन खेल,
सजे विधुकी बेंदीसे भाल, यामिनी आ पहुँची तत्काल'

केकयी—

'पड़ी थी बिजली सी विकराल लपेटे थे घन जैसे बाल'

इसी नवम सर्गका एक गीत है—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग भी जलता है, हा! दीपक भी जलता है!
सीस हिलाकर दीपक कहता—
बन्धु वृथा ही तू क्यों दहता?'
पर पतंग पड़ कर ही रहता—
कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

*　　　*　　　*　　　*

दीपकके जलनेमें आली,
फिर भी है जीवनकी लाली,
किंतु पतंग भाग्य-लिपि काली,

किसका वश चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

\+ + + +

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती,

लाभ नहीं, परिणाम निरखती।
मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है,

इसी सर्गकी निम्नलिखित पंक्तियाँ भी सुन्दर हैं—

मुझे फूल मत मारो।

मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधुके मीत मदन, पटु तुम कटु गरल न गारो।
मुझे विकलता तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो।
नहीं योगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर-विन्दु हर, यह हर नेत्र निहारो!
रूप दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पतिपर वारो।
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रतिके सिरपर धारो।

आठवें सर्गमें सीताजी नीचे लिखा गीत गाती हैं—

नाचो मयूर, नाचो कपोतके जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ानके तोड़े,
गावो दिवि,चातक,चटक भृङ्ग भय छोड़े,
वैदेहीके बनवास वर्ष हैं थोड़े।

तितली तूने यह कहाँ चित्रपट पाया?
मेरी कुटियामें राज-भवन मन भाया।

आओ कलापि निज चन्द्रकला दिखलाओ,
कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ।

गाओ पिक, मैं अनुकरण करूँ तुम गाओ।
स्वर खींच तनिक यों उसे घुमाते जाओ।

शुक, पढो-मधुर फल प्रथम तुम्हींने खाया ।
मेरी कुटियामें राज-भवन मन भाया ।

अयि राजहंसि तू तरस–तरस क्यों रोती,
तू शक्ति वंचिता कहीं मैथिली होती,
तो श्यामल तनुके श्रमज विन्दुमय मोती,
निज व्यजन पत्रसे तू अकोर सुध खोती,

निज पर मानसने पद्म रूप मुँह बाया ।
मेरी कुटियामें राजभवन मन भाया ।

उपर्युक्त उदाहरण विशुद्ध साहित्यके रत्न हैं, जिसे प्रत्येक पारखी देख सकता है ।

'साकेत'मे गुप्तजीकी प्रतिभाका जो विकास हुआ है वह पहलेकी किसी रचनामें नहीं दिखायी देता । यद्यपि अन्य रचनाएँ भी एक प्रकारसे प्रौढ़ हैं पर साहित्यिक-कला का आनंद जितना 'साकेत'मे आता है उतना अन्य ग्रन्थोंमें नहीं । इन दो ग्रन्थोंसे स्पष्ट है कि स्त्रियोंकी ओर जो सहानुभूति गुप्तजीको है वह और कवियोंमें नहीं पायी जाती । यह भी समय का प्रभाव है । काव्यके इन कोमल चित्रोंको भी नवीनताका हार गुप्तजीने पहना ही दिया !

जबसे हिन्दी-कवितामे क्रान्ति-युग चला—जबसे वह काल आया जिसे लोग 'छायावाद'के नामसे पुकारते हैं, गुप्तजीकी कवितापर भी इसका प्रभाव पड़ा । उनकी फुटकर रचनाओंमें जो आत्मगत कविताएँ हैं 'छायावाद'से प्रभावित हैं । यहाँपर मैं पुनः यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिंदीमें 'छायावादी' कुछ लोगोंका रखा हुआ नाम है और नवीन ढंगकी आत्मगत रचनाएँ इसी नामसे विख्यात अथवा सुविख्यात हो चली हैं । जैसे हिन्दू नाम वास्तवमें दूसरा अर्थ रखता है परन्तु अब हम सब अपनेको इसी नामसे पुकारे जानेमें गौरव समझते हैं, उसी प्रकार यदि खास ढंगकी आत्मगत कविताएँ 'छायावादी'के नामसे पुकारी जायँ तो इसमें कोई पाप नहीं है ।

गुप्तजीकी छायावादी रचनाएँ आत्मिक वेदनासे भरी हैं । वे 'सूडो छायावादी' नहीं हैं । परन्तु उनकी कल्पना और छायावादियोंकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म नहीं होती । अन्तरवेदना होती है, परन्तु कल्पनाकी उड़ान इतनी ऊँची नहीं होती

कि केवल विद्वान् ही समझ सकें। आत्माकी असावधानता जिन शब्दोंमें गुप्तजीने अंकितकी है वह सुनिये—

अब जागी अरी अभागी!
अब जागी खोनेको सोई,
अब रोनेको जागी!
लिखती रही स्वप्नकी लेखा,
आये प्रिय प्रत्यक्ष न देखा,
× × रख गये हैं ध्वज-रेखा,
वे पद-पद्म परागी
अब जागी अरी अभागी!

मैं तुलनात्मक रूपसे यहाँ गुप्तजीकी आलोचना नहीं कर रहा हूँ, परन्तु उनकी रचनाओंसे यह स्पष्ट झलकता है कि गुप्तजीकी भाषा और भाव सरल हैं। ऐसे भी छायावादी हैं जिनके भावोंकी गहराई बहुत गंभीर और भाषाका चित्रण बड़ा ही अलंकारपूर्ण है। यह अपनी-अपनी शैली है। गुप्तजीकी भाषा-शैली सरल है। जैसे—

ध्यान न था कि राह में क्या है,
काँटा कंकड़ ढोका, ढेला,
तू भागा मै चला पकड़ने
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

गुप्तजी एक स्थानपर लिखते हैं—

मैं योंही भटकी हे आली! मिले अचानक वनमाली।
उन्हें स्वप्न मे देख रात को प्रातःकाल चली मैं,
और खोजती हुई उन्हींको घूमी गली-गली में,
कितनी धूल छान डाली मैं यों ही भटकी हे आली।
उनके चिह्न अनेक मिले, पर वे न दिये दिखलायी।
नगर छोड़कर संध्या तक मैं निर्जन वनमें आयी,
वहाँ शून्यता ही साली मै, यों ही भटकी हे आली। इत्यादि।

भक्तिका जो भाव इन पंक्तियोंमें प्रदर्शित है वह साधारणसे साधारण मनुष्य भी सरलतासे समझ सकता है। प्रसाद गुण गुप्तजीकी कविताओंका मुख्य लक्षण

है। यद्यपि तत्सम शब्दोंका प्रयोग गुप्तजीकी कविताओंमें बहुत होता है और कभी-कभी वह कर्णकटु भी हो जाता है फिर भी गुप्तजीकी रचनाएँ सबकी समझमें आ जाती हैं।

गुप्तजी वैष्णव हैं और रामके परम भक्त हैं। उनकी रचनाओंके पहले छन्द इसके प्रमाण हैं। सभी पुस्तकोंमें पहले उन्होंने सीतापति, जानकी-जीवन, दशरथ-नन्दन रामकी वन्दनाकी है। यह धार्मिक भाव समस्त रचनाओंके भीतर घुसा हुआ है। आप किसी धर्मके विरोधी नहीं हैं, उदार सनातनधर्मीके भाव आपकी कविताओंमें हैं।

गुप्तजीकी धार्मिक भावना भक्तोंकी-सी है। यह ठीक है कि उनकी भक्ति मीरा-सी विह्वल और सूर तथा तुलसीके समान अन्धी नहीं है। गुप्तजीकी भक्ति एक सरस हृदयकी श्रद्धापूर्ण भक्ति है जिसमें औचित्यकी सीमा है।

साहित्यके इस जागरण कालमें जहाँ अनेक शक्तियाँ काम कर रही हैं, राष्ट्रीयता भी है और एक मुख्य शक्ति भी है। भारतके पीड़ित नर-नारी दासताकी जंजीरसे मुक्त होकर अपने देश, अपनी जाति और अपने साहित्यका अभ्युदय देखना चाहते हैं। इस शक्तिने भी अनेक साहित्यिकोंको नव-साहित्य-निर्माण करनेको प्रेरित किया है, उनके प्रतिनिधि गुप्तजी हैं—ऐसे प्रतिनिधि हैं जिनमें राष्ट्रीयताके साथ-साथ धार्मिक भावोंका समावेश है। राष्ट्र और राम यही दोनों गुप्तजीकी साधनाके मंत्र हैं। उनके मतसे इन्हीं दोनोंसे देशका कल्याण होगा—

राम तुम्हें यह देश न भूले,
धाम-धरा-धन जाय भले ही,
यह अपना उद्देश्य न भूले।
निज भाषा, निज भाव न भूले।
निज भूषा निज वेश न भूले।
प्रभो, तुम्हें भी सिन्धु पार से
सीता का सन्देश न भूले

जून १९३४]

———

हिन्दी कविताकी भाषा

कवि, पत्रोंमें प्रकाशित करने अथवा कवि सम्मेलनोंमें पढ़कर वाह-वाही लूटनेके लिए कविता नहीं लिखता। कवि तो वह है, जिसके हृदयके भीतरसे प्रेम अथवा भक्तिकी अविराम धारा फूटकर निकलती है और वह स्वयं उसीमें मग्न हो जाता है। वह 'स्वांतः सुखाय' अपनीही कृतियोंसे क्रीडा करता है, वह अपने ही पदोंको गानेमें मस्त रहता है। भक्त लोगोंकी जबान उसकी रचनापर लोटने लगती है; क्योंकि उसमे सचाई होती है, उसमें वेदना होती है। वह पुष्प भक्तोंके गलेका हार बनता है; क्योंकि वह कवियोंके हृदयके खूनसे सींचकर उगाया गया है। सूर, तुलसी, मीरा, नरसी, रामदासके कालमे रोटरी और लाइनो टाइप नहीं थे। परन्तु, उनकी रचनाएँ देशके कोने-कोनेमें फैलीं। यह किसीसे छिपा नहीं है कि रामचरितमानसकी लोकप्रियताका कारण उसकी सरल भाषा है। इसी कारण उसका सत्कार साहित्यके आचार्योंसे लेकर अक्षर न जाननेवाले किसानों और दूकानदारोंतक होता है।

उन्हींका ग्रंथ विनय-पत्रिका, जो बड़ा सुन्दर और भक्ति-भावोंसे परिपूर्ण है, लोक-प्रिय नहीं हुआ; क्योंकि आरम्भमें ऐसे समास-संयुक्त पदोंसे कविता लदी है कि समझनेके लिए प्रयास करना पड़ता है।

आजकल जितने ऊँचे दर्जेकी कविता हिन्दी-भाषामें होती है, वह अधिकांश ऐसी भाषामें होती है, जिसका समझना साधारण पाठकोंके लिए कठिन है। यह कहना तो उचित नहीं होगा कि सुन्दर और उच्च भाव साधारण भाषामें व्यक्त नहीं किये जा सकते। रत्न और आभूषण, पेंट और पाउडरसे कृत्रिम सौन्दर्यका

प्रदर्शन तो भले हो सकता; परन्तु जो नयनाभिराम सौन्दर्य स्वाभाविकता और सादगीमें होता है, वह कुछ और ही वस्तु है।

Wordsworth का कहना है कि गद्य और पद्यकी भाषा एक होनी चाहिए। वह कहते हैं—

It may be safely affirmed, that there neither is, nor can b^, any essential dıfference between the language of prose and metrical composition'.

यह स्पष्ट रूपसे कह देना चाहता हूँ कि 'वर्ड्सवर्थ' स्वयं अपने सिद्धान्तोंका पालन नहीं कर सका। अंग्रेजी साहित्यका अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि उनकी अनेक कविताएँ जैसे 'ओड टु ड्यूटी' आदि बड़ी क्लिष्ट हैं; परन्तु उसकी वह कविताएँ, जो सरल भाषामें लिखी गई हैं, बहुत सुन्दर हैं। कविताकी भाषा गद्यसे तो अवश्य भिन्न होगी—कवितामें कुछ ऐसे बंधन हैं, भावोंका कुछ विशेष ऐसा प्राधान्य है कि उसकी भाषा अलग होगी; परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि कविता जान बूझकर अस्वाभाविक और कृत्रिम भाषामें लिखी जाय। इस बातपर यह दलील हो सकती है कि कवि कल्पना-जगतमें लिखता है। जिस समय उसकी लेखनीका प्रवाह आता है, भाषापर नियंत्रण करनेका अवकाश नहीं रहता। भावकी तरंगोंमें भाषा डूब जाती है।

यह विचारोंका प्रश्न है। जितना स्पष्ट कोई विचार होगा, उतनी ही स्पष्टतासे वह व्यक्त होगा। उच्च कविके विचार ही इतने गम्भीर होते हैं कि उनका सौंदर्य निरखने और परखनेके लिए अच्छी गहराई तक जाना पड़ता है; फिर जब भाषाकी जटिलताका घेरा अलगसे होता है, तब तो कठिनाई बहुत बढ़ जाती है।

हिन्दीके कुछ कवियोंपर—जैसे प्रसादजी—संस्कृत-साहित्यकी ऐसी गहरी छाप पड़ी है कि उनके विचार संभवतः कठिन भाषामें व्यक्त होते हैं। उनके समीप रहनेवालोंको पता चल जाता है कि वह भाषा बनाते नहीं। और भी ऐसे कवि होंगे जिनपर संस्कृत भाषाका काफी रोब छाया हुआ है और वह अपनी रचनाओंमें ऐसी भाषाका ही प्रयोग किया करते हैं; परन्तु आजकल ऐसे बहुतसे कवि देखनेमें आते हैं, जिन्हें संस्कृतकी टूटी-फूटी भाषासे कुछ परिचय हो गया है, कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने संस्कृत पढ़ी भी नहीं, परन्तु उनकी कविता अस्वाभाविक, बनावटी भाषाके बोझमें लदी हुई है। कविता केवल शास्त्रियों या कवियोंके समझनेके लिए नहीं होती। बढ़िया हीरा सब लोग खरीद नहीं सकते; परन्तु उसकी कटान और

चमक-दमक देखकर उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होनेका सबको अधिकार है। इसी प्रकार सब लोग कवि भले ही न हो सकें; परन्तु काव्यानन्दका सुख तो सभीको लेनेका अधिकार होना चाहिए।

कोई समय था कि शब्दोंका चमत्कार ही कविताका मुख्य उद्देश्य समझा जाता था। शब्दोंके लिए कविता की जाती थी। वह युग गया। कवि और लेखककी योग्यताकी कसौटी यह है कि अपने भावोंको ठीक व्यक्त करनेके लिए सरल-से सरल और साधारण प्रयोगकी भाषा काममें लावें।

आजकलकी अधिकांश कविताका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह साधारण पाठकोंसे बहुत दूर चली गई। कवितामें और पाठकमें प्रतिदिन यह दूरी बढ़ती चली जाती है। और भाषाके विकासकी दृष्टिसे भी कवितामें बनावटकी मात्रा अधिक होती जा रही है। सम्भव है, यह इस युगका प्रभाव हो, जब समाज, धर्म, राजनीति, आहार-व्यवहार सभी जगहोंमें कृत्रिमताका बोलबाला है। मगर कवि—जो सचमुच कवि होता है—इन सबसे ऊपर होता है।

बहुत प्राचीन इतिहासमें न जाकर हम भारतेन्दुकी ही कवितासे आरम्भ करते हैं। उनकी कविताकी भाषा प्रसाद गुणसे पूर्ण थी। आज पचास सालके बाद हमारी कविताकी भाषाका रंग बदल गया। वह हमारे जीवनसे अलगकी चीज मालूम होती है। इस ओर हमें सतर्क होनेकी आवश्यकता है। उर्दूमें काव्य-धारा बदल गई है। अब उसकी कवितामें ग़ालिबकी भाषाकी बू नहीं पाई जाती। फारसी और अरबीकी बन्दिशें और तरकीबें अब धीरे-धीरे दूर हो रही हैं। कहीं-कहीं तो ऐसी कविताएँ होने लगी हैं कि आप कह नहीं सकते कि यह उर्दूकी कविता है कि हिन्दीकी।

हमारा यह कहना नहीं है कि भाषाके लिए भावकी हत्या की जाय; पर हम यह भी नहीं चाहते कि कविताकी छायामें शब्दोंका आडम्बर रचा जाय। काव्य-प्रकाशकारने जो कहा है—

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत्सहसैवयः'

बड़ी प्राचीन बात हो गई है; परन्तु उसकी सचाईमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आने पाई है। प्रसाद काव्यका महान् गुण समझा जाता है। इसके अभावमें हिन्दी कविता हिन्दी-भाषा-भाषियोंकी सम्पत्ति न होकर केवल साहित्याचार्योंकी सम्पत्ति होती जाती है।

यह तो सम्भव नहीं है कि सबकी कविताकी भाषा ऐसी हो जाय कि पाँच

सालका बच्चा भी समझ ले। विषयकी गम्भीरताके अनुसार, भावोंकी भव्यता तथा कल्पनाकी उड़ानके हिसाबसे भाषा बदलती रहेगी; परन्तु जिस प्रकार लोग अब यह भलीभाँति, और ठीक ही समझ गये हैं कि बहुतसे पुराने कवियोंकी तरह केवल कोई विशेष अलंकारके लिए, कोई खास रूपक या उत्प्रेक्षाकी छटा दिखानेके लिए कविता करना अनुचित है, उसी प्रकार भाव-विहीन छन्दोंको शब्दोंके कृत्रिम शृङ्गारसे ढकना, कविता-कामिनीके संग अत्याचार करना है।

गद्यकी भाषामे कृत्रिमताका अंश कम है, यद्यपि इस ओर भी कुछ लोगोंने यही बात आरम्भ कर दी है। हम यह नही कहते कि जितनी कठिन भाषा वाली कविताएँ आज रची जाती हैं, वह कविता नहीं है। हमारा यह कहना है कि ऊँचे दर्जेकी कविताओंकी भाषा सरल हो सकती है। हमारा विरोध उन कवियोंसे है, जिनकी रचनाओंमे संस्कृतके बड़े-बड़े समास-भरे हुए हैं और केवल कहीं 'का' या 'की' विभक्तियोंसे अथवा 'है' और 'था' क्रियाओंसे पता चलता है कि यह हिन्दीकी रचनाएँ हैं। हम कविता चाहते हैं, शब्दावलीका बाजार नहीं चाहते।

जिस प्रकार अधिकाश प्राचीन कविता अलंकारोंसे लदी हुई स्वाभाविकता खो बैठी, उसी प्रकार यदि यही अवस्था रही, तो वर्तमान काव्य, जिसका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल और होनहार है, अपनी स्वाभाविकता खो बैठेगा। और यह हिन्दीकी राष्ट्रीयताके लिए ही नहीं, हिन्दी-साहित्यके लिए भी दुर्भाग्य होगा।

[सन् १६२२ ई०]

सुंदरप्रसाद मजनू

आज कलके जमानेमें जब दो लाइनें भी सीधी-टेढ़ी लिखनेकी योग्यता आ जाती है तब यही इच्छा होती है कि किसी पत्रमें यह छप जाती तो अच्छा होता। यह अवस्था लेखकोंकी स्वाभाविक है। स्वयं तुलसीदास लिखते हैं "निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होय अथवा अति फीका।" गोस्वामी जीमें यह 'अहं' भाव रहा हो या नहीं पर साधारणतः ऐसा होता है, यह सच है। लोग दो बातोंके लिये आजकल लिखा करते हैं। एक तो पैसा कमानेके लिये, दूसरे नामके लिये। दूसरे ढङ्गके लिखनेवालोंकी इच्छा यह नहीं होती कि हमारी रचनासे देश अथवा समाजको लाभ हो, जितनी यह कि लोग जानें कि हममें भी योग्यता है। हम भी कविता कर सकते हैं। लोग हमारे सामने कहें कि 'आप तो बड़ा अच्छा लिखते हैं।' ऐसे लोगोंकी रचनाओंमें गुण नहीं होता सो बात नहीं है। बहुतोंमें होता है, बहुतोंमे नहीं होता। पर सच्चे कवि वह हैं जो 'स्वान्तः सुखाय', अपने तकिये के बादशाह, 'जब मौज पे आजाय है दरियाए तबीयत' कागज उठाया लिख दिया। न प्रकाशनका लालच न नामकी परवाह। हृदयकी उमंग उठी कलम चलपड़ी। उनकी कृतियाँ समुद्रके किसी गड्ढे मे जैसे मोती पड़ा रहता है वैसे ही पड़ी रहती हैं। कितनोंकी पड़ी रह गयीं और पड़ी होंगी। हाँ कोई साहित्यिक गोताखोर परिश्रम करके उन्हें निकालता है तो मनुष्य समाजके सम्मुख उनकी चमक-दमक दीख पड़ती है। ऐसे ही अनजान, गुमनाम, और नामालूम लोगोंमें हमारे कवि सुन्दर-प्रसाद 'मजनू' भी हैं। कितनोंने यह नाम भी न सुना होगा।

आपका जन्म फर्रुखाबादमे सम्वत् १८६३में हुआ था। आप कायस्थ सकसेना कुलमें उत्पन्न हुए थे। आपके पितामह राय हीरानन्द साहब रियासत फर्रुखाबादके प्रधान मन्त्री और आपके पिता, राय नारायणदयाल साहबके मॅझले बेटे थे। पर, आपका रहन-सहन अधिकाशतः बुलन्दशहरमें होता था, जहाँ आपके चचा राय बिशुनदयाल साहब डिप्टी-कलक्टर थे। इससे पता चलता है कि आर्थिक कठिनाइयोंकी आँच आप पर न आयी थी। आप केवल २८ साल इस संसारके उद्यानमें खिल कर मुरझा गये! सम्वत् १६२५ अर्थात् सन् १८८२ में परलोक चले गये। पर, 'कीट्स'की भाँति जो कुछ कह गये, एक चीज़ कह गये। आपको कोई पुत्र न था। आपकी रचनाएँ गुजरानवालाके मुंशी दीनानाथ 'सय्याह'ने एकत्र किया है। पर, वह शायद ऐसी अवस्थामे उन्हें मिली हैं कि, दीमकोंने पूरी दावत कर ली है। रचनाएँ थोड़ी-बहुत पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित की गई हैं। 'ज़माना'में भी निकली हैं। इसी समय बुलन्दशहरमें उर्दू-कविताके प्रचण्ड-स्तम्भ हज़रत गालिब भी रहते थे। गालिबके शिष्य मुंशी बालमुकुन्द 'बेसब्र' भी वहीं रहते थे। पहले 'बेसब्र' उसके बाद गालिबकी शागिर्दीका गौरव आपको प्राप्त हुआ। जिस प्रकार 'नसीम' और 'सरूर' अपनी थोड़ी आयुमें जो लिख गये उसीमें कमाल हासिल कर लिया, उसी प्रकार 'मजनू'-महाशय भी विद्युच्छटाकी भाँति क्षणिक जीवनमे ज्योति दिखाकर लोप हो गये।

आपकी कुछ कविताओंकी बानगी मै पाठकोंके लिये प्रस्तुत करता हूँ। आपने फारसीमें भी गज़लें कही हैं। मैं स्वयं फारसीका विद्वान नहीं, इसलिये केवल उर्दूकी थोड़ी रचनाएँ उपस्थित करता हूँ। एक बात यहाँपर स्पष्ट करना चाहता हूँ। ऊपर मैंने लिखा है—'कीट्सकी भाँति जो कुछ कह गये, एक चीज कह गये।' किन्तु मैं 'कीट्स' और 'मजनू'की रचनाएँ बराबर नहीं समझता। न तुलना करता हूँ।

उर्दू-कवि बहुधा नवाबों या मालिकोंके यहाँ विवाहोत्सवोंमें सेहरा लिखा करते थे। अनेक कवियोंने सेहरे लिखे हैं। सबसे विख्यात 'गालिब' और 'जौक'के सेहरे हैं। 'बेसब्र'के पुत्रके विवाहपर मजनूने भी सेहरा लिखा है। पाँच सेहरोंमें तेंतालिस शेर हैं। दो तीन लिखता हूँ।

ज़ुलमतो नूर बराबर नज़र आए मुझको।
तेरी काकुलके पड़ा जब कि बराबर सेहरा॥
खूब हिल-हिलके बला लेता है उसके रुख़ की।
आशिके ज़ार है नौशका मुकर्रर सेहरा॥

सभी शेर इसी प्रकार गालिब और ज़ौक़के टक्करके हैं। पर, गुरुका आदर और शिष्यताकी नम्रता कैसे निभाई है। कहते हैं—

> लिख चुके सेहरे तो बस गालिबो ज़ौक़ ए मजनूं।
> कौन लिख सकता है अब इनके बराबर सेहरा॥

पहले शेरकी सरलतामें मानव-अनुभव दिखला दिया गया है। अन्धकार और प्रकाश, सुख, दुख सब समान हैं।

एक दूसरे सेहरेमें लिखा है—

> था गुमाँ यह कि शफ़क़से शाहे खावर निकला।
> रुख़से नौशःके जो फूलोंका हटाया सेहरा॥

प्रत्येक कवि, यदि वह सचमुच कवि है, अपने समयका प्रतिनिधि है। उसकी रचनाएँ उस कालकी प्रतिबिम्ब हैं। उस समयकी उर्दू-कविता जुल्फ़ व रुख़सार और गुल व बुलबुलपर समाप्त हो जाती थी—यह सच है, पर गालिब जैसे दार्शनिक उसके पर्दोंमें विश्व-रचनाका गोरखधन्धा देखा करते थे, और उसीके सुलझानेमें तल्लीन रहा करते थे। सुन्दर प्रसादने भी अपने गुरुकी ही प्रणाली अख़्तियार की थी।

> गुल को अफ़सुरदः कहीं बाग़ में देखा होगा।
> और क्या होगी भला वजहे मलाले बुलबुल॥
> गर है मंजूर जलाना ही तुझे ए सय्याद।
> आतिशेगुल से जलाना परो बाले बुलबुल॥
> जौरे सय्याद की महशर में शहादत देना।
> क़ुमरियो ख़ूब हो तुम वाक़िफ़े हाले बुलबुल॥
> होते बेदर्द न यों गुल को मसल ए गुलचीं।
> कि उखड़ जायेंगे नौहा परो बाले बुलबुल॥
> आशियाने पः पड़ा उसके गुल उसके मजनूं।
> जज़बए इश्क़ में अल्लाः रे कमाले बुलबुल॥

बुलबुलके दुखका और क्या कारण हो सकता है सिवाय इसके कि 'गुल' दुखमें हो। प्रेम-सागरमें डूबे हुओंके लिये अपने प्रियतमके सिवाय और किसीसे मतलब ही क्या। प्रियतमके सुख दुखमें ही उसका सुख-दुख है। वह व्यक्ति भी कितना भाग्यवान है जिसने सारे संसारकी भावनाओंको सम्पुञ्जित करके केवल एक स्थानपर ला रखा है और उसीका चिंतन और उसीका विचार रखता है। फिर

आप कहते हैं—जलाना हो 'तो आतिशे गुल'से जलाओ। ठीक है, यदि इसी आगसे जला दिया जाय, तब तो सभी जलनेके लिये तैयार हो जायँ। चौथे शेरमें वेदात, दर्शन तथा ब्रह्मकी एकताका बड़े सुंदर रूपमें दिग्दर्शन करा दिया है। जो गुल है, वही बुलबुल है। जो प्रेमी है, वही प्रियतम है। जगन्नियन्ताकी चिनगारी सभी हृदयोंको जला रही है। एकको कष्ट देनेसे दूसरा कैसे सुखी रह सकता है!

झूठी नसीहतों, पाखण्डरूपी धर्मसे सच्चे भक्तकी क्या दशा होती है—

पा बदस्ते दिगरे, दस्त बदस्ते दिगरे।
होती है महफिले रिन्दाँ में यह शाने वाइज़॥
जी में है काट उसे लूँ इश्क की तौहीन में आज।
किस तरह चलती है देखो तो जबाने वाइज़॥
सौ क़दम हट के निकलता हूँ वहाँ से मजनूं।
जिस गली कूचा मे होता है मकाने वाइज़॥

पहले शेरका अर्थ है कि मस्तोंकी महफिलमें यदि 'वाइज़' (उपदेशक) पहुँच जाय तो उसकी यही अवस्था होती है कि, उसका पैर किसीके हाथ होता है और हाथ किसीके हाथोंमें होता है। अभिप्राय यह है कि सासारिक उपदेशों और रस्म व रवाजका प्रेम-मार्गमे गुजर नहीं है। इस नशाके मतवालोंको क्या समझाना। जब मनुष्य समझ और मस्तिष्कके परे हो जाता है, उसी समय वह प्रेमका दीवाना होता है। संसार उसकेलिये एक नाचीज़ खिलौना है। हाँ, 'वाइज़'की एक 'शान' बढ जाती है कि ऐसे लोग उसे उठा लेते हैं।

अपनी जिंदगीकी कठोरताका वर्णन सुनिये। अभिप्राय यह है कि परमेश्वर हमें सारे छलछन्दोंसे मुक्त कर देनेको तैयार है, पर हम अपनी मूर्खता और संसार-प्रियतामें सदा लिप्त रहते हैं। इस ससारके पापमय जीवनको छोड़ना नहीं चाहते।

सख्त जानी से कटा पर न कटा सर मेरा।
काटते-काटते आजिज़ मेरा जल्लाद आया॥
निकला कतरा भी न मुझ तफ्ता दरूँ की रग से।
टूट नशतर गया, आजिज़ मेरा फस्साद आया॥

और सुनिये—

खून कातिल ने किया है किस दिले नाशाद का।
आज घर ग़ैरों के जो गुल है मुबारकबाद का॥

सुन्दरप्रसाद मजनू

कर दिया चार: मेरे दर्दे दिले नाशाद का।
तेग़ का ममनून हूँ शिकवा रहूँ जल्लाद का॥
सख्त जानी से है अपने हमको अन्देशः यही।
बाज़ुए नाज़ुक न थक जायें मेरे जल्लाद का॥

यह खींचाखींच कहाँ तक चलती है?

तुझे गर ए बुते कातिल है दावा तेग़दानी का।
हमें भी इम्तिहाँ लेना है अपनी सख्तजानी का॥

तलवारके सामने सिर न उठने का कारण आप बताते हैं—

तेरे एहसाँ ने किया है मुझे ऐसा नादिम।
रूबरू तेग़ के उठता ही नहीं सर अपना॥

भाषा देखिये—

दिल गिरफ्तार ख़मे ज़ुल्फ़े बुताँ है नासह।
है कसूर इसमें नहीं बाल बराबर अपना॥

× × ×

अल्लः री नाज़ुकी कि न एक फूल उठा सके।
सौ मरतब· वह बैठ रहे हार हार के॥

कुछ और फुटकर शेरें पाठकोंके लिये उद्धृत करता हूँ—

बे-सबब ख़ारे बयाबाँ नहीं सूखे होंगे।
मेरे रश्के तने लाग़र ने सुखाया होगा॥

× × ×

दिन है तो वादा रात का गर शब तो रोज़ का।
इक उम्र हो गयी कि योंहि रोजोशब हुआ॥

× ×

फिर के देखा भी न बिस्मिल को पड़ा तड़पा किया।
ए बुते मगरूर सगीं दिल य· तूने क्या किया॥
वाह-री आशिक़. की हिम्मत हैफ़ बेरहमी तेरी।
मरहुआ कहता रहा वह औ तू सर काटा किया॥

× ×

खुद शराबे हुस्न से आँखें तुम्हारी मस्त हैं।
और क्या लाओगे आफ़त जानेमन पीकर शराब॥

× ×

वहशतका चित्र इससे बढ़कर क्या हो सकता है—

ए परी जाता है दीवाना तेरा किस धूम से।
साथ लाखों तिफ्ल हैं पत्थर भरे दामन में आज॥

× ×

हूँ वह दीवाना जो आया मेरा करने को इलाज।
हो गया दीवाना खुद मुझको परीशा देखकर॥
जाम, मीना, साकिये गुलफाम, सहने बाग को।
दिल तड़पता है हमारा अब्रे बारॉ देखकर॥
फस्ले गुल में ले चले जब क़ैद करने को हमें।
गिर पड़े गश खाके हम दीवारे जिन्दाँ देखकर॥

माशूकके हाथोंके हिनासे पानीमे आग लगाना आपने सुना होगा, विरहाग्निसे भी दरियामे आग लग जानेका डर रहता है।

गुस्ल को दरिया के जाता हूँ न मैं उस ख़ौफ़ से।
दे लगा आतिश न मेरी सोज़िशे तन आब में॥

प्रेमकी दूसरी ओर डाह भी होती है सो भी कैसी—

आबको हमदोश तुमसे देख मै मर जाउँगा।
जाइयो मत ताब: गरदन मुशफिक़े मन आब में॥

प्रेमका परिणाम, चाहे वह भक्ति हो या सासारिक मानवी प्रेम हो, लगभग एकही होता है। प्रेमीको संसार समझ नहीं सकता, वह ससारको समझा नहीं सकता। उसे न इतनी फ़ुरसत है, न वह चाहता है। उसकी एक अवस्था हो जाती है जिसे संसार दु ख समझता है, पर वह उसके लिये सुख होता है। कहते हैं—

जिस दिल को हाय पाला था हमने कनार में।
खाता है ठोकरे वह पड़ा कूए यार में॥
साक़ी हम एक और भी सागर चढ़ाएँगे।
जी चाहता है मैं को नशा के उतार में॥
'मजनू' बुझा न शोलए दिल बाद मर्ग भी।
रखते ही लाश लग गयी आतिश मज़ार मे।

सुन्दरप्रसाद मजनूं

पाठकोंके सामने मैंने मजनूकी रचनाकी बानगी रखी है। सहृदय पाठक मुझसे अधिक समझ सकते हैं, इसलिए विशेष आलोचना नहीं की है। बहुत से शेर साधारण हैं और उस विषय पर बादमें कवियोंने लिखा भी है। पर, एक पुराने नवयुवक कविकी रचनाके कारण मैं इन्हें आदरसे देखता हूँ। फिर, जिस समय यह रचनाएँ की गयी थीं, उसे आज साठ सालके लगभग हुए। उस समय यह रचनाएँ अनोखी नहीं तो सुन्दर अवश्य थीं। और अबके कवि भी इसे इज्ज़तकी नज़रसे देखेंगे। ऐसे कितने हिन्दी तथा उर्दूके कवि काल-कन्दराओंमें लोप हो गये। विद्वान उनकी खोजमें अपना समय लगाएँ तो संसारका उपकार होगा।

[मई, १९३७]

प्रगतिवादी साहित्य

पृथ्वी घूमती है। जो इस बातमें न भी विश्वास करते हों उन्हें भी यही कहना पड़ता है। फैशन यही है। जिस भाँति पृथ्वी दिन-रात चक्कर खाती है तथा परिभ्रमण करती है, उसी प्रकार उसपरके रहनेवाले प्राणी संघर्ष करते हुए बढ़े चले जा रहे हैं। अमीबासे बढते-बढते हम मनुष्य हुए कि राक्षस, वही बता सकता है जो मनुष्य और राक्षससे कहीं परे हो। इतना हमें युग-युगका इतिहास बताता है कि शारीरिक ह्रास तथा बौद्धिक विकास मनुष्यका होता चला जा रहा है। विचारोंमें तथा बौद्धिक संस्कारोंमें पहलेसे हम बहुत आगे बढ़ गये हैं, यही कहा जाता है, यही चलन है; यद्यपि हमारे देशमें कुछ ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि बौद्धिक दृष्टिसे भी हम पहलेसे बढे नहीं। ये वे लोग हैं जो 'हमारे यहाँ सब कुछ था' वाला सुन्दर किन्तु भ्रामक राग अलापते हैं।

विचारोंकी उन्नतिके साथ ही हमारी भाषा और साहित्यकी भी प्रगति हुई। एक जीवित जातिमें साहित्य भी स्थिर रहकर नीरस नहीं हो जाता, गतिमान रहता है। जहाँ जातिका क्षय हुआ, साहित्य भी मर्त्यलोकको ही पहुँच जाता है। हिन्दुओंके पतनके साथ संस्कृत-साहित्यकी गति भी अवशेष हो गई।

उसके पश्चात् जिस भाषामें हमारी सरस्वती बोली उसमें अविच्छिन्न रूपसे उन्नति और प्रगति होती रही है। हिन्दीका बड़ेसे-बड़ा विरोधी भी हिन्दी-साहित्यकारोंके प्रति यह दोष नहीं आरोपित कर सकता कि इन्होंने साहित्यकी गाड़ी कहीं ऐसे स्थानपर ले जाकर खड़ी कर दी कि आगे बढ़ ही न सके। गाड़ी कभी

पीछे खींची गई हो, गति स्थगित रही हो कुछ कालके लिए, किन्तु फिर बढ़ी ही है। चंदसे लेकर पंत तकका इतिहास तो यही कह रहा है।

इसलिए यह तो कहा नहीं जा सकता कि हिन्दीमें प्रगति कोई नई वस्तु है। परन्तु आज जिस अर्थमें प्रगतिवादी साहित्यका प्रयोग होता है उसकी दृष्टि भिन्न है। जहाँतक मैं समझ सका हूँ, प्रगतिवादी लेखकोंका कहना है कि साहित्य मनुष्यके लिए हो, मानवताकी पीड़ा, वेदना, अन्याय, शोषणको जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरोंकी पुकार हो, किसानोंका क्रंदन हो, जो वर्गवादका गला टीप दे, ˇजीवादकी पूँछमें पलीता लगा दे, जिसमें कल्पनाका कल्लोल न हो—वस्तुवादका स्वाद हो। जहाँ तक मेरी बुद्धि जाती है अब तकका सारा साहित्य मनुष्यके लिए ही हुआ। बैल या गधेके लिए साहित्य-सर्जन करनेवाले महापुरुष अभी मुझे देखनेमें नहीं आये।

प्रगतिवादी साहित्यका जो भवन हमारे सम्मुख उपस्थित है वह अभी इतना अपूर्ण और अधूरा है कि उसकी न्याय-पूर्ण आलोचना करनेमें भी कठिनाई है। जो स्वरूप हमारे सामने है वह असंस्कृत और विकृत-सा देख पड़ता है। जिस प्रकार रीतिकालके कृत्रिम कवियोंसे ऊबकर भारतेन्दु-द्वारा नवीन जागरणका स्फुरण हुआ, जिसकी पूर्ति छायावादने की; उसी प्रकार छायावादके विरोधमें प्रगतिवादका जन्म हुआ। कहा जाता है कि छायावादी कवि तथ्य जगत्से बहुत दूर कल्पना-लोकमें अनन्तकी परछाईं पकड़नेके लिए दौड़ते थे। एक कल्पित वेदनासे हृत्तंत्रीके तार झनझनाते थे। भला ऐसी कवितासे मानवको क्या लाभ? इस धरतीपर जहाँ दूधके लिए रो-रोकर बच्चे धराशायी हो जाते हैं, अबला साध्वी नारियोंपर लातोंका प्रहार होता है, और कारखानोंमें पूंजीवादी मजदूरोंका रक्त चूस-चूसकर कारोंपर चौपाटीकी सैर करता है और 'ताज' में डिनर खाता है, वहाँ उस कविता अथवा उस कहानीसे क्या प्रयोजन? प्रगतिवादी इतना ही नहीं कहते, उनका यह भी कहना है कि उपर्युक्त साहित्यके रचयिता मध्यम वर्गवाले—पेटि-बूर्जुआ—लोग हैं जो जनतासे सदा दूर, पूँजीवादियोंकी चाटुकारितामें जीवन बिताते रहे हैं।

यह तो ठीक है कि हमारा साहित्य ऐसा होना चाहिए, जो लोक-मंगलवाला हो। लोक-हितकी भावना जिस साहित्यमें नहीं होती वह साहित्य नहीं है। हमारे आचार्योंने शब्द ही ऐसा गढ़ा है। साहित्यका अर्थ ही यह है कि वह भावना जिसमें हित साथ हो, सन्निहित हो। जिस युगके साहित्यमें उस युगकी समस्यायें

न हों, वह जनमंगलमय कैसे हो सकता है? जीवनके साथ साहित्य को चलना होगा। परन्तु यह तो हिंदीके लिए कोई नई बात नहीं है। यह कहना कि प्रगतिवादी लेखकोंने ही इस ओर ध्यान दिया है उसी भाँति होगा जैसे यह कहना कि भारतमें राजनीति मुस्लिम लीगने सिखाई। युग-युगकी अलग-अलग समस्यायें होती हैं। उन्हें उस युगके कवि और साहित्यकार अवश्य ही प्रतिध्वनित करते हैं। रामचरितमानस राम और रावणकी कहानी तो नहीं है—वह हिन्दू जनताकी पीड़ाकी पुकार है और इस अंशमें सत्य ही प्रगतिवादी है कि कविने संत-समाज को राक्षसों से ध्वंस नहीं करा दिया, अपितु आशा का भी संदेश दिया कि एक महान् शक्तिद्वारा कष्टोंका निराकरण भी होगा। भारतेन्दुने भी युगकी समस्याओं पर ध्यान दिया। उनकी कितनी ही रचनाओंमें देशकी पुकार अंकित है। श्रीधर पाठक, रत्नाकर, जयशंकर प्रसाद इत्यादि सभी कवियोंने अपने युगकी समस्याओं पर ध्यान दिया है। केवल यह कहना कि वह अपनी बूर्जुआ मनोवृत्तिके कारण मानवता की वेदनाके समक्ष न आकर एक कलापनमें आश्रय लेकर धरती और आकाशकी चूलें मिलाते थे, अपनी नासमझी का प्रदर्शन करना है। हाँ, उनके कथनका ढंग अवश्य ऐसा रहा है। मैं छायावादी कवि प्रसादकी एक रचना आपके सम्मुख रखता हूँ—

बीती विभावरी, जाग री!
अंबर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी—
खगकुल कलकल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस-गागरी
अधरों में राग अमंद पिये
अलकों में मलयज बंद किये,
तू अब तक सोई है आली
आँखों में भरे विहाग री।

और लोगोंने इसका चाहे जो अर्थ निकाला हो, मैंने तो इसे जागरण का संदेश ही समझा है। जाति को जगाने का आह्वान है। यदि उसे कोमल शब्दोंमें प्राकृतिक सुन्दरताके वातावरणमें कहा तो संभवत पाप नहीं किया।

प्रगतिवादी कहता है कि बात ऐसी हो जो सबकी समझ में आये। प्रगतिवादी लेखक जो लिखते हैं उसे भी कितने मजदूर और कितने किसान समझते हैं, यही बता सकते हैं। प्रगतिशील कविको कालेजके विद्यार्थियोंकी तालियोंकी गड़गड़ाहट मिल जाय और गर्ल्स होस्टलकी लड़कियाँ आटोग्राफके लिए घेर लें, यह दूसरी बात है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जो हिन्दीके अच्छे कवि या लेखक हुए हैं उनकी रचनायें लोक-हितको साथ लिये जीवनके साथ रही है। यह दूसरी बात है कि उनमें कल्पनाकी ऊँची उड़ान भी रही हो, उनमे कोमलता भी रही हो, प्रेमकी टीस भी रही हो और वियोगकी वेदना भी रही हो। मनुष्यमें कितनी भावनायें है। उनमेंसे किसीको भी छोड़ना जिसे जीवन-जोवन हम चिल्लाते हैं, उससे परे होना है।

परन्तु आजका प्रगतिवाद पुरानी रचनाओं तथा रचयिताओं को यह श्रेय देनेके लिए प्रस्तुत नहीं है, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि भारतीय नहीं—विदेशी है। विगत युद्धके पश्चात् रूसमें मार्क्सवादका व्यावहारिक स्वरूप देखनेमें आया! वर्गवाद और पूँजीवादका विध्वंस करके एक नया संसार सर्जन करनेका उत्साह अंकुरित हुआ। रूसमे ऐसे साहित्यकी सृष्टि होने लगी जो मार्क्स और एंजेल्सके भौतिकवादकी नींवपर खड़ी हुई। इन लोगोंके आर्थिक तथा सामाजिक विचारों ने साहित्यमें प्रवेश किया और धीरे-धीरे साहित्य राजनीतिका पिछलग्गू हो गया। यह बयार काम्यूनिस्ट विचारोंके साथ हमारे देशमें आई। इस सिद्धान्तपर हिन्दीमें जो रचनायें हो रही हैं उन्हें हम दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं। एक काम (सेक्स) सम्बन्धी, दूसरी अर्थ-सम्बन्धी।

काम कोई गर्हित वस्तु नहीं है मनुष्यका एक शरीर धर्म है और मन तथा मस्तिष्कसे भी उसका सम्बन्ध है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हमारे यहाँ चार फल हैं, जिनकी प्राप्ति ही जीवनका ध्येय होना चाहिए। इसलिए यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि इसकी उपेक्षा हमारे देशमें की गई है। भगवान्ने स्वयं कहा है—"प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।" शृङ्गार-रस इसीका एक प्रतीक है। हिन्दीमें इस मनोवृत्ति का अंकन भी बड़ी मर्यादासे होता रहा है। रीति-कालके कुछ कवियोंने इसका जघन्य रूप भी उपस्थित किया है। परन्तु वह तो पतनोन्मुख जाति और साहित्य का एक विकृत स्वरूप है। उसकी कुरुचिका समर्थन कोई भला आदमी नहीं कर सकता। यौन-सम्बन्धी रचना तुलसीदासने भी की है, पर कितनी श्लीलता के साथ देखिए—

सबके हृदय मदन अभिलाखा,
लता निहारि नवहिं तरु साखा।
नदी उमगि अबुधि कहँ आई,
संगम करहिं तलाब-तलाई।
जहँ अस दशा जडन की बरनी,
को कहि सकहि सचेतन्ह करनी।

दुखके साथ कहना पड़ता है कि प्रगतिवादी साहित्यकार जितनी रचना काम-सम्बन्धी कर हे हैं, कुरुचिपूर्ण और गंदी हैं। मैंने इस प्रकारकी कुछ रचनायें पढ़ी हैं, ये रचनायें शिष्ट समाज अथवा माता, भाई, बहन या विद्यार्थियोंके सामने कोई निर्लज्ज व्यक्ति भी नहीं पढ सकता है।

यथार्थवादका यह अर्थ नहीं है कि गन्दी बातका चाहे जितनी भी उचित हो, प्रदर्शन किया जाय। हमारे अनेक शारीरिक धर्म हैं, किन्तु शिष्टता का माप यही है कि उनमे जो जघन्य हैं वे परोक्षके लिए ही हैं।

इसीके साथ एक और समस्या प्रगतिवादी साहित्यने सुलझानेका बीडा उठाया है। वह है समाजमें नारीका स्थान। सचमुच हमने स्त्री-जातिके प्रति अन्याय किया है। इसके कई कारण हैं। गलेमें फोड़ा हो तो गर्दन नहीं काटी जाती। हम दोनोंको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते, एक पुकार उठाते हैं कि विवाह-संस्कार ने स्त्री-जातिको बन्धनमे जकड़ रक्खा है, विवाहने स्त्रियोंकी मानमर्यादा भंग कर दी है, विवाहसे उनका मानसिक विकास रुक गया है।

विवाह-संस्कारमें दोष आ गये हैं। उन्हें तो हटाना ही होगा। परन्तु लोग यह भूल जाते हैं अथवा जानते नही कि हिन्दू-समाजने सैकड़ों वर्षोंतक पुरुष और स्त्रीके सम्बन्धमें प्रयोग किया है और वह इस परिणामपर पहुँचा है कि स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध विवाहसे अधिक सुन्दर और मधुर अभी तक दूसरा नहीं मिला है।

दूसरी प्रवृत्ति आर्थिक है। प्रगतिवादी रचनाओंमें अधिकांश ऐसी ही हैं जो समाजकी वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाको मिटानेके लिए कहती हैं। किसानोंका रुदन, भूखे बच्चोंकी पीड़ा, नारीका क्रन्दन यही विषय है। और पूँजीवालोंके प्रासादों का भस्मीकरण भी। मैं समझता हूँ कि सिवा कुछ स्वार्थी लोगोंके और सभी समाजके आर्थिक ढाँचेको बदलना चाहते हैं। पूँजीवाद तो मिटना ही चाहिए। कम्यू-निज्मका भारतीकरण हो जाय तो सम्भवत हमारे देशमें वह पौधा भी पनप जाय। परन्तु जहाँ तक साहित्यका सम्बन्ध है इसमें दो त्रुटियाँ हैं। हिन्दी प्रगति-

वादी साहित्य वह नहीं है जो रूसी है। वहाँ जिस वर्गके लिए यह लिखा जाता है वह इसे समझता है, इसलिए सामाजिक क्रान्तिमें सहायक होता है अथवा नये समाजको स्थिर करता है। हमारे यहाँ चालीस करोड़में एक करोड़ भी इन विचारोंको समझ नहीं सकते। उनके सामने बढ़ियासे बढ़िया प्रगतिवादी कविता अथवा कहानी वैसी ही निर्जीव है जैसे उनके हलकी नोक अथवा हथौड़ेकी मुठिया। तब क्या ये विचार लिखे ही न जायँ? तब कैसे ये जनतामें प्रवेश करेंगे? इन विचारोंके प्रचारके लिए कांग्रेसके मार्गका अवलम्बन करना पड़ेगा, क्योंकि देशभरमे, पढ़े अपढ़ोंमें आज कांग्रेसी आन्दोलन व्याप्त है।

दूसरी त्रुटि हिन्दीके प्रगतिवादी साहित्यमें यह है कि जिस वर्गकी कठिनाइयों तथा पीड़ाके चीत्कारका चित्रण होता है उस वर्गके लोग नहीं लिखते। सेकंड क्लासमें चलते हैं, केलनरके यहाँ चाय पीते हैं, राजा साहबकी कोठीमें रहते हैं, बढ़ियासे बढ़िया सिल्कका सूट पहनते है, सोनेकी घड़ी कलाईमे बाँधते हैं, रेडियोसे पचास-पचास रुपये एक टाकका लेते है और लिखते हैं चीथड़ोंकी कथा! भूखका क्रन्दन! गाँव देखा नहीं, मिल-मजदूरोंकी अँधेरी बदबूदार कोठरीमे झाँका नहीं, पंक्तिपर पंक्ति ढालने लगे। कवि कल्पना करता है, परन्तु कहाँ तक? इस तरहकी रचना करना अपनेको और समाजको धोखा देना है। यह पाखंड है। महात्मा गाधीको सारे भारततक अपना सन्देश पहुँचाना था, दरिद्र भारतका उन्होंने वेष अपनाया, लँगोटी धारणकी, तब आज भारत उन्हें अपना प्रतीक समझता है। बिजलीके पंखे लगे हुए अखबारोंके दफ्तरोंकी कुर्सियाँ, गर्मीमें पर्वतमालाकी सैर और राजमहलके कोंच छोड़िए, चिलचिलाती धूपमें गाँवोंमे जाकर दिनमें एक समय बाजरेकी रोटियाँ खाकर रहिए तब प्रगतिका साहित्य सर्जन कीजिए।

एक बात और! प्रगतिवादी साहित्यकी प्रेरणा विदेशसे मिली है। विदेशी विचार जो अपने देश और समाजके लिए हितकर हों, अपनाने चाहिये। हम विदेशी ज्ञान-विज्ञान लेते हैं। कोई विचार विदेशी है इसलिए त्याज्य है, यह हम नहीं मानते। किन्तु उसे अपनाकर ग्रहण करना उचित है। हमारी कुछ साहित्यिक परम्परा है। कुछ हमारी संस्कृति है। उसके विपरीत जाना अपनी जतीयताके प्रति विश्वासघात करना है। प्रगतिवादी लोग संस्कृतिको अनावश्यक बात समझते हैं। हमारी संस्कृति हमारी जातिकी युग-युगकी बौद्धिक और मानसिक

उन्नतियोंकी संचित निधि है। हमारा आचरण वही बनाती है। हमारा साहित्य हमारी संस्कृतिके अनुकूल ही होना आवश्यक है। लकीरका फ़कीर बनना मूर्खता है, परन्तु संस्कृतिको निर्मूल करना अयोग्यता है। प्रगतिवादी साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ-भूमि और भाव अधिकाश अभारतीय हैं—भौतिकवादपर बनाया हुआ भवन है। और भौतिकवादसे योरप किस विनाशको पहुँच रहा है, हम देख रहे हैं। विनाश प्रगतिवादी भी करना चाहते हैं, करें। किन्तु समाजकी कुव्यवस्थाका, समाजका नहीं। प्रगतिवादियोंके अतिरिक्त लोगोंने इन विषयोंको नहीं अपनाया, सो बात नहीं है। हमारे ही युगके अनेक कवियोंने जीवनसम्बन्धी ऐसी रचनायें की हैं।

कलाकी दृष्टिसे थोड़ा देख लीजिए। प्रगतिवादी दृष्टिसे यथार्थवाद में कलाकी कोई आवश्यकता नहीं। यह कहकर वे इसे स्वीकार कर लेते हैं कि उनके साहित्यमें कलाका समावेश नहीं है। परन्तु हम उसे कहानी अथवा कविता नहीं मानते, जिसमें कला न हो।

कलाका सबसे सरल और व्यापक परिमाण है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्।' एक सज्जन कहते हैं 'आज सत्य शिव, सुन्दरं केवल वर्गोंमें है सीमित।' इसलिए हम साहित्यका मूल्याङ्कन उससे नहीं कर सकते। यदि लाट साहब पाँवमें जूता पहनते है तो हम उसे सिरपर पहनेंगे क्योंकि हम उनके विरोधी हैं। यह प्रगतिवादी तर्क साधारण बुद्धिमें नहीं आ सकता। प्रगतिवादी साहित्य असत्य है, क्योंकि उसके रचयिताओंमें उन भावोंकी अनुभूति नहीं है। शिव तो है ही नहीं। कमसे कम जो यौन-सम्बन्धी हैं वे भ्रष्ट और भयंकर हैं। सुन्दरताका मापदंड अलग-अलग होता है। यदि सुन्दरताका अभिप्राय है एक अलौकिक मानसिक प्रकाश, तो वह इन रचनाओंमें नहीं है। यह केवल प्रचारकी वस्तु है। प्रचारका साहित्य यह भले ही कहा जा सकता है—मैं यह नहीं कहता कि रचनामें विशेष चमत्कार हो अथवा किसी विशेष शब्दावलीका प्रयोग किया जाय। परन्तु आजतक जो कविता की परिभाषा बनी है उसके अनुसार नापनेसे तो प्रगतिवादी कवितायें कविता नहीं ठहरतीं। पाश्चात्य विद्वानों और कवियोंने कविताका जो निर्देश किया है उसमें भी भाव और सुन्दरतापर जोर दिया है। यहाँ जो सबसे श्रेष्ठ व्याख्या कविताकी है वह है कि रचना चाहे भावोंकी प्रधानता लिये हो अथवा विभाव की, रसकी उत्पत्ति उससे अवश्य होनी चाहिए। जिस रचनासे हृदयमें रसका संचार नहीं होता, उसे कविता माननेमें हम असमर्थ हैं। समाचार-पत्रमें समाचार

पढने और प्रगतिवादी कविता अथवा कहानी पढ़नेमें भेद क्या है ? हाँ, ऐसी भी रचनायें प्रगतिवादी लेखकोंने की हैं जिन्हे पढकर हमारी भावनायें जाग्रत होती है, हमें अपने देशके प्रति प्रेम होता है, दलितोंके प्रति करुणा उत्पन्न होती है। ऐसी रचनायें उन्होंने की है जो वास्तवमें कलाकार हैं। झंझामे वह चले हैं अथवा विचारोंके फैशनके दास हैं अथवा इस आशंकासे कि कहीं हम प्रतिवर्तनवादी न कहे जायें इस ओर भी कलम भांजने लगे हैं। इनकी अनेक रचनायें सुन्दर हैं और ऐसी रचनायें कविता है, साहित्य है, इसे मानना होगा।

राजनीति ऊँची वस्तु है, यद्यपि डाक्टर जाँनसनने कुछ और ही कहा है। लार्ड मारलेने भी इसे कुछ ऊँचा दर्जा नहीं दिया है। फिर भी राजनीति और राजनीतिक हलचलकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारे नित्यप्रति जीवनसे उसका सम्बन्ध है। परन्तु कलाको—और जैसा हम ऊपर कह आये है साहित्य कला है—हम राजनीतिसे भी ऊँची वस्तु मानते है। राजनीतिक आन्दोलन सागर की उर्मियोंकी भाँति आते-जाते रहते है। कला शाश्वत है। हिन्दुओंका राजतंत्र नाश हो गया, मुसलमानोंके राजका पता नहीं, किन्तु अजंताकी चित्रकारी आज भी हमारे हृदयको प्रफुल्ल करती है, एक अनिर्दिष्ट किन्तु सत्य भावनाको ओर प्रेरित करती है। सूर और तुलसीकी पंक्तियाँ आज भी हमारे हृदयको उद्वेलित करती हैं और जब तक मनुष्यका एक बालक भी जीवित रहेगा, करती रहेंगी। साहित्य राजनीतिकी दुम नहीं बन सकता। साहित्यकार समयके साथ रहे, लोक-मंगलकी भावना सम्मुख रक्खे, किन्तु उससे भी बढ़कर वह हो। समय के आगे भी रहे।

मै यह कहनेका साहस नहीं करता कि सभी प्रगतिवादी रचनायें लचर और प्रचारवादी हैं। जैसा मैं कह चुका हूँ, अनेक उनमें सुन्दर हैं, उनमे कला है। कलाकारके करोंमे कुछ भी हो, वह सुन्दर बना देता है। कुशल कुम्हार मिट्टीसे मूर्ति गढ़ देता है और फूहड़ हलवाई घी और चीनीसे भी गोबर सदृश कुछ तैयार कर देता है। खेद है कि अधिकतर प्रगतिवादी रचनायें ऐसी ही हैं। प्रगतिवाद वास्तवमे एक प्रतिवर्तन है। वह न कला है, न साहित्य। यदि सूर, तुलसी, भारतेंदु, प्रसाद कवि हैं तो ये प्रगतिवादी लेखक कवि नहीं हैं, और यदि प्रगतिवादी साहित्यकार कवि हैं तो अवश्य ही सूर, तुलसी इत्यादि कवि नहीं थे।

मैं भारतीय साहित्यको विदेशी दृष्टिसे देखनेका अभ्यासी नहीं हूँ, विदेशी साहित्यको भारतीय दृष्टिसे देखता हूँ—इसीलिए इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। किसी साहित्यकारके प्रति अन्याय करनेकी इच्छा नहीं है। सम्भव है, मेरी दृष्टि ठीक न हो, परन्तु है वह अपना।*

—लेखक

---

* यह लेख श्री सम्पूर्णानन्दके सभापतित्वमें 'प्रसादपरिषद्' काशीमें पढ़ा गया था।

भारतीय साहित्यमें स्त्रियोंका स्थान

साहित्य मनुष्यके उत्कृष्ट भावोंका प्रकाशन है। यह भाव सामाजिक जीवनके घात-प्रतिघातकी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रेखाएँ होते हैं, जो कल्पनाके रंगसे रँगे होते हैं। जैसा समाज होगा, वैसा ही साहित्य होगा। भारतीय समाजमें स्त्रियोंका स्थान ऐसा निम्न नहीं रहा है, जैसा अनेक पाश्चात्य विद्वान समझते हैं। उनका कार्यक्षेत्र अलग रहा है, यह ठीक है। और यह भी ठीक है कि साहित्य निर्माणमें उनका उतना हाथ नहीं रहा है, जितना पुरुषोंका; फिर भी उनका एक निजी स्थान हमारे साहित्यमें है। भारत ही नहीं, यूरोपमें भी जहाँ अधिक स्वतन्त्रता है और शिक्षाकी अधिक सुविधाएँ पहलेसे चली आती हैं, उतनी स्त्रियाँ साहित्यकार नहीं मिलतीं, जितनी होनेकी हम आशा करते हैं।

साधारण लोगोंका ख़याल है कि स्त्री और पुरुषकी केवल शारीरिक बनावटमें भेद है, और हृदय तथा मस्तिष्ककी गति-विधिमें कोई भिन्नता नहीं है। एक दूसरेका स्थान सरलतासे ले सकता है। मैं समझता हूँ, यह भ्रम है। जो ऐतिहासिक प्रमाण हमारे सामने हैं, वे विपरीत हैं। मनुष्य-समाजका संगठन श्रम-विभागकी नींवपर होना स्वाभाविक है। ऐसे समाजमे पढ़ी-लिखी और निपुण होनेपर भी स्त्रियोंके लिए पुरुषोंसे अतिरिक्त कार्य नियत रहे हैं। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जहाँ स्त्रियोंने रणक्षेत्रमें अथवा सामाजिक हलचलोंमें कार्य किया है; परन्तु वहाँ वे पुरुषोंकी अनुगामिनी मात्र रही हैं। ऐसा कहनेसे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्रियोंमें किसी कार्य-विशेषके करनेकी क्षमता नहीं है।

भारतीय इतिहासमें इस बातका प्रचुर प्रमाण मिलता है कि स्त्रियाँ केवल पढ़ीलिखी ही नहीं होती थीं, किन्तु कवयित्री अथवा रचयिता भी होती थीं। हमारा सबसे प्राचीन साहित्य ऋग्वेद है, इसमें किसी प्रकारका मतभेद नहीं है। उसमे अनेक स्थलोंपर ऐसे सूक्त और मत्र आये हैं, जो स्त्रियोंके रचे हुए हैं।

इन्द्रकी स्त्री इन्द्राणीने अनेक मत्र रचे हैं। ऋग्वेदके दसवे मण्डलके ८६वें सूक्तमें नौ-दस मत्र ऐसे आये हैं। ऋग्वेदके दसवें मंडलके १५६ सूक्तकी ऋचा और देवता दोनों शची पौलोमी है। विद्वानों का कथन है कि यह सूक्त बड़ा ही सुन्दर काव्य है। यह भी इन्द्रकी स्त्री थी। इन्द्रकी माता, ब्रह्माकी स्त्री, सूर्यकी कन्या सूर्या, सार्पराज्ञी इत्यादि कितनी ही स्त्रियाँ हैं, जो सूक्तोंकी स्वतन्त्र ऋषि हैं। यही नहीं, उर्वशी जो अप्सरा है और जो पुरुरवासे विवाहका वन्धन जोड़ती है, कई मंत्रोंकी रचयिता है। दसवें मण्डलके ६५ सूक्तके कई मत्र ऐसे हैं, जिनकी ऋषि वह है।

उस कालकी हमें पुस्तक रूपमें अलग तो कोई रचना मिलती नहीं, परन्तु जो उदाहरण हमें मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियोंने रचनाएँ की हैं। यूरोपमें सबसे पुरानी रचना 'सैफो'की है, जो लगभग ईसासे छै सौ साल पहले हुई थी, गौतम बुद्धके पचास साल पूर्व। ऋग्वेद उसके बहुत पहले संकलित हो चुका था। इतनी प्राचीन साहित्य-निर्मात्री ससारके किसी साहित्यमें नहीं है।

यद्यपि निश्चित रूपसे हम नहीं कह सकते कि पालीमें भी स्त्रियोंने रचना की है; परन्तु लोगोंको यह मालूम है कि स्त्री-प्रचारिका और भिक्षुणियाँ भारत ही नहीं यहाँसे सुदूर देशोंमें भी जाती रहीं। आश्चर्य नहीं, यदि उनकी रचनाएँ रही हों, जो लुप्त हो गई हों अथवा दूसरोंकी रचनाओंमे मिल गई हों।

संस्कृतमे, जो हमारा सबसे प्रौढ साहित्य है, अनेक स्त्रियोंके नाम मिलते हैं, जिन्होंने कविताएँ की हैं। गद्य साहित्यकी हमारे यहाँ कमी सदासे रही है। हमे पता नहीं है कि प्राचीन कालमें किसी विदुषीने नाटक अथवा गद्य लिखा हो। यूरोपमें अठारहवीं शताब्दीसे पहले स्त्री गद्य लिखनेवाली नहीं मिलती। कविता-क्षेत्रमें भी कोई महाकाव्य अथवा बड़ी रचना नहीं मिलती; परन्तु स्फुट रचनाएँ और ऊँची श्रेणीकी चीजें पर्याप्त संख्यामें हैं। कवयित्रियोंमें सबसे पहले हम विजकाका नाम ले सकते हैं। यदि यह वही विजका है, जिसे विजयाङ्का कहते हैं, जैसा अनेक विद्वानोंका मत है और जिसके बारेमें लिखा है—

"सरस्वती व कार्णाटी विजयांका जयत्यसौ,
या विदर्भगिरां वासः कालिदासान्तरम् ।"

—शार्ङ्गधर-पद्धति, १८४

तो सम्भवतः यह द्वितीय पुलकेशीनके राजकुमार चन्द्रमादित्यकी स्त्री विज्जांका भट्टारिका है। वह एक उत्कृष्ट श्रेणीकी कवयित्री थी, और उपर्युक्त श्लोकसे यह भी मालूम होता है कि वह कालिदासके बाद वैदर्भी शैलीकार भी थी। उसे स्वयं ही अपनी रचनाका कितना गर्व था कि जब उसने दंडीकी यह पंक्तियाँ सुनीं—

'चतुर्मुख मुखाम्भोजवनहंस वधूर्मम,
मानसे रमतां दीर्घं सर्वं शुक्ला सरस्वती।'

यह कहा—

'नीलोत्पल दलं श्यामां विज्जकां माम जानता,
वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वं शुक्ला सरस्वती।'

पुलकेशीन द्वितीयका समय इसवी सन् ६६० के लगभग है। उस कालमें स्त्रियोंको अपनी रचनाओंपर कितना अभिमान था कि वह कितनी साहित्य-मर्मज्ञ थी, उसीकी इन पंक्तियोंसे प्रतीत होता है। वह कहती है—

'कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमोर्द्रेषु पदेषु केवलम्,
वदद्भिरगै कृत रोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमंजलिः।'

विज्जकाकी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, और उसकी रचनाओंसे मालूम होता है कि वह सस्कृतकी स्त्री-कवियोंमें सर्वश्रेष्ठ थी। राजा भोजकी स्त्री शीला भट्टारिका भी कवयित्री थी। भोज और इनकी प्रश्नोत्तरीके अतिरिक्त भी इनकी रचनाएँ मिलती हैं। बहुतसे छन्द इनके फुटकर मिलते हैं। राजा भोजका समय ई० सन् १००० माना जाता है। काश्मीरके क्षितिपालकी, जिसके आश्रयमें विल्हण कवि रहते थे, कन्या शशिकला भी सुन्दर कवयित्री थी। उसकी उक्ति देखिये, कितनी सुन्दर है। विल्हण कहता है—

'निरर्थकं जन्मगतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्,'

शशिकला उत्तर देती है—

'उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव कृता विनिद्रा नलिनी न येन।'

विल्हणका समय ई० सन् ११०० के लगभग माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक कालमें स्त्रियोंकी रचनाएँ मिलती हैं, और उस कालमें

भी, जब हिन्दू संस्कृति और सभ्यताका मध्याह्न था, जब संस्कृत-साहित्य प्रौढ़ताको पहुँच चुका था, स्त्रियाँ अपनी रचनाओंसे साहित्यका भंडार भर रही थीं। जिन कवयित्रियों के नाम ऊपर आये हैं, उनके अतिरिक्त मोरिका, विकटनितम्बा आदि बहुत-सी कवयित्रियाँ मिलती हैं, और उनकी रचनाएँ भी काफी परिमाणमें पाई जाती हैं।

एक बात कह देना आवश्यक है कि इन महिलाओंकी रचनाओंमें भी पुरुषोंकी रचनाओंसे कोई विशेषता नहीं है, और जिस प्रकारसे पुरुषोंने शृङ्गार-रसका आधिक्य रखा है, इनकी रचनामें वही बात है। इनकी रचनाओंमें स्त्रीत्वकी कोई भावना नहीं है।

बारहवीं शताब्दीके पश्चात् भारतीय साहित्यका पतन होता है। जबसे राजनीतिक क्षेत्रसे भारतीयताका विनाश हो गया, उसीके साथ-साथ साहित्यिक गति भी रुक गई; परन्तु साथ-ही-साथ प्रान्तीय भाषाओंका विकास होने लगा। बंगालमें बॅगला, बिहारमें मैथिल, हमारे प्रान्त और मध्य-भारतमें हिन्दी, पश्चिममें गुजराती और मराठी भाषाओंने संस्कृत अथवा पालीका स्थान ले लिया। सुदूर दक्षिण-भारतमें तमिल तथा अन्य उसी प्रकारकी भाषाएँ बोली और लिखी जाने लगीं। यद्यपि इन भाषाओंमें भी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिन्होंने साहित्य-निर्माणमें सहयोग किया है; परन्तु मैंने, उन भाषाओंसे समुचित जानकारी न होनेके कारण, उनका उल्लेख नहीं किया है। मैं केवल चार भाषाओंका दिग्दर्शन करानेका उद्योग करूँगा।

बॅगला-साहित्य बहुत ही समुन्नत दशामें है; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दीके पहले किसी विशिष्ट स्त्री लेखिका अथवा कवयित्रीका नाम सुननेमें नहीं आता। मानकुमारी देवी और कामिनी राय बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भकी कवयित्री हैं। इन दोनोंकी शैली वही है, जो आरम्भसे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथकी रही है। बॅगलामें स्त्री-लेखिकाएँ, जिन्होंने साहित्यको कुछ दिया है, सभी आजकलकी हैं। प्रियम्वदा देवी और राधारानी देवीकी कविताएँ साधारणत अच्छी हैं। राधारानी देवी कहानी भी लिखती हैं। ममता मित्रकी कवितामें नवीनता है। उन्होंने अपनी कविता बिलकुल नये ढङ्गकी लिखी है, जिसपर अंगरेजीका प्रभाव मालूम पड़ता है। अपराजिता देवीका नाम बॅगला-साहित्यमें अच्छी तरह विख्यात है। आपकी कविता नवीन शैलीकी होती है और सामाजिक भावोंका समावेश उनमें विशेष प्रकार होता है। इनकी कविताओंमें सरलता भी है।

बंगाली-समाज उपन्यास और कहानी लिखनेके लिए विशेष रूपसे उपयुक्त है। बहुत-सी कहानी लेखिकाएँ बँगलामें हो गई हैं, और हैं। स्वर्गीया आत्माओंमें स्वर्णकुमारी देवी और इन्दिरा देवीने अच्छे उपन्यास लिखे हैं। आजकल वर्णनात्मक उपन्यासोंकी रचना अन्नपूर्णा देवी अच्छा करती हैं। गार्हस्थ जीवनका चित्रण करनेमें निरूपमा देवी पटु हैं। वर्तमान पठित समाजका चित्र खींचनेमें आशालता सिनहा चतुर हैं। सुविख्यात पत्रकार श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायकी दोनो पुत्रियाँ श्री सीता चटर्जी और श्री शान्ता चटर्जी बँगला और अंगरेजी भाषाओंमें उपन्यास और कहानियाँ लिखती है, जिनकी गणना ऊँचे साहित्यमे की जाती है। बँगला-साहित्यमें स्त्रियोंने काफी संख्यामें योग दिया है। यद्यपि उनका क्षेत्र अधिकांशमें कविता और कहानी ही रहा है, फिर भी उन्होंने अपना एक स्थान बना लिया है।

गुजराती-साहित्यमे यदि और कोई लेखिका न होतीं, तब भी भक्त मीराके प्रेम और भक्तिसे भरे हुए भजन स्त्री-लेखिकाओंका मस्तक ऊँचा कर देनेके लिए पर्याप्त है। मीराने तो गुजराती, राजस्थानी और ब्रज भाषामें भी कविताकी है। गुजरातीमें इनसे पहलेकी स्त्री लेखिका अथवा कवयित्री नहीं मिलती। जैन भिक्षुणियाँ बहुत-सी गुजरातमें रही है, उन्होंने जैन-धर्मके प्रसारका कार्य भी किया है; परन्तु जैनियोंके साहित्यमें किसी ऐसी स्त्री-साहित्यकारका उल्लेख नहीं है। गुजरातीके उस साहित्यकालको, जो दयारामकाल कहा जा सकता है, हम नवीन गुजरातीका ऊषाकाल मान सकते है। वह अठारहवीं शताब्दी है। इसी समय कुछ कवयित्रियोंके नामोंका उल्लेख है। यद्यपि उनकी रचनाएँ साधारण श्रेणीकी हैं, फिर भी वे उस कालमें स्त्रियोंकी प्रतिनिधि हैं। गौरीबाई, दिवालिबाई, राधाबाई और कृष्णाबाईके नाम स्मरण किये जा सकते है, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दीमें ही ऐसी लेखिकाएँ हुई हैं, जिनका कार्य गुजरातीमे कुछ विशेषरूपसे हुआ है, और आजकल तो गुजरातीमें ऐसी लेखिकाएँ है, जो किसी भी साहित्य-समाजकी अलंकार हो सकती हैं।

सर रमनभाईकी स्त्री श्रीमती विद्यागौरी नीलकंठने ऊँचे दर्जेके निबन्धोंकी रचना की है। श्रीमती सुमति त्रिवेदी तथा श्रीमती विजयलक्ष्मी त्रिवेदी यद्यपि अब संसारमें नहीं है, उनकी कविताएँ पढ़ी जाती है। श्रीमती दीपकबा देसाईकी कविता सुंदर और मनमोहक होती है। उनकी 'स्तवन-मंजरी' और 'खंडकाव्य' अच्छी रचनाएँ हैं। श्रीमती हंसा मेहताका नाम वर्तमान भारतीय साहित्यमे काफी विख्यात है। वे साप्ताहिक 'हिन्दुस्तानकी' सम्पादिका भी रह चुकी है। उन्होंने तीन छोटे-छोटे

नाटक भी लिखे हैं, जो 'त्रण-नाटको' के नामसे प्रकाशित हुए हैं। गुजराती-साहित्यिकोंमें उनका अच्छा स्थान है। श्रीमती प्रियमतो, जो ज्योत्सना शुक्लके नामसे लिखती हैं, कई पत्रोंकी सम्पादिका रह चुकी है। अभी पुस्तकरूपमें उनकी रचनाओं का संग्रह (जहाँ तक मुझे पता है) नहीं है; परन्तु उनकी रचनाएँ बड़े चावसे पढी जाती हैं। उनकी रचनाएँ बड़ी भावपूर्ण होती हैं। 'दिलरुबाने' उनकी बड़ी अच्छी और विख्यात कविता है। सन् १९३० के राजनीतिक आन्दोलनके समय उन्होंने बहुत-सी राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, जिनसे उनकी बड़ी ख्याति हुई है।

वर्तमान गुजराती-साहित्यमे श्रीमती लीलावती मुन्शीका नाम काफी ऊँचा है। उन्होंने कितने ही निबन्ध, नाटक और कहानियाँ लिखी हैं। उनकी शैली बड़ी प्रौढ है और विशुद्ध गुजराती है। उन्होंने अपनी रचनाओंमे स्त्रियोंका समुचित स्वरूप चित्रण करनेकी चेष्टा की है। नवयुगकी स्त्रियोंकी आकांक्षाएँ और उनकी मनोवृत्तियोंका प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओंमें पाया जाता है।

मराठी-साहित्यमें भी स्त्रियाँ पीछे नहीं रही हैं। भारतका प्राचीन साहित्य तो धार्मिक रहा ही है। मराठी-साहित्यमे पहली स्त्री, जिसकी रचनाका पता लगता है, महादाम्बा थीं, जो बारहवीं शताब्दीके लगभग हुई थीं। चक्रधरके महानुभाव पंथकी वह अनुगामिनी थीं और उनके चावले प्राचीन साहित्यमें बड़े मशहूर हैं। ज्ञानेश्वरकी भगिनी मुक्ताबाई और नामदेवकी दासी जनाबाईके अभंग मराठीमें बहुत प्रिय हैं। एक और मनोरंजक बात है। महाराष्ट्रमे महार जातिके एक हरिजन चोखामेला हो गये हैं। उनकी स्त्री भी कविता करती थीं, और उनकी कुछ रचनाएँ प्राप्य हैं। तुकारामकी शिष्या बहिणाबाईने भी भक्तिपूर्ण गाने लिखे हैं।

परन्तु भारतके अनेक साहित्योंकी भाँति यह रचनाएँ भी फुटकर ही मिलती हैं। मराठीका वर्तमानकाल ब्रिटिश साम्राज्यके स्थापनसे आरम्भ होता है। सन् १८७३ के पहले वर्तमान युगकी कोई विशिष्ट रचना देखनेमें नहीं आई। इस युगकी प्रथम लेखिका श्रीमती काशीबाई कानिटकर हैं। मराठी उपन्यासोंकी जन्मदाताओंमे इनका नाम लिया जा सकता है। इनका सामाजिक उपन्यास 'रंगराव' हरिनारायण आपटेके उपन्यासोंसे पहलेका है। इन्होंने निबन्ध भी लिखे हैं। यह अभी जीवित हैं, यद्यपि वृद्धावस्थाके कारण साहित्य-क्षेत्रसे अलग हैं। न्यायमूर्ति रानाडेकी स्त्री श्रीमती रमाबाई रानाडेने अपने पतिकी जीवनी लिखी है, जो सभी दृष्टियोंसे ऊँचे दर्जेकी रचना समझी जाती है। रेवरेण्ड नारायण वामन

तिलककी स्त्री श्रीमती लक्ष्मीबाई तिलकने कविताएँ भी लिखी हैं और कहानियाँ भी। महाराष्ट्रके नेता, पत्रकार और साहित्यकार श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकरकी भावज श्रीमती गिरिजाबाई केलकरने निबन्धों और नाटकोंकी रचनामें वर्तमान मराठी साहित्यमें एक स्थान प्राप्त कर लिया है। नवीन कवयित्रियोंमें लक्ष्मीबाई तिलकके अतिरिक्त श्रीमती शान्ताबाई परदेसी और श्री संजीवनी मराठेके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मेरे विचारसे श्री संजीवनी मराठे युवती लेखिकाओंमें सबसे उत्कृष्ट हैं। श्रीमती कमलाबाई तिलक और श्रीमती कृष्णाबाईने, जो मुक्ताबाई लेलेके उपनामसे लिखती हैं, अच्छी कहानियोंकी रचना की है। श्रीमती शान्ताबाई नासिककरका स्थान उपन्यास-लेखकोंमें भी उत्कृष्ट है। श्री कुमुदिनी प्रभावककी कहानियाँ भी साहित्यिकोंकी कसौटियोंपर अच्छी उतरी हैं। मराठी-साहित्यके वर्तमान जगतमें हलचल मचा देनेवाली स्त्री-लेखिका श्री विभावरी शिलाकर बी० ए० का नाम बहुत विख्यात है। यद्यपि अभी तक इसपर विवाद है कि यह उपनाम किसका है, किसी पुरुषका अथवा स्त्रीका, फिर भी अधिकांश लोगोंका मत है कि यह कोई महिला महोदया ही है। उन्होंने स्पष्टवाद या प्रत्यक्षवादका जन्म अपनी रचनाओंमें दिया है, और स्त्रियोंमें सामाजिक क्रान्ति करना चाहती हैं। यद्यपि उनके विचारोंका समर्थन नैतिक दृष्टिसे हम नहीं कर सकते; पर उनकी भाषा और शैली साहित्यकी एक चीज है।

यद्यपि अंगरेजी हमारी भाषा नहीं है, उसमे भी तोरुदत्ती और सरोजिन नायडूके नाम उल्लेखनीय हैं। खेद है कि उर्दूमे स्त्रियोंकी कोई अच्छी रचना नहीं है।

हिन्दीमें बहुत प्राचीन कालसे स्त्रियाँ साहित्यिक निर्माणमें हाथ बँटा रही हैं। सोलहवीं शताब्दीमें मीराबाईका उल्लेख गुजराती-साहित्यिक के सम्बन्धमे आ चुका है। और भाषाओंकी लेखिकाओंके समान आपका कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है; परन्तु आपके पद और गाने भारतमे जहाँ कहीं हिन्दी बोली जाती है, लोगोंकी जबानपर हैं। सोलहवीं शताब्दीसे लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक कम-से-कम चालीस-पचास कवयित्रियोंकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनका नाम ही गिनानेके लिए एक पृष्ठ चाहिए। उनमें कितनी ही राजघरानेकी थीं। प्रायः उनकी रचनाएँ भक्ति-सम्प्रदायकी हैं। उनमें दयाबाई और सहजोबाईके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। उन कवयित्रियोंमें दो तो मुसलमान थीं—पंजाबकी ताज और हमारे प्रान्तकी शेख रंगरेजिन। उनकी कविताएँ बड़ी रसीली और मीठी हैं। अवधकी एक तेलिन खगनियाँकी कविताएँ भी—विशेषतः प्रहेलिकाएँ—मिलती हैं।

-कृष्णगढ़के महाराजा नागरीदासकी दासी रसिकबिहारी भी, जो 'बनीठनी' जीके नामसे विख्यात है, कविता करती थीं। इनकी रचनाएँ भी परम्पराके अनुसार भगवान कृष्णके प्रेम-रसमें शराबोर हैं।

बीसवीं शताब्दीमें जहाँ हिन्दी-साहित्यके अनेक अंगोंका विकास हुआ है, स्त्रियाँ किसीसे पीछे नहीं रही हैं। कहानी-लेखनमें और कवितामें स्त्रियोंने काफी सहयोग किया है और सुभद्राकुमारी, महादेवी वर्मा, स्वर्गीय चकोरी, ललीजी, मंजु, कमलादेवी, प्रेम भटनागर, कमलाकुमारी, उषा मित्रा इत्यादिकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्यकी शोभा हैं। अन्य भाषा-भाषी हमें यह कहनेके लिए क्षमा करेंगे कि प्राचीन समयमें और वर्तमान समयमें भी हिन्दी-लेखिकाओंकी संख्या अन्य भाषाकी लेखिकाओंसे कम नहीं है; संख्या ही नहीं, उनकी रचनाएँ भी अच्छी श्रेणीकी हैं।

इस छोटे निबन्धमें जितना सम्भव हो सकता था, हमने इस बातका दिग्दर्शन करा दिया कि भारतीय साहित्यमें, भारतीय समाजकी भाँति, स्त्रियाँ जीवित अंग रही हैं। हम लेखिकाओंकी रचनाओंके उद्धरण नहीं दे सके। लेख मनोरंजक अवश्य हो जाता, परन्तु स्थानाभावसे यह लोभ सवरण करना पड़ा। महिलाओंने जो साहित्य रचा है, चाहे वह किसी भाषा में हो, समालोचकों के मतानुसार, बहुत ऊँचे दरजे का नहीं है। पुरुषोंने जिस श्रेणीका साहित्यनिर्माण किया है, उस तक वह नहीं पहुँच सका है। यह दोष भारतीय साहित्यपर ही नहीं लागू होता। अंगरेजीमें जार्ज ईलियट या जेन आस्टिनके उपन्यास थैकरे या टामस हार्डीके उपन्यासोंके समान नहीं हैं, या बैरेट ब्राउनिंग और रोजेटिकी कविता टेनिसन और शेलीकी भी कविताके समान नहीं है। ऊँचे दर्जेकी रचना न सही, पर निम्न-श्रेणीकी रचनाएँ इन महिलाओंकी नहीं हैं।

हमारे देशमें स्त्रियोंने महाकाव्य नहीं लिखा। नाटकके भी दो ही एक उदाहरण मिलते हैं। कहानी और गीतिकाव्य हमारी बहनोंने अधिकतर लिखे हैं। यह उनकी मानसिक विशिष्टताके कारण है। प्रकृतिने उन्हें कल्पनाका विशेषरूपसे क्षेत्र बनाया है, और इस कारण साहित्यके इस अंगकी पुष्टि करनेमें वे अधिक सफल हुई हैं। जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह बहुत ही आशाजनक है, और सभी साहित्य-प्रेमी विश्वास करते हैं कि आगामी युगके साहित्य-निर्माणमें उनका बहुत हाथ रहेगा।

संसारके किसी भी देशकी तुलनामें हमारे देशकी स्त्रियाँ पीछे नहीं हैं, और कम-से-कम प्राचीन कालके साहित्यमें तो एक-आध उनसे आगे भी बढ़ गई हैं।

समाजवाद और साहित्य

साहित्यसे समाजका संस्कार होता है और समाज साहित्यके सर्जनमें उत्तेजना देता है। दोनोंका अटूट सम्बन्ध है। पहले समाज बना तब सैकड़ों वर्षों पीछे कहीं लिखनेकी कला आई। उसके बाद साहित्य बना होगा। मगर समाज सामूहिक रूपमें साहित्य नहीं बनाता। वह व्यक्तियों द्वारा उसे व्यक्त करता है। इसलिए जो साहित्य बनता है वह समाजके ही विचारोंको प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे प्रकाशित करता है। समाज ही प्राण है, व्यक्ति साधन मात्र।

लोग कहा करते हैं कि अमुक कवितापर, अमुक कहानीपर इस व्यक्तिकी छाप है। 'व्यक्तिकी छाप' एक ऐतिहासिक भूल है। व्यक्तिका अपना कोई स्वतंत्र विचार होता है? युग-युगके समाजके संस्कार व्यक्तिमें केन्द्रीभूत रहते हैं। साधनासे मानसिक तपश्चर्यासे, चरित्र बलसे कोई मनुष्य ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है, उसकी बुद्धि इस योग्य हो जाती है कि वह समाजके सूक्ष्म विचारोंको, समाजकी उन भावनाओंको जो साधारणतः अस्पष्ट हैं, समाजकी उन आकांक्षाओंको जो साधारणत. अँधेरेमें पड़ी हुई हैं, व्यक्त करता है। और जैसे अपनी खोयी निधि पाकर मनुष्य पहचान जाता है और उसे अपना लेता है। अथवा भूला हुआ पथिक राहको पहचानकर पकड़ लेता है उसी प्रकार समाज विचारोंको ले लेता है और उनका प्रचार जगती पर हो जाता है। क्षमताप्राप्त व्यक्ति विचारोंकी चिनगारीको समाजकी राखके ढेरमेंसे ऊपर निकाल लाता है फिर और लोग उसपर लकड़ी, फूस, कोयला रखकर उत्तेजित करते हैं।

ऐसी स्थितिमें लाख चेष्टा करनेपर भी, चारों ओर 'साहित्य निर्माण' चिल्लानेपर भी किसी विशेष प्रकारका साहित्य बन नहीं सकता। जहाँ तक लिखित इतिहास मिलता है, तुलसीदाससे अकबर या बीरबल या राणा प्रतापने रामचरितमानस लिखनेके लिये कहा नहीं था। न रूसोंसे किसीने सोशल कन्ट्रैक्ट लिखनेको कहा था, न मार्क्ससे कैपिटल। यह समाज ही था जिसने इन विचारोंको इन लेखकोंके हृदयमें अनुप्राणित किया था। समाजकी अवस्था ऐसी क्यों हुई यह दूसरा प्रश्न है। परन्तु समाजने इन विचारोंका आदर किया, क्योंकि समाजने इन विचारोंको समझा। यदि समाजके हृदयमें इन विचारोंका अकुर न होता तो समाजपर इन विचारोंका प्रभाव भीं न पड़ता। व्यक्ति विशेष समाजको तैयार नहीं करता। समाज हीं व्यक्ति विशेष द्वारा समाजको तैयार करता है।

तब यह कहना कि विशेष प्रकारकी साहित्यको सृष्टि हो कहाँ तक उचित है, है, सोचनेकी बात है। हममें जो ऐसी योग्यता रखते हैं, जो अपने विचारोंको लेख, कहानी अथवा कविता द्वारा प्रकट कर सकते हैं, रचना किया करते हैं। और पहले भी ऐसा होता आया है। मगर सबके विचारोंका समाज एक प्रकार स्वागत नहीं करता। बहुतसे लेखकोंकी कृतियाँ संसार सागरमे विलीन हो जाती हैं, उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बहुत-सी कृतियोंका प्रभाव संसारमें सदैवके लिये होता है। दोनों दृष्टियोंसे, भाषा और भावसे, समाज ही इसका मुख्य कारण है, व्यक्ति गौण। आज हम ब्रजभाषाकी कृतियोंका अपने देशमें क्यों नहीं अधिक प्रचार पाते? क्योंकि समाजकी वह भाषा नहीं। आज अगर पद्माकर की भाँति नायिका भेदके ग्रन्थ कोई लिखे तो यदि मिट न जाय तों समझिए बहुत शान्ति रही।

यह कहा जा सकता है कि जब समाज ही द्वारा विचार व्यक्तियोंमें अनुप्राणित होते हैं तब ऐसा साहित्य समाजके सामने आ ही कैसे सकता है जो समाजकी गतिविधिके प्रतिकूल हो। संसारकी आयु इस समय करोड़ों वर्षकी होगी और जबसे पृथ्वी बनी है विकास होता आया है, परन्तु खनिज जगतमें, वनस्पति जगतमें, पशु-जगतमें और मनुष्य जगतमे सभी वर्ग और श्रेणी और अवस्थाकी वस्तुएँ और प्राणी पाये जाते हैं। जीव जगतके कुछ प्राणा लोप हो गये अवश्य, परन्तु हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि जो मौजूद हैं उनमे विचारोंकी और बुद्धिकी सब श्रेणियां मौजूद हैं। न सब कुत्ते एकसे बुद्धिमान होते हैं न सब चूहे और न सब मनुष्य। ऐसे विचारवाले प्राणी जो समाजकी प्रगतिके परे और उलटे साहित्यका निर्माण करते हैं, समाजके वह अवशिष्ट जीव हैं जो ऐतिहासिक अजायबघरकी

सामग्री हैं। समाज सागरकी उत्तुग तरंगे ऐसे विचारोंको फेंक देती हैं। वह उल्का-पातकी भाँति क्षणिक होते हैं, अन्तर केवल इतना होता है कि उल्कापातमें प्रकाशकी एक क्षीण रेखा होती है।

हमें इस बातका विश्लेषण करना उचित होगा कि हम जो भावावेशमें यह कहा करते हैं कि मजदूरोंके लिये और किसानोंके लिये और गाँवके लिये साहित्य बनना चाहिये, कहाँ तक विचारसंगत है। एक उदाहरण देखना चाहिये। "तितली" जयशंकर प्रसादकी और "गोदान" पुस्तक प्रेमचन्दकी, उपन्यास हैं। दोनों दो भिन्न रूपसे ग्राम जीवनकी समस्याओंको व्यक्त करते हैं। कितने किसानोंने दोनों पुस्तकें पढीं? तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि कितने गाँववाले किसान और खेतिहर पढ़ सकते हैं?

तब यह पुस्तक हमारे लिये हैं! हाँ। इन पुस्तकों द्वारा किसान समाजका, ग्राम समाजका सीधे कुछ भला नहीं हो सकता। परन्तु पठित समाज जब गाँवकी दुर्दशा पढ़ेगा और समझेगा, उनकी स्थिति सुधारनेकी आकांक्षा होगी। उनमें जो जीवित हैं, कर्मण्य हैं, गाँवोंमें जाकर उनकी अवस्थाका सुधार करेंगे। जिसमें उनके स्वास्थ्य, अर्थ, शिक्षा सभीका समावेश होगा। जब वहाँ भी पुरुष और स्त्रियोंमें इतना ज्ञान हो जायगा कि वह पढ लिख सकेंगी तब उनके नवीन प्रश्नोंको दृष्टिमें रखकर उनके उपयुक्त साहित्यका निर्माण होगा। इन पुस्तकोंकी उपयोगिता जाती रहेगी। इसलिये अभी जो पुस्तकें लिखी जा रही है, हमारे लिये हैं, हममें जागृति पैदा करनेके लिये हैं।

जिस तरह समाजका आज वर्गीकरण धनवान और धनहीनोमें है उसी प्रकार साहित्य भी बड़े आदमियोंकी बपौती हो गया है। इसमे पूँजीपतियोंका हित निहित है। इसलिये समाजका बहुत बड़ा भाग, जहाँ तक संभव हो मूर्ख रखनेमें ही उन्हें श्रेयस्कर मालूम पडता है। जो देश स्वतंत्र हैं वह भी साहित्यपर नियं-त्रण रखना चाहते हैं। प्राचीन कालमें जब यूरोपमे ईसाई धर्माधिकारियोंका राज्यपर भी अधिकार था, किताबोंका प्रकाशन स्वतन्त्रतासे नहीं होता था। यदि कोई ऐसी पुस्तक लिखता तो पोपके कोपका भाजन होता। क्रमशः ज्यों ज्यों जाग्रति होती गयी ऐसी तानाशाहीमें कमी होती गयी, परन्तु दो तीन देशोंको छोड़कर अब भी कड़ी देख रेख होती है। परन्तु साहित्य तो ऊँचे विचारोंका लिपि-बद्ध समूह है। उसके लिये न सागर प्रतिबन्धक है न पहाड़, न नदी और न किले। वह तो समाजके हृदयकी चिनगारी है, खूब उड़ती है और आग लगती

है। कड़ेसे कड़े नियम भी उसका प्रचार रोक नहीं सकते। यूरोपमें जिस प्रकार समाजने पुरानी रूढ़ियोंको तोड़ डाला है, साहित्यने भी उसी प्रकार जनसमूहमें प्रवेश कर लिया है।

भारतवर्षमें पुराने समयमें साहित्य समाजके छोटे बड़े सबका अंग था। कबीर, रैदास, तुलसी और सूर ऐसे संतोंकी वाणी ऊँचे-ऊँचे प्रासादोंसे नहीं निकली थी। निर्जन वनस्थली अथवा पगडंडियोंपरसे अथवा कुटियोंसे प्रतिध्वनित हुई थी। साथ ही साथ राजप्रासादोंसे भी साहित्यका सर्जन हुआ था। परन्तु जबसे भारतने स्वाधीनता खो दी और विजित देशके रूपमें साम्राज्यका अंग बन गया। तबसे स्थिति बदल गयी।

शासक विदेशी मुसलमान भी थे। परन्तु उनमें सभी असहिष्णु नहीं थे। अँग्रेजी राज्यमें भारतके साहित्यको न पनपने देनेमें स्वार्थ था। इसलिये समाजके बहुत बड़े भागका अज्ञानमें ही रखना आवश्यक हो गया। इसीपर अंग्रेजी राज्य की नींव थी। क्रांति तो विचारोंसे ही होती है जो साहित्य द्वारा फैलते हैं। फल यह हुआ कि आज साहित्यकी रचना कुछ ऐसे लोगोंके हाथमें चली गयी है जिनमें अधिकांशमें समाजकी संस्कृतिका विकास हो नहीं पाया। उनकी कृतियाँ समाजकी अपरिपक्व और अविकसित प्राणियोंकी रचना हैं। कृत्रिम समाज बहुत दिनों तक चल नहीं सकता और न कृत्रिम साहित्य। साहित्य कोई साबुन नहीं है जो प्रयोगशालामें जिस रूप और जिस परिणामका चाहे बना लिया जाय। इसीलिये उसमें हलचल हो गयी। वह रुक न सका और पुकार होने लगी कि ऐसा साहित्य बने वैसा साहित्य बने।

साहित्य निर्माणके लिये गोहारकी आवश्यकता नहीं है। असलमें आवश्यकता है समाजकी अस्तव्यस्त अवस्थाको ठीक करनेकी। साहित्य तो अपने आप समाजके अनुरूप बनने लगेगा। साहित्य क्रान्ति नहीं करा सकता जब तक समाजको उसे अपनाने और पचानेकी शक्ति नहीं। समाजमें मनुष्यने जो कृत्रिम विभाजन बना रखा है उसे हटाना हमारा पहला कर्तव्य है। वह हट जानेपर समयके उपयुक्त साहित्य बिना प्रयासके बन जायगा।

साहित्य और सदाचार

आज लारेंस और जेम्स जायसके युगमें, जब साहित्यके प्रदेशमें फ्रायडका भी आक्रमण हो चुका है, जब हिंदीमें भी ऐसी रचनाएँ बन और छप रही हैं जिन्हें यदि पण्डित कोकराज देख लेते तो अपनी पुस्तकका कोई न कोई अध्याय बना लेते, तब यह शीर्षक सुनकर आप अवश्य चौकेंगे। हम यह विश्लेषण करनेकी चेष्टा करेंगे कि सचमुच साहित्यका चरित्रसे कोई सम्बन्ध है कि नहीं।

इस सम्बन्धमें दो बातोंको समझना पड़ेगा—साहित्यका प्रयोजन क्या है और साहित्य तथा उसके रचयितासे कोई आन्तरिक सम्बन्ध है या नहीं। प्राचीन और मध्ययुगकी मुख्य-मुख्य कृतियोंको देखनेसे और उनके रचयिताओंपर दृष्टि डालनेसे हमें इतना पता चलता है कि साहित्य रचनाका उद्देश्य यश, अर्थ, भगवद्भजन और उपदेश था। तुलसीदासके अनुसार स्वांतः सुखाय भी लोग रचना करते थे। अब स्वांत. सुखाय रचना होती है या नहीं पता नहीं। इन उद्देश्योंके साथ अब राष्ट्रसेवा, प्रचार तथा समाचार पत्रोंमें नाम छपानेके लिए भी साहित्यका सर्जन होता है। स्वांतः सुखायवाली रचनाको छोड़कर और सब रचनाएँ जनताके सम्मुख आती है। उनका भला अथवा बुरा प्रभाव पाठकोंपर पड़ता है। कुछ विद्वानोंका कहना है कि तुलसीदासने रौमें आकर लिख दिया, संसारमें कोई रचना स्वांतः सुखाय नहीं होती। यदि यह ठीक है तो, तुलसी, होमर, वरजिल ऐसे सुकवियोंने बड़े-बड़े पोथे क्यों लिखे। बेचारोंको न तो रायल्टीकी आशा थी न सचित्र समालोचना प्रकाशित होनेका प्रलोभन था, न ऐसी विविध-विषय विभूषित पत्रिकाएँ निकलती थीं जिनके पृष्ठोंमें कोने-कोने कविताएँ छपती हैं।

आजसे आठ-नौ सौ साल पहले आचार्य मम्मट भट्टने लिखा था कि काव्यका प्रयोजन यश, अर्थ, शिवेतर रक्षा इत्यादि था। उस युगमें साहित्य और काव्य प्राय एक ही अर्थमें व्यवहार होता था। जिन प्रयोजनोंसे जो रचनाएँ बनी है उनके स्रष्टाओंकी जीवनीका अध्ययन कीजिये। अधिकांश रचनाएँ जो हमें आज उपलब्ध हैं उनके रचयिता सन्त, तपस्वी, विचारक, त्यागी और महात्मा थे। जिन साहित्यकारोंकी जितनी तपस्या थी उतनी ही उनकी सफलता थी।

यदि आज पुराने उद्देश्योंको हम न मानें उन्हें पुरातन तथा प्रतिगामी समझें तो नये उद्देश्यवाले रचयिताओंको भी इस बातका ध्यान रखना होगा कि साहित्य शिव ही है। राष्ट्रसेवाकी भावना जाग्रत करनेके लिए जो कविता, कहानी अथवा उपन्यास लिखे जाते हैं, वह भी शिव और मंगलकारी होंगे तभी उनका ध्येय सिद्ध हो सकता है। प्रचारके लिए भी जो कुछ लिखा जाता है उसमें भी यदि पाठकके सम्मुख गुणोंका आरोप न किया जाय तो सफलता नहीं मिल सकती। वनस्पति घी बेचनेवाले भी उसमें विटामिन बताते हैं, सिगरेटके विक्रेता उसके धूम्रको कीटाणुओंके विनाशका साधन बताते हैं और वारुणीका व्यापार करनेवाले उसे पौष्टिक और शक्ति-वर्द्धिनी बताते हैं। प्रचारवाले साहित्यको भी सफलताकी दृष्टिसे भ्रष्ट और अशिव नहीं होना होगा यदि जनताके मनपर उसे विजय प्राप्त करना है। जनता अपने हितकी बात समझे बिना किसी वस्तुको अपना नहीं सकती।

साहित्यके जिन उद्देश्योंके सम्बन्धमें ऊपर संकेत किया गया है वह सभी तभी सफल हो सकते हैं जब साहित्यका स्वरूप शिष्ट मंगलपूर्ण और उन्नत हो। हमारे देशमें ही नहीं इङ्गलैंडमें भी कविता, कहानी तथा साहित्यके सम्बन्धमें उन्नीसवीं शती तक यही मत रहा है। रसकिनने कलाके सम्बन्धमें लिखा है—'नो सुप्रीम पावर आफ आर्ट कैन बी अटेण्ड बाई इम्पायस वन्स' यही मत उसका साहित्यके लिए भी था। हाल केन बड़ा उपन्यासकार हो गया है। उसने लिखा है—'आई एम फीलिंग इनक्रीज़िंग्ली डे बाइ डे दैट राइट्स इन इमैजिनेटिव राइटिंग इज़ मोर इम्पारटेण्ट दैन सब्जेक्ट आफ स्टाइल आर एनी थिंग एल्स'।

यह स्मरण रखना होगा कि सत्य तथा शिव-कल्पना उसीकी लेखनीसे निकल सकती है जो तपस्वी हो, त्यागी हो, सदाचारी हो। जिस व्यक्तिमें जितनी अधिक मात्रामें यह गुण होंगे उस व्यक्तिकी रचना उतनी ही ऊँची उतनी ही ठोस, उतनी ही शाश्वत होगी। प्रतिभासे रचनाएँ अच्छी हो सकती हैं किन्तु यदि उनमें

आचारका गुण नहीं तो वह जनमनको बाँध नहीं सकती। यह मैं मानता हूँ—कि ऐसे लोगोंकी रचनाएँ भी संसारमें स्थान पा जाती हैं जिनमें प्रतिभा तो होती है किन्तु मन स्थितिके विकारकी मात्रा अधिक होती है। हिंदीमें विशाल कवि हो गये हैं, उर्दूमें ज़हरे इश्क पुस्तक हैं, लैटिन में बोकेशियोका डेकामेरन है। कलाकी दृष्टिसे इनमें गुण हो सकता है किन्तु इन पुस्तकोंके पढ़नेवाले यह भी जानते हैं कि उनसे जनताका लाभ नहीं हुआ केवल विकृत मनको ही इनसे सांत्वना मिलती है।

कुछ लोग अब यह कहने लगे हैं कि नैतिकताका आदर्श और मानदण्ड युग-युगमें और देश देशमें बदलता है। मुझे पता नहीं कि सोलहवीं शतीमें और आज सत्य बोलने अथवा हत्या करनेका विभिन्न मानदण्ड हो। अथवा जरमनीमें चोरी कुछ और बात हो, और रूसमें कुछ और। कुछ सामाजिक रीतियाँ ऐसी अवश्य हैं जिनमें कालान्तरसे देशान्तरसे कुछ भेद हो गया है। जैसे महाभारतकालमें द्यूतकर्म हेय नहीं समझा जाता था। आजकल जबतक वह ब्रिजके रूपमें क्लबमें न खेला जाय घृणित समझा जाता है। या सुरती फाँकना असभ्यता सूचक है किन्तु सिगार पीना महत्ताका द्योतक है। किन्तु बहुत ऐसे आचार हैं जिनका मानदण्ड सदा सब देशोंमें एक समान है। साहित्य उन्हींको व्यक्त करता है। मैथ्यू आरनाल्डने कहा था कि 'लिटरेचर इज़ दि क्रिटिसिज़्म आफ लाइफ' जीवनके विश्लेषणका अर्थ ही यही है कि विषको सुधासे पृथक कर दिया जाय। मानव समाजके सम्मुख हमें सुधा ही रखना है। अगर कोई संखियाके टुकड़ेको ही मिश्री समझे तो उसके लिए कोई उपचार नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि जीवनका आदर्श हमें नहीं उपस्थित करना है। हम जैसे सच-मुच हैं उसीका चित्रण करना है। यह हम मानते हैं किन्तु उसे ऐसे समयमें रखना है कि वह दृष्टव्य हो श्रव्य हो। जो लोग यथार्थवादका झण्डा ऊँचा करते हैं यदि वह जैसे पैदा हुए वैसे ही रहे, न दाढ़ीपर सेफ्टी ब्लेड चले न चेहरेपर हेजलीन और क्रीम रगड़ा जाय न नाखुन कटे तो कैसी सूरत हो, तनिक स्वयं देखें।

आजकलके यूरोपके ही विचारक जिनका नाम लेकर कुछ साहित्यकार सवेरे चाय पीते हैं, क्या कहते हैं। स्काट जेम्सका कथन है—'आई रेडिली एडमिट दैट मारल कंसिडेरेशन्स कैन नाट फेल टु इन्टर इनटू द सब्जेक्ट मैटर आफ एवरी आर्टिस्ट हू इज़ हैंडलिंग लाइफ एण्ड कैरेक्टर'

कुछ साहित्यकार आज अवश्य ऐसे हैं जो मिस मेयोके परिवारके हैं जिन्हें सब

जगह नग्न चित्र ही दिखाना उपयुक्त जान पड़ता है। प्रसन्नताकी बात है कि उनकी संख्या नगण्य है और यह भी ज्ञान है कि संसार उन्हें किस दृष्टिसे देखता है। अच्छे विचारक आज भी इसकी प्रवृत्तिका विरोध करते हैं।

प्रो० रिचार्ड्स अपने ग्रन्थ "प्रिंसिपल ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म"में कहते हैं:—

श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी कुरुचि तथा रूक्षता (कपट व्यवहार) ऐसे अवगुण हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुत ये ही मूल अवगुण हैं, जिनसे अन्य दोषोंकी सृष्टि होती है। जिसके जीवनके आचरण विशृंखल और अनियन्त्रित रहते हैं, उसका जीवन कदापि सुन्दरतम नहीं हो सकता।

मेरा तो पुरानी बातोंका कुछ अधिक सहारा है। मैं तो साहित्यकी बहुत बड़ी आलोचना तुलसीदासकी इस चौपाईमें पाता हूँ—

कीरति, भनिति, भूति, भलि सोई,
सुरसरि सम सबकह हित होई।

शुक्लजीके अनुवाद

पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दीके बहुत बड़े आलोचक तथा निबन्ध रचयिता माने जाते हैं और हैं। उनके विचारोंकी मौलिकता उनकी इन कृतियोंमें निहित है। ज्यों-ज्यों उनके विचार प्रौढ़ होते गये उनकी शैली भी कठिन होती गयी। उनके विचारोंका बोझ उनकी साधारण भाषा वहन न कर सकती थी। परन्तु उनके विचारोंकी परिपक्वता तथा शैलीकी कठोरताका क्रमशः विकास हुआ है। और इस विकासका अध्ययन हम उनके अनुवादोंसे कर सकते हैं।

हिन्दीमें सारे संसारकी अनेक भाषाओंमें बहुतसे लेखकोंने अपना साहित्यिक-जीवन अनुवादसे आरम्भ किया है। कहा जाता है कि अनुवाद करने वाले मौलिक नहीं लिख सकते। यह कहावत उन्हीं लोगोंके लिए लागू होती है जिनके मस्तिष्कमें विचारोंके ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं होती, जो केवल मशीनकी भाँति शब्दशः अनुवाद करते जाते हैं और मूल लेखकके विचारोंका अध्ययन नहीं करते। ऐसे लोगोंके अनुवाद भी कृत्रिम ही होते हैं।

पंडित रामचन्द्र शुक्लने भी हिन्दीमें लिखना अनुवादसे ही आरम्भ किया। उनके अनुवादों तथा उनकी मूल रचनाओंको अध्ययन करनेसे पता चलता है कि अनुवाद उनका साधन-मात्र था। अपनी विशिष्ट शैलीका स्वरूप खड़ा करने के लिए उन्होंने पहले अनुवादका सहारा लिया। उनकी पहली अनुवादित पुस्तक मैगस्थनीजका भारतवर्षीय विवरण पढ़िए और काव्यमें रहस्यवाद उनकी मूल रचना पढ़िए। शैली कहाँसे कहाँ पहुँच गयी है। विचारोंकी तथा भाषाकी प्रौढ़ताकी दृष्टिसे दूसरी पुस्तक प्रथम श्रेणीकी रचना है। पहली पुस्तकमें

भाषा अस्तव्यस्त, व्याकरणकी भूलें तथा शैलीमें शिथिलता है। यह शुक्लजीकी प्रतिभा और अध्ययनका फल था कि उस अवस्थासे इस अवस्थाको पहुँच सके।

लेखोंके अतिरिक्त शुक्लजीने छ पुस्तकोंका हिन्दीमें अनुवाद किया है। जिनमें पाँच अँग्रेजी पुस्तकोंके अनुवाद हैं तथा एक बंगलाका। एक और अनुवाद किया था जो छोटी-सी पुस्तक-सी ही है—प्राचीन पारसका इतिहास। यह एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिकाके एक लेख का अनुवाद है, और नागरी प्रचारिणी पत्रिकामें छपा है। पहला अनुवाद 'मैगस्थनीजका भारतवर्षीय विवरण' है। यह संवत् १९६२में इतिहास प्रकाशक समिति काशीकी ओरसे प्रकाशित हुआ था। डाक्टर श्वान बेक ने जो मैगास्थनीजके लेखोंका संग्रह करके प्रकाशित किया था, उसीका यह अनुवाद है। दूसरा ग्रन्थ 'कल्पनाका आनन्द है' जो एडिसनके लेखोंका अनुवाद है। तीसरी पुस्तक अँग्रेजीके 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' का अनुवाद, मनोरंजन पुस्तकमालामें नागरी प्रचारिणीसे सं० १९६४में छपी है। चौथा ग्रन्थ अरनेस्ट हेकेलके 'दी रिड्ल ऑव यूनिवर्स' का अनुवाद है, दो भागोंमें विश्वप्रपंचके नाममे। यह भी नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा मनोरंजन पुस्तकमालामे प्रकाशित हुआ है। पहला भाग संवत् १९७७ और दूसरा ७८में। पाँचवी पुस्तक नागरी प्रचारिणी सभाकी सूर्यकुमारी ग्रन्थमालामें छपी है। यह इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान राखालदास वन्ध्योपाध्यायके 'शशाक' उपन्यासका हिन्दी अनुवाद है। यह संवत् १९७२ में छपा है। और छठी पुस्तक भी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा छपी है। यह काव्य है और 'बुद्ध-चरित'के नामसे आर्नल्ड की विख्यात पुस्तक 'लाइट आफ ऐशिया' का अनुवाद है।

शुक्लजीके अनुवादोंसे यह भी ज्ञात होता है कि सब अनुवाद बड़े अध्ययनके बाद लिखे गये हैं। अनुवादोंमें भी शुक्लजीकी आलोचना प्रवृत्ति काम करती है। जिन लोगोंने शुक्लजी द्वारा संपादित जायसी कृत पद्मावत पढ़ा है वह इस बात का अनुभव करते होंगे कि शुक्लजी सूक्ष्मदर्शी हैं और जो अध्ययन करते हैं उसके विचारोंका विश्लेषण करते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति आरम्भसे ही रही है। अनुवादित ग्रन्थोंमें भी उन्होंने ग्रन्थके विचारोंके सम्बन्धमें एक भूमिका प्रस्तुत कर दी है जिससे पाठकोंको बड़ी सुविधा हो जाती है। यह भूमिकाएँ भी छिछली नहीं होतीं। गंभीर प्रकाश डालनेवाली होती है और मैं तो समझता हूँ कि मूल ग्रन्थसे अनुवाद पढ़नेमें अधिक आनन्द आता है क्योंकि जहाँ वह भारतीय विचारोंसे संश्लेषण करते हैं हमारे चित्तपर अधिक प्रभाव पड़ता है। इन अनु-

वादोंमें एक और विशेषता है। यदि हम न जानें कि यह अनुवाद है तो मौलिक पुस्तकका आनन्द मिलता है। बहुत लोग जब बंगाली अथवा अँग्रेजीसे अनुवाद करते हैं तब पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह पुस्तक अनुवाद है। शुक्लजीके अनुवादोंमें वाक्योंकी बनावट मुहाविरोंका प्रयोग ठीक हिन्दीमें होता है। उदाहरण भारतीय होते हैं और आवश्यक स्थलोंपर टिप्पणियाँ देकर, शास्त्रोंसे, दर्शनोंसे विचारोंकी तुलना करके, पुस्तकोंका संस्करण भारतीय ढंगसे किया जाता है।

मैगस्थनीजकी पुस्तकमें उन्होंने जो भूमिका दी है उसमें सिकन्दरके आक्रमणका इतिहास संक्षेपमें लिख दिया है। यों तो साधारण पाठक जिन्होंने इतिहासका क-ख भी पढ़ा है, जानते हैं कि सिकन्दरके मरनेके बाद उसके पूर्वी साम्राज्यके शासक सिल्यूकसने मैगस्थनीज को चन्द्रगुप्तके दरबारमें भेजा। इस भूमिकामें सिकन्दरके कालसे पहलेका थोड़ा इतिहास और फिर सिकन्दरका हमला वर्णित है। इस भूमिका द्वारा हम पुस्तकके प्रवेश द्वारपर खड़े हो जाते हैं।

पुस्तक पढ़नेपर मैगस्थनीज द्वारा लिखी भारतकी बातोंको तो जानही जाते है। परन्तु शुक्लजीने और भी अधिक हमें कुछ दिया है। प्रायः पुस्तकमें बराबर टिप्पणियाँ देकर मैगस्थनीजके विचारोंका समर्थन दूसरे विद्वानोंके लेखों द्वारा और पुस्तकों द्वारा किया है। जहाँ मैगस्थनीजके विचार शुक्लजीको गलत मालूम हुए हैं उनका खंडन भी किया है। उन्होंने केवल अनुवाद ही नहीं किया है। इस प्रकार संपादन भी किया है और योग्यतापूर्वक।

'आदर्श-जीवन'में शुक्लजीकी शैली निखर गयी है। इस पुस्तकके विचार तो अँग्रेजी लेखकके हैं परन्तु उदाहरण इत्यादि, जहाँ अँग्रेजी मूल लेखकके हैं वहाँ अपने भारतीय महापुरुषोंके भी हैं। आत्मनिरोधके संबधमें युधिष्ठिरका भी उदाहरण है। महाराणा प्रताप, चाणक्य, कौशिक आदिकी कहानियाँ और उनके कथन दिये हुए हैं। बीच-बीच कविताएँ हिन्दी अथवा संस्कृतकी दी गयी हैं। मैं योंही एक स्थलसे एक उदाहरण देता हूँ।

"... उस समय लखनऊके जोड़का और दूसरा नगर भारतवर्षमें नहीं था। वहाँ आठों पहर सोना बरसता था। गोमतीके किनारे छतरमंजिल, शीशमहल आदिको देख आँखोंमे चकाचौंध होती थी।" अवश्य ही मूल पुस्तकमें लखनऊका वर्णन नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक स्थलपर आवश्यक परिवर्तन करके अपने यहाँके साहित्यसे उद्धरण देकर पुस्तक हमारे अधिक कामकी बनायी गयी है।

वनस्पति-शास्त्रकी पुस्तकोंका लोग अनुवाद करते हैं और पौधे वही अमेरिकन अथवा इङ्गलिश रखे जाते हैं। शुक्लजी सामाजिक तथा नैतिक-जीवन सम्बन्धी पुस्तक भी लेते हैं तो उसे हमारे उपयुक्त बनाते हैं। मक्खिका स्थाने मक्खिका नहीं। सोचते हैं कि इस विलायती उदाहरणके लिए कौन भारतीय उदाहरण उपयुक्त होगा और परिश्रम करके उसे भारतीय पाठकोंके लाभदायक बनाते हैं।

शुक्लजी द्वारा अनुवादित तीसरी पुस्तक विश्व-प्रपंच बड़ी उपयोगी है। मूल पुस्तक जरमनमें है। इसका अनुवाद अंग्रेजीमें पहले-पहल जब प्रकाशित हुआ इसने वैज्ञानिक और दार्शनिक ससारमें हलचल मचा दी। शुक्लजीका अनुवाद शब्दशः नहीं है। बीच-बीच शुक्लजी छोड़ते गये हैं। परन्तु विचारोंकी शृंखला टूटने नहीं पायी है पुस्तकमें शुक्लजीने एकसौ पचपन पृष्ठोंकी भूमिका लिखी है जिससे जीवोंकी उत्पत्ति और विज्ञानके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान हो जाता है। इससे जो लोग इन विषयोंको नहीं जानते उन्हें पुस्तक पढ़नेमें सहायता मिलती है। क्योंकि मूल पुस्तक जीव-विज्ञानके आधारपर लिखी गयी है और काँट तथा हीगलके दार्शनिक विचारोंकी भी चर्चा है।

भूमिकामें शुक्लजीने विकास-सिद्धान्तपर प्रकाश डाला है और काँट, हीगल, शोपेनहार आदि दार्शनिकोंके सिद्धातोंपर, जिनसे मूल पुस्तकमें सृष्टिके विषयमें विचार-विमर्श किया गया, सरसरी नजर डाली है। यह भूमिका एक दृष्टिसे और भी पठनीय है कि बहुतसे जीव-विज्ञान सम्बन्धी विदेशी शब्दोंका हिन्दी पर्याय मिलता है। यह तो संदिग्ध है कि आज भी यही शब्द जीव-विज्ञान अथवा रसायनशास्त्रमें प्रचलित हैं, परन्तु शुक्लजीका परिमाण तथा अध्यवसाय इससे दिखाई पड़ता है। 'रिड्ल आफ दी युनिवर्स'में वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारोंका सम्मिश्रण है। इस कारण साधारण पाठकोंके लिए पुस्तक कठिन है। 'विश्व-प्रपंच'की भाषा कठोर नहीं है। वैज्ञानिक विकास होनेसे भाषाको उस स्तरपर तो ले जाना ही पड़ा जो वैज्ञानिक ग्रन्थके लिए अनिवार्य है, किन्तु इस ढंगसे अनुवाद किया है कि साधारण पाठक समझ लें।

'शशांकके सम्बन्धमें इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मूल लेखकका कोई भी भाव अस्पष्ट नहीं होने पाया है। इस पुस्तकमें भी शुक्लजीने १६ पृष्ठोंकी भूमिका लिखी है। जिसमें गुप्तकाल तथा बंगालके 'शशांक'के इतिहासपर हल्का प्रकाश डाला गया है। उपन्यासके लिए भाषामें जो चटपटापन आवश्यक

है वह शुक्लजी न ला सके। वह सदासे गंभीर शैलीके लेखक थे। यदि उपन्यास स्वयं रोचक न होता तो यह पुस्तक नीरस हो जाती। इस उपन्यासकी भाषामें शुष्कता है। 'बुद्ध-चरित'में भी लम्बी-सी भूमिका है। इस पचपन पृष्ठोंकी भूमिकामें ब्रजभाषाके व्याकरणका दिग्दर्शन है। ब्रजभाषाके विभिन्न स्वरूपोंका शुक्लजीने इस भूमिकामें दर्शन कराया है। इस प्राक्कथन द्वारा शुक्लजीने यह भी दिखानेका प्रयत्न किया है कि ब्रजभाषा इस समय भी जीती जागती भाषा है।

मूल 'लाइट आफ एशिया'में एक ही छन्द, शुद्ध ब्लैंकवर्स है। अनुवादमें सुविधानुसार छन्द बदले गये हैं। बुद्ध-चरितका अनुवाद किस प्रकार हुआ है इसका एक उदाहरण देता हूँ।

आर्नल्ड लिखते हैं—

'Thus flocked
Kapil vastu's maidens to the gate
Each with her daık hair newly
smoothed and bound,
Eye lashes lustered with soorma stick,
Fresh bathed and scented, all in shawls and clɔths
Of gayest; slender hands and feet new-stained
With crimson, and the tılka spots stamped brıght'

इसे शुक्लजी चार पंक्तियोंमें लिखते हैं—

नृप द्वारि कुमारि चलीं पुरकी,
अँगराग सुगन्ध उड़ै गहरी।
सजि भूषण अम्बर रंग-बिरंग,
उमंगन सों मन माँहि भरी।
कवरीनमें मंजु प्रसून गुछे,
दृगकोरन काजर लीक परी।
सित भाल पै रोचन-बिन्दु लसै,
पग जावक रेख रची उछरी।

यदि यह न कहा जाय कि यह अनुवाद है तो पढ़नेवालेको इन पंक्तियोंमें अनुवादकी कोई गन्ध नहीं आती । मूल लेखकके भावोंका निर्वाह किया गया है और कविता देवीके स्वरूपको भी नहीं भ्रष्ट किया गया। इसी ढङ्गसे सारी पुस्तक स्वतन्त्र रचनाका भी स्वाद देती है।

इस प्रकार शुक्लजीके अनुवाद नीरस कृत्रिम अनुवाद नहीं होते थे। उनके अनुवाद मूल लेखकके भावोंकी आत्माकी रक्षा करते हुए मूल लेखका आनन्द देते हैं। उनके अनुवादभी अनुवादकोंके लिए आदर्श स्वरूप है। विदेशी भाषाओंके ग्रन्थोंका अनुवाद इसी ढङ्गसे करना अभीष्ट है।

वर्तमान भारतीय नाटक

पुराने जमानेमें हिन्दुस्तानमें नाटक चाहे जितने ऊँचे दरजेपर पहुँच गये हों जबसे नया युग शुरू होता है नाटक और अच्छे नाटक बहुत कम लिखे गये हैं। बनारसके मशहूर रईस और कवि बाबू हरिश्चन्द्रसे नाटक लिखनेका नया युग शुरू होता है। आपने नये नाटक लिखे जिनमें राजनीतिक और सामाजिक नाटक भी थे। और कुछ नाटक पुराणोंकी पुरानी कहानियोंपर भी थे। आपने हँसी और व्यंगको भी नाटकोंमें जगह दी। यह मानना पड़ेगा कि अंगरेजी और बंगलाकी असरसे ऐसा हुआ।

ज्यों ज्यों यूरपके साहित्य हमारे यहाँ पढ़े जाने लगे त्यों त्यों हमारे देशके लेखकों और कवियोंपर उसकी परछांई पड़ने लगी। हिन्दुस्तानके नाटककार और कवि अपनेको उससे दूर न रख सके। और सच पूछिये तो नाटककी जो कुछ भी तरक्की हुई इसी वजहसे हुई। क्योंकि नाटक तो समाजकी तसवीर है। जबतक समाज छोटी-छोटी टुकड़ियोंमें बँटा हुआ है, एक दूसरेसे किसी तरहका संबंध नहीं है, एक दूसरेके विचार आपसमें टकराते नहीं, स्त्रियां जिनकी वजहसे नाटकमें ताजा जिन्दगी आती है परदेमें हैं तब तक अच्छे नाटक बन ही नहीं सकते। हरिश्चन्द्रके ही जमानेमें लाला श्री निवासदासने भी तीन नाटक लिखे थे मगर वह नाटक भी पुराने ढंगके थे।

आजसे चालीस पचास साल पहले पारसियोंने भारतमें नाटक कंपनियाँ खोली। यूरपसे वह यह कला यहाँ लाये। जैसे वहाँ बड़े बड़े नगरोंमें नाटकका खेल होता था वैसाही यहाँ भी इन्होने शुरूकिया। और घूम-घूम कर तमाशा दिखलाने

लगे। उनका मतलब बिलकुल व्यापारी था। नाटक या साहित्यकी तरक्कीके लिये उन्होंने यह काम नहीं शुरू किया। मगर उनसे दो बातें पैदा हुईं। कुछ अंगरेजी नाटकोंका हिन्दीमें अनुवाद हुआ। वह अनुवाद कैसा भी रहा हो मगर शेक्सपियर किसी न किसी शकलमें यहाँ स्टेज पर आये। और चूंकि तमाशा देखने वाले सभी तरहके लोग थे इस लिये उन नाटकोंका भाषा ऐसा बनायी गयी जो सबकी समझमें आ सके। उन नाटकोंसे काफी मनबहलाव लोगोंका होता रहा है। जिन नाटकोंका अनुवाद हुआ उनमें अधिक शेक्सपियरके नाटक थे। अनुवाद भी चलता हुआ था। इस संबंधमें आगा हश्र कश्मीरीका नाम हम नहीं भूल सकते जिन्होंने सरल उर्दू में यह अनुवाद किये और पारसी स्टेजपर नाटकोंने काफी तरक्की की।

इलाहाबादके रायबहादुर लाला सीतारामने भी संस्कृत नाटकोंके अनुवादके साथ-साथ शेक्सपियरके कई नाटकोंका हिन्दीमें अनुवाद किया। मगर उस जमानेमें शेक्सपियर ही नाटककी हद था और लोगोंकी दौड़ विदेशी नाटकोंमें शेक्सपियर तक खतम हो जाती थी।

जब अंगरेजी और अंगरेजीके जरियेसे यूरपकी और भाषाओंका साहित्य हिन्दुस्तानमें आने लगा, हिन्दुस्तानसे लोग ज्यादः यूरपमें जाने लगे, वहांकी नयी दुनिया लोगोंकी निगाहोंके सामने आयी तब लोगोंकी आखें खुलीं। अपने देशके नाटकोंका मुकाबला वहाके नाटकोंसे किया तब समझमें आया कि नाटककी दुनियामें हम अभी तक बच्चोंकी तरह किलकारी भर रहे हैं। पारसी नाटक उनसे बहुत ही नीचे उतरे। अब दो तरहके नाटक लिखे जाने लगे। एक तो वह जो स्टेजपर खेलनेके लिये लिखे जाते थे। इनमें कुछ ही ऐसे थे जो साहित्यकी कसौटीपर खरे उतरते हैं। बहुतेरोंका तो नाम भी लोप हो गया है। मगर दो लेखकोंने अपना तर्ज बदला। आगा हश्र कश्मीरीने तरजुमा छोड़ कर नये सामाजिक नाटक लिखे। आपके कुछ नाटक जैसे आँखका नशा, पति भक्ति वगैरा ऐसे नाटक हैं जिनका दर्जा काफी ऊँचा है। मनुष्यकी कमजोरियों और समाजकी बुराइयोंको बहुत सच्ची तसवीर इन नाटकोंमें उतरी है। हिन्दुस्तानके नाटकके रिनेसामें आपका नाम ऊपर रहेगा। इसी प्रकार पंडित नारायण प्रसाद बेताबने भी नया रग पकड़ा। आपकी भाषा और आपकी स्टाइल चलती हुई थी। आपने सामाजिक नाटकोंकी ही ओर ध्यान दिया।

दूसरी तरहके नाटक जिनकी ओर ऊंचे दर्जेके लेखक झुके वह साहित्यिक नाटक थे। वह नाटक लिटरेचरकी चीज है। वह सदाके लिये अमर है। उनका

स्थान बहुत ऊँचा है और उनसे हमारे देश और समाजको और साहित्यको बड़ा फ़ायदा पहुँचा है।

पहले हम उनका ज़िक्र करेंगे जो दूसरी भाषाओंसे अनुवाद होकर आये हैं। हिन्दीमें हम शुरू शुरूमें अच्छे नाटकोंके अनुवादके लिये पं० रूपनारायण पांडेयको धन्यवाद देंगे। आपने द्विजेन्द्रलाल रायके नाटकोंका बंगालीसे हिन्दीमें अनुवाद किया। डी० एल० रायके ऊपर शेक्सपियरका काफी प्रभाव पड़ा था। हिन्दीमें द्विजेन्द्रलालके नाटकोंने आकर नयी लहर पैदा करदी। हजारों जगह यह नाटक खेले गये। कुछ नाटक इतिहासकी घटनाओंसे लिखे गये थे जैसे शाहजहाँ और चन्द्रगुप्त। इन नाटकोंमें चरित्र इतनी सुन्दरतासे खींचा गया है कि अनायास मुंहसे वाह-वाह निकल आता है। इनके कुछ नाटक जैसे उस पार सामाजिक है। समाजकी बुराइयां इन नाटकोंमें बड़ी खूब से दिखलायी गयी है।

विदेशी भाषाओंसे अनुवाद बहुत कम हुए हैं। जैसा पहले कहा गया है शेक्सपियरके नाटकोंका तरजुमा आगा हश्रने उर्दू में और लाला सीतारामने हिन्दीमें किया था। मगर वह सब शेक्सपियरके मुकाबलेके न थे। सच तो यों है कि अनुवाद एक यों ही कठिन—दूसरे शेक्सपियरका। शेक्सपियरकी आत्माको हिन्दी या उर्दूमें लानेके लिए कुछ तो वैसा ही दिमाग होना चाहिये।

दूसरे विदेशी नाटकका जो अनुवाद हिन्दीमे हुआ है वह है फ्रांसके नाटककार मोलियरका। मोलियरके कई नाटकोंका अनुवाद गोंडाके वकील जी०पी० श्रीवास्तवने किया, मोलियरके नाटकोंका दुनियाके साहित्यमें ऊँचा स्थान है। श्रीवास्तवजीने अँगरेजी अनुवादसे हिन्दी अनुवाद किया है। इसीलिये आधा मज़ा यों ही निकल गया। मगर आपने मोलियरका कुछ आनन्द हिन्दी-वालोंको दिया यही क्या कम था। इस अनुवादसे यह भी हुआ कि हिन्दीमें हँसी और मजाकमें नाटक और प्रहसन लिखनेका रवाज नये सिरेसे शुरू हुआ।

यूरपके नाटकोंकी ओर ज्यादा किसीकी नजर नहीं गयी। बहुत सुन्दर ऊँचे दर्जेके नाटक अँगरेजी और दूसरी यूरोपियन भाषाओंमें है। शा के सिर्फ एक नाटकका हिन्दीमे अनुवाद हुआ है। इसका कारण यह मालूम होता है कि जो लोग ऊँचे ख्यालके हैं वह तो अँगरेजीमें पढ़ लेते हैं और बाकी लोग विदेशी सामाजिक सवालों में कोई दिलचस्पी नहीं रखते।

गाल्सवर्दीके तीन नाटकोंका हिन्दीमे अनुवाद हुआ है। जसटिसका, स्ट्राइफका और सिलवर बाक्सका। तीनोंका तरजुमा मुन्शी प्रेमचन्दने किया है।

और तीनों इलाहाबादकी हिन्दुस्तानी एकाडमीसे छपे हैं। इन नाटकोंका अनुवाद हिन्दीमें आजानेसे बड़ा फायदा हुआ। गाल्सवर्दी किस प्रकार समाजकी बुराइयों पर व्यंगकी बौछार करता है उस तरहके लिखनेवाले यहाँ बहुत कम है। इससे हम सीख सकते है कि हम नाटकके जरिए प्रचार भी कर सकते है और बुराइयाँ भी दूर कर सकते हैं। मुन्शी प्रेमचन्दने मारिस माटरलिंकके एक ऐक्टके नाटक साइटलेस का उर्दू में तरजुमा किया था, मगर वह किसीको पसन्द न आया। साइटलेस सब लोगोंकी समझमें आना कठिन है। वह बिलकुल फिलासफी है।

लाहौरके डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप पी० एच० डी ने इबसेनके मशहूर नाटक डाल्स हाउसका खिलौनाघरके नामसे अनुवाद किया है। इबसेन बड़ा जबरदस्त सामाजिक नाटककार है। डाल्स हाउस उस तरहका है जिसे रियलीस्टिक कहते हैं। प्रोब्लेम प्ले लिखनेवालोंकी दागवेल इसीने रखी। डाल्सहाउसमें एक स्त्री यह आवाज उठाती है कि स्त्री पुरुषकी गुलाम नहीं है।

विदेशी भाषाओंके नाटकोंमे मुहम्मद नईम रहमान साहबका नाटक जो जरमनसे अनुवाद किया गया है अच्छा है। और बाबू जगतमोहन लालरवाँका फरेबे अमल भी अच्छा अनुवाद है। मगर इन दोनोंसे जबरदस्त अनुवाद गोएतेके फाउस्टका डाक्टर सैयद आबिद हुसैन साहबका है। इसे अंजुमन तरक्किए उर्दू दकनने छापा है। फाउस्टकी तारीफ क्या की जाय। दुनिया जानती है। पचास सालमे गोएटेने इसे पूरा किया। बुराई और भलाईका जीता जागता चित्र है।

टैगोरके नाटकोंका भी हिन्दीमें अनुवाद हुआ है। उनके नाटकोंका ज्यादः असर हिन्दीपर नहीं पड़ा है।

जो मौलिक या ओरिजिनल नाटक हिन्दीमें लिखे गये हैं उनके बारेमें शुरूमें कुछ बता चुका हूँ। नये जमानेमें राधाकृष्ण दासने नाटक लिखे मगर वह पुराने ढर्रेके थे। इस युगके सबसे बड़े नाटक लिखनेवाले काशीके बाबू जयशंकरप्रसाद थे। वह कवि थे, कहानी लेखक थे और नाटककार थे। यह हिन्दीमें पहले नाटक लिखनेवाले हैं जिन्होंने नाटकमें बहुतसी नयी बातोंको जगह दी। और पुराना तरीका जो सैकड़ों बरसोंसे चला आ रहा था उसे छोड़ा। अधिक नाटक इनके ऐसे है जो हिन्दुस्तानकी पुराने इतिहासकी कहानीको लेकर लिखे गये है। इन्होंने अपने कलमके जादूसे पुराने भारतको फिरसे हमारे सामने अपने नाटकोंके जरिएसे जिन्दा कर दिया है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, समुद्रगुप्त, हर्ष हमारे सामने ऐसे आते हैं जैसे हम सचमुच उन्हींके युगमें आगये हैं। उनका ध्रुव स्वामिनी

नाटक आजकलके सुधारकोंको चैलेंज देता है। पुराना इतिहास खोजनेके लिए। उनका कामना नाटक बिलकुल सामाजिक है। उसमें दुनियामें आदमीके बुरे और भले मनकी बारीकीके साथ खोज की गयी है और इस बातको दिखलाने की कोशिश की गयी है कि संसारमें बुराई कब क्यों और कैसे आयी। यह नाटक संसारके किसी भी भाषाके नाटकके सामने रखा जा सकता है। हिन्दीमें वही एक नाटक लिखनेवाले हुए हैं जो सबसे ऊपर रखे जा सकते हैं।

पं० विशम्भर सहाय व्याकुलने महात्मा बुद्ध और तेगे सितम दो मौलिक नाटक लिखे। दोनों ऊँचे नाटक है और खेले भी गये हैं। लखनऊ युनिवरसिटीके प्रोफेसर स्व० पं० बदरी नाथ भट्टने भी दो नाटक लिखे जो लोगोंने पसन्द किया। मुन्शी प्रेमचन्दने एक नाटक करबला लिखा। करबलाके मैदानमें हसन हुसेनकी जो लड़ाई हुई उसीका इसमें जिक्र है। नाटक है तो जानदार मगर इसमें वह कामयाबी नहीं हुई जो इन्हें कहानियोंमें हुई। उनका महात्मा इसा नाटक भी अच्छा है— ओरिजिनल है।

पं० गोविन्द वल्लभ पन्त (हमारे मिनिस्टर नहीं) अच्छे नाटककार हैं। आपके नाटक लिरिकल हैं। आपके नाटकोंमें अंगरेजी नाटककार जान फ्लेचरका आनन्द आता है। दोनोंका रंग एकही है। पं० सुमित्रानन्दन पंत ने एक नाटक ज्योत्सना लिखा है। यह नाटक कविकी ऊँची उड़ानका पता देता है। इस तरह का नाटक हमारे देशमें लिखा नहीं गया है। जानमें या अनजानमें इसपर माटरलिंकका या उसी स्कूलके किसीका प्रभाव पड़ा हुआ मालूम होता है।

बीसवीं सदीमें हिन्दुस्तान ही नहीं सारी दुनियामें समाजका रूप बदल गया है। बड़े-बड़े सवाल पैदा हो रहे हैं जिनका जवाब मिलना कठिन हो रहा है। सभी समाजोंमें, सभी फिरकोंमें असंतोष फैला हुआ है। वह क्यों, नाटक लिखनेवालोंने नाटकोंके जरिएसे इन सवालोंको हल करनेकी कोशिश की। सबसे पहले इबसेनने इस ओर ध्यान दिया। अंगरेजीमें गाल्सवरदीने उसीकी राह पकड़ी और प्रोबलेम प्लेका जन्म हुआ। हिन्दीमें इसे समस्या नाटक कहते हैं। हिन्दीमें इस ढङ्गके मौलिक नाटक आरंभमें पं० लक्ष्मी नारायण मिश्रने लिखे हैं। सन्यासी, सिन्दूर की होली, ऐसे नाटक हैं। नाटक अच्छे हैं मगर बिलकुल सच्चे प्रोबलेम प्ले नहीं बन पाये हैं। इधर मिश्र जीने नाटकोंके लिखनेमे बड़ी सफलता प्राप्त की है। ऐतिहासिक भित्तियोपर उन्होंने अनेक सुंदर नाटक रचे हैं। हिंदीके जीवित नाटक-

कारोंमें इनकी श्रेष्ठता सर्व स्वीकृत है। अश्क और हरिकृष्ण प्रेमी भी अच्छे नाटक-कारोंमें हैं।

असल बात यह है कि हिन्दुस्तानमें इस नये युगमें नाटकोंकी कमी है। या जैसे नाटकोंकी जरूरत है, वह बहुत कम है। इस बीसवीं शतीमें कितने ही नाटक यहाँ लिखे गये हैं उनका आत्मा या इन्सपिरेशन यूरपका है। हमने उनका टेकनीक या ढाँचा तो अपनाया। वह तो ठीक ही था। मगर उनकी आत्मा भी उधार लेना चाहा, यह मानते हुए भी कि आज दुनियाके सामने सभी देशोंमें किसी न किसी रूपमें वही सवाल है यह मानना पड़ेगा कि अपनी-अपनी जरूरतें अलग-अलग है। इसलिये कोरी नकल यहाँ कामयाब न हो सकी और न शायद हो सकेगी।

जो समाजको खुर्दबीनकी निगाहसे देखता हो वही इबसेन या गाल्सवर्दीकी तरह समाजकी बुराइयाँ या समाजकी जरूरतोंको सामने ला सकता है। ऐसी पैनी निगाह वाले अभी नहीं हैं। मगर ऐसे नाटक जरूर लिखे गये हैं जो हमारी पुरानी बहादुरी और हमारी सभ्यताको याद कदम-कदम पर दिलाते हैं जिससे हमें अपने देशपर नाज़ है जिससे हम अपने देशसे अधिक प्रेम करने लगते हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनका काव्य

ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दीका अंतिम भाग भारतका नव जीवन काल है। पराधीन भारतकी स्वप्नावस्था नष्ट हुई और राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक त्रुटियोंको दूर करनेके लिये देशमें नेताओंने कमर कसी। जनता अपने अधिकार पानेके लिये उत्सुक होने लगी और कांग्रेसकी नींव पड़ी। भाषा और साहित्य भी जातिको जगानेके साधन हैं। इसलिये इधर भी जाग्रति और सुधारके लक्षण दिखाई पड़े। हमारे भारतेंदुका उदय भी हिन्दी साहित्यके गगनांगनमें इसी समय हुआ था। यद्यपि इस सुधाकरकी पूर्ण कला विकसित भी न होने पायी थी कि वह अस्त हो गया। तथापि उसकी कौमुदीका विस्तार इतना व्यापक है कि हिन्दी कविता कानन सदा उससे प्रकाशित रहेगा।

कविता मानव हृदयकी अनुभूतियोंका प्रत्यक्ष रूप है। जिस कवितामें कविका हृदय निचोड़कर नहीं रखा है वह कविता नहीं हो सकती। कविका जीवन और उसका काव्य नीर-क्षीरसे एक दूसरेसे मिले हैं। भारतेंदुजीकी कविता भी उनके जीवनसे इतनी मिली हुई है कि हम एकको दूसरेसे अलग नहीं कर सकते।

हम भारतेंदुको तीन रूपोंमें देखते हैं। व्यक्ति भारतेंदु, सुधारक भारतेंदु तथा कलाकार भारतेंदु। भारतेंदुजीने ३५ वर्षकी आयु पायी जिसमें आरम्भके दस-बारह या पंद्रह साल निकाल दीजिये। केवल बीस वर्षोंमें उन्होंने साहित्य वाटिकामें इतने पुष्प खिलाये कि देखकर विस्मय होता है। शेली, कीट्स और बायरनकी भाँति यह नक्षत्र भी अल्पकालमें अपनी ज्योति जगाकर लीन हो गया। इतनी थोड़ी अवस्थामें इतना प्रौढ़, इतना अधिक और इतना विभिन्न साहित्य निर्माण

शायद ही किसी कविने किया हो। यह बात संसारसे छिपी नहीं है कि भारतेंदुका जीवन विलासप्रिय था। और वह भी सीमाका उल्लंघन कर चुका था। फिर भी उन्हें समय मिलता था और उन्होंने अपनी मधुर वाणी लोगोंको सुनायी। अनेक व्यसनोंके साथ लिखनेका उन्हें व्यसन था। प्रतिभा तो थी ही, शीघ्र ही चमक उठे। उनके व्यक्तित्वकी छाप स्थल-स्थल पर उनके काव्यमें प्रकट होती है। ब्रजभाषा साहित्यके अनेक रत्नोंकी भाँति भारतेंदु भी वैष्णव थे। वैष्णव धर्मावलम्बियों द्वारा हिन्दी साहित्यकी कितनी उन्नति हुई है, किसी साहित्य वेत्तासे छिपा नहीं है। भगवान कृष्णके प्रेमके मंदिरमें इन भक्तोंने भक्तिपूर्ण स्नेहका ऐसा दीपक आलोकित किया है जिसकी प्रभा जब तक हिन्दी साहित्य रहेगा और जब तक हिन्दू जाति रहेगी, धूमिल न होगी। यही भक्ति हरिश्चंद्रके काव्यमें ओत-प्रोत है। पद-पदमें इसी प्रेमका वर्णन है। यों तो वह "सखा प्यारे कृष्णके गुलाम राधारानीके" थे ही और उन्होंने इस भक्तिको स्पष्ट रूपसे अनेक कवितात्रोंमें कहा भी है।

कहते हैं:—

भजौं तो गुपाल ही को, सेवौं तो गुपालै एक
मेरो मन लाग्यौ सब भाँति नन्द लाल सौं
मेरो देव देवी गुरु माता पिता बन्धु इष्ट
मित्र सखा हरि नातो एक गोपवाल सौ।
'हरिचन्द' और सौं न मेरो सम्बन्ध कछु
आसरो सदैव एक लोचन विसाल सौ,
माँगौं तो गुपाल सौं, न माँगौं तो गुपाल ही सौं
रीझौं तो गुपाल ही पै खीझौं तो गुपाल सौं॥

× × ×

एक स्थान पर आपने कहा है—

हम तो मोल लिये या घर के,
दास दास श्री वल्लभ कुलके चाकर राधा बर के।
माता श्री राधिका, पिता हरि, बन्धु दास गुनकर के
हरीचन्द तुम्हरे ही कहावत नंहि विधिके नहि हर के।

× × ×

वैष्णव भावना सम्बन्धी उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे जिनसे उनकी प्रगाढ़ भक्तिका परिचय मिलता है। यों तो उनकी आत्मीयताका परिचय उनकी रचनाकी पंक्ति-पंक्ति में झलकता है परन्तु कहीं-कहीं तो उन्होंने भगवानकी भाव भक्तिमें तल्लीन होकर अपनी आत्मा खोलकर रख दी है। जैसे प्रेमी अपनी प्रेमिकाके सामने सारे आवरण हटा अपने हृदयको स्पष्ट रूपसे प्रकट करता है, जैसे तुलसीदासने विनय पत्रिकाके कतिपय पदोंमें भक्ति, प्रेम और पीड़ाको भगवान रामचन्द्रके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक बिना छिपाये अर्पित किया है, उसी प्रकार भारतेन्दुने अपने कई ग्रन्थोंमें, अनेक पदोंमें प्रेमसे, विनयसे, उलाहनासे जैसे भी हो सका, जैसे भी प्रेम रसमें डूबे हुए व्यक्तिके लिए संभव हो सकता है- मनकी व्यथा सुनाई है।

भारतेंदु जी कहते हैं:—

आजु हम देखत हैं को हारत,
हम अघ करत कि तुम मोंहि तारत को निज बात बिसारत
होड़ पड़ी है तुमसों हमसों देखैं को प्रन पारत
'हरीचन्द' अब जात नरकमें कै तुम धाइ उबारत

किस बहानेसे अपनी कमजोरियोंकी सच्ची तस्वीर खींची है। अपने मानव स्वभावके दोषोंको कैसे उलाहनाके बहानेसे कवि कहता है:

हम तो दोसहु तुम पै धरि हैं।
व्यापक प्रेरक भाखि भाखि कै बुरे कर्म सब करि हैं।
भलो कर्म जो कछु बनि जैहैं सो कहिहैं हम कीनों,
निसि दिन बुरे करमको सब तुमरे हम माथे दीनों,
पतित पवित्र करन तब तुमरो साँचों ह्वैहै नाम,
जब तारिहौ हठी कोउ जैसे हरिचन्द अघ धाम।

हरिश्चन्द्रके प्रेमका आदर्श बहुत ऊँचा था। जैसे एक सच्चे भक्तके लिये जीवन, मरण सब प्रेम ही प्रेम है वैसा ही इनका भी था।

विक्टर ह्यूगोने कहा है:—

"The reduction of the universe to a single being the expansion of a single being even to God, such is love."

प्रेमके दीवानेको संकोच नहीं होता। उसका संसार ही अलग होता है।

वह जो कुछ कहता है एकके लिये, जो कुछ करता है एकके लिये। संसारमें सब जगह उसे वही एक दिखायी देता है। मजनूँको अबकी वालूके कण-कणमें लैलाका ही प्रतिबिम्ब दिखायी देता था। जिस प्रकार तुलसीदासके लिये सब जग 'सियाराम मय' था उसी प्रकार भारतेन्दुके लिये संसार कृष्णमय था। उनके जीवनकी यही कुञ्जी है। जब ऐसा अद्वैतभाव मनुष्यके हृदयमें आ जाता है मनुष्य अपनी दुर्बलता छिपाता नहीं। कौन छिपावे और किससे छिपावे। और जब दुर्बलता गोपनीय नहीं है तब वह दुर्बलता नहीं, वह नैतिक बल है, साहस है।

प्रेमकी तन्मयताका भाव बड़ी सुन्दरतासे एक स्थानपर हरिश्चन्द्रने चित्रण किया है।

'राधे भई आपु घनश्याम,
आपुनको गोविन्द कहत है छाड़ि राधिका नाम।
वैसेइ झुकि झुकि कै कुंजनि मैं कबहुंक वेनु बजावै,
कबहुं आपनो नाम लेइ कै राधाराधा गावै।"

इन पंक्तियोंसे उनके प्रेमकी परिभाषा मिलती है। उनका कहना है —
जगमें सब कथनीय है, सब कछु जान्यो जात,
पै श्री हरि अरु प्रेम यह उभय अकथ अलखात।

फारसीके एक सूफी कविने कहा है :—
मन तू शुदम तू मन शुदी मन तन शुदम तू जा शुदी
ताकस न गोयद बाद अर्जां मन दीगरम तू दीगरी
यही अद्वैत भाव है।

फिर हरिश्चंद्रजी कहते हैं .—
हरीचंद गुप्त प्रीति बरसत अति रसकी रीति,
नेकउ जो जाने कोउ प्रगटत रस जाई।
उनका आदर्श था कि प्रेमका विज्ञापन देना छिछोरापन है। वह तो 'लबों पर मुहरे खामोशी दिलोंमें याद करते हैं' का सिद्धान्त है।

प्रेम और भक्तिमें इतने तन्मय होनेपर भी संसारकी गतिसे वह विमुख नहीं थे। अपने कालके प्रतिनिधि थे और देशकी जाग्रतिकी प्रगतिमें जितना सहयोग संभव था किया। इनके पहलेके कवि या तो राजाओंके यहाँ आश्रय पाकर उनकी विलासप्रियताके यज्ञमें अपनी वासनापूर्ण कविता सनी घीको

आहुति देते रहे अथवा राधाकृष्णकी उपासनाके आड़में बंधे ढर्रेकी रचना करके अस्वाभाविक बिना अनुभूतिके छंद गढ़ते रहे। इनमें अच्छे और भक्त कवि भी थे। पर उनकी सख्या बहुत ही कम है। वीर रसकी रचनाओंमें भी शब्दाडम्बर मात्र था। हृदयको वीरता और उमंगोंसे उद्वेलित कर देनेवाली रचनाएँ कम थीं। भारतेंदुने यद्यपि उसी ब्रजभाषाका प्रयोग किया जिसमें ब्रजके सभी कुंज कोकिलोंने अपना मधुर राग गाया है, और इन्होंने शृंगार रसकी भी कविता की है, फिर भी इनकी रचनाओंको पढ़कर आश्चर्य होता है कि आजसे साठ सत्तर साल पहले उन्होंने कैसे उन बातोंको व्यक्त किया जिसे आज हम कह और कर रहे हैं। एक भाषा, एक राष्ट्र, भारतकेलिये उन्होंने आवश्यक समझा और हिंदी ही राष्ट्र भाषा हो सकती है उन्होंने प्रचारित किया। संवत् १९३४ में उन्होंने अपने व्याख्यानमें कहा था :—

निजभाषा उन्नति अहै सब उन्नतिको मूल,
बिन निज भाषा ज्ञानके मिटत न हियको शूल।
भारतमें सब भिन्न अति ताहीं सो उत्पात्,
विविध देश हूँ मत विविध, भाषा विविध लखात्।
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम,
परदेसी जुलहानके मानहु भये गुलाम।
निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति
ताहि बचाइ न कोई सकत, निज भुज बुधि बल काति

देशकी अधोगतिके दु:खसे उनका हृदय पीड़ित था। कहते हैं :—

रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनों,
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो,
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो,
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

स्वयं परम वैष्णव होते हुए धार्मिक कलह और झगड़ोंसे बहुत दूर थे। उनका कहना है,

रे पीड़ितो करत झगरो क्यों चुप ह्वै बैठो मौन
'हरीचंद' याहीमें मिली हैं प्यारे राधा रौन।

धार्मिक उदारता और स्वतंत्रताकी शिक्षा उन्होंने अपनी रचनाओंमें बराबर दी है। जैन कौतूहलमें ऐसे विचारोंसे परिपूर्ण अनेक रचनाएँ हैं। एक पद सुनाऊँगा :—

धरम सब अटक्यो याही बीच,
अपुनी आप प्रसंसा करनी दूजे न कहनों नीच।
यहै बात सबने सीखी है का वैदिक का जैन।
अपनी अपनी ओर खीचनो एक लैन नहिं दैन।
आग्रह भरयो सबनके तनमें तासों तत्व न पावैं,
हरीचंद उलटी की पुलटी अपुनी रुचि सों गावैं।

ऐसे उन्नत विचारोंसे उनकी कविता शराबोर है। परन्तु इन सब बातोंसे ऊपर भारतेन्दु कलाकार थे। भाषा और साहित्य दोनोंको उन्होंने अपनी प्रतिभासे आलोकित किया। अधिकाश उनकी भाषा प्रसाद गुण पूर्ण प्रांजल व्रजभाषा है। उनकी रचनाओंमें सरिताके समान मधुर धारा है। मगर वह समयके पारखी थे और खड़ी बोलीमें भी उन्होंने कविताएँ रची हैं। एक सुनिये…

साझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है,
हम सब एक दिन उड़ जाएंगे यह दिन चार वसेरा है।
आठ वेर नौवत बज बज कर तुझको याद दिलाती है,
जाग जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है।
आँधी चलकर इधर उधरसे तुझको यह समझाती है,
चेत चेत जिन्दगी हवासी उड़ी तुम्हारी जाती है।
दिया सामने खड़ा तुम्हारी करनीपर सिर धुनता है।
इक दिन मेरी तरह बुझोगे, कहता, तू नहिं सुनता है॥

भारतेन्दुके काव्यका पहला गुण सरलता है। यह उनके सरल सीधे चरित्रकी छाया है। प्रकृति और मनुष्यमें जो सरल सौंदर्य उन्होंने देखा अपनी रचनाओं द्वारा व्यक्त किया। उनकी कवितामें गम्भीरताकी आड़में शाब्दिक आडम्बर और जाल, घुमाव फिराव नहीं आने पाया है। अंग्रेजीमें जिस प्रकार टेनिसनकी रचनाओंमें सरल, स्निग्ध सौन्दर्य पाया जाता है वही भारतेन्दुकी रचनामें है। वह

जीवित समाजके प्राणी थे। उनकी मनोवृत्ति मानव प्रेम और सहानुभूतिको सदा लद्द करती थी। उनकी भक्ति और शृङ्गार रसकी रचनाओंमें कोमल भावुकता है, और विचार सौन्दर्य है। लेखक और कविके लिए प्रसादगुण और शब्दोंका चयन आवश्यक कला है। यों तो स्पष्टताके आलोकमें चलना सबका कर्तव्य है परन्तु कविका सबसे पहले। भारतेन्दुमें यह गुण थे। जिस चित्रपटीपर कवि चित्र रंजित करना चाहता है उसमें भावनाओंके रंगोंका मिश्रण बड़ी चतुराईसे होना चाहिये। भारतेन्दुकी रचनाओंमें यह मिश्रण ऐसा हुआ है कि कहीं नवसिखुएकी तूलिका दिखाई ही नहीं देती। कहींसे उठाकर पढ़िये प्रौढ़ लेखनीका चमत्कार है। अनुभव सबको होता है। पर कवि उसे कितनी सिधाईसे शब्दोंमें चित्रित करता है सुनिये :—

जिय सूधी चितौन की साधै रहीं, सदा बातन में अनखाय रहे;
हँसि कै हरिचंद न बोले कंभू, जिय दूरहि से ललचाय रहे।
नहिं नेकु दया उर आवत है, करिके कहा ऐसे सुभाय रहे,
सुख कौनसो प्यारे दियो पहिले, जिहिके बदले यों सताय रहे।

हरिश्चन्द्र कभी यह नहीं भूले कि कविका धर्म संसारको सौंदर्य और प्रेमका उपदेश देना है। कीट्सके अनुसार उनके लिये 'ए थिंग आफ ब्युटी इज़ ए ज्वाय आफ ऐवर' जीवित धर्म था। जब किसी मनुष्यको अपने व्यक्तित्वका आभास मिल जाता है तब वह अनुभूतिका प्रकाश डालकर उसे संसारके सम्मुख आलोकित करता है। कविके लिये व्यक्तित्वकी मुहर मानव समाजके हृदयपर अंकित कर देना और भी आवश्यक होता है। कलाकारको सौंदर्यकी परख तो होनी चाहिये। धनराशि, संगमर्मरका पहाड़ और शाहजहाँका प्रेम परिपूरित हृदय होने पर भी ताजमहल न बन सकता था। उसके लिये चतुर शिल्पीकी आवश्यकता है, जिसका हृदय विशाल हो, कोमल हो, भावुक हो और सुन्दरताके नैसर्गिक भावोंको पार्थिव जगतमें स्थूल रूपमें बनानेकी चतुराई हो। कवि हरिश्चन्द्रने भी अपनी स्वाभाविक प्रतिभा द्वारा हृदयके मनोभावोंको बड़ी सरलता और शक्तिसे चित्रित किया है। मैं दो तीन रचनाएँ यहाँ पर उद्धृत करता हूँ जो पर्याप्त होंगी।

बिछुरे पियके जग सूनो भयो अब का करिए कहि देखिए का,
सुख छाडिके संगम को तुम्हरे इन तुच्छन को अब लेखिए का।
हरिचन्द जू हीरनके व्यवहार कै कांचन को लै परेखिए का,
जिन आँखिन मैं तुव रूप बस्यो उन आँखिन सो अब देखिए का।

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू क्यों चितै मुरि मो मन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति, निबाहन को क्यों कलाम कियो॥
हरिचन्द भये निरमोही इते निज नेह को यों परिनाम कियो।
मन माहिं जो तोरन ही की हुती, अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो॥

कितना स्वाभाविक है। मौलिकता तो कहनेका अपना ढंग होता है। पुरानी शराबको भी वह ऐसी नयी बोतलमें ढाल देता है कि उसमें नयी रंगत, नयी मादकता पैदा हो जाती है। विप्रलंभ प्रेम कवियोंके लिये सदासे मनोरंजक विषय रहा है। भारतेंदुकी एक कविता है —

पाले परे कोस चलि चलि थक गये पाय,
सुखके कसाले परे ताले परे नस के।
रोम रोम नैनन में हाले परे जाले परे,
मदन के पाले परे प्रान परबस के।
'हरीचन्द' अंगहू हवाले परे रोगन के,
सोगन के भाले परे तन बल खिसके।
पगन मे छाले परे, नांघिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

यह भाव पुराने हैं पर फिर नये पनके साथ व्यक्त किये गये हैं। उनके दृश्य काव्य भी नवीन धारामें बहते हैं। मंचपर खेलने योग्य नाटक उनके पहले नहीं थे। कुछ मौलिक, कुछ अनुवादित और कुछ छायानुवाद करके उन्होंने हिन्दी रंग मंचकी नींव रखी। उनके अनुवादित नाटकोंमें भी मौलिकताका आनन्द आता है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक उनका मास्टर पीस है। भवभूतिने कहा है —

एको रसः करुणएव निमित्त भेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिवश्रयते विर्तान
आवर्त बुद्बुदतरंग मयान्विकारानम्भो यथा सलिल मेवहि तत्समस्तम ।

करुणरसका पूरा परिपाक इस नाटकमें हुआ है। करुणरसकी जीती जागती तसवीर है। नाटकोंमें भी उन्होंने सरलताको स्थान दिया है। उनके चरित्रोंमें हेमलेटके 'टु बी आर नाट टु बी' समान न उलझने वाली पहेलियाँ नहीं हैं। यह भी सच है कि मानव हृदयके द्वन्द संग्रामका घात प्रतिघात उनके नाटकोंमें नहीं है। साधारण मनुष्य समाजके हृदयपर बैठ जाने वाले उनके नाटक हैं। उनकी भाषा खड़ी बोली, उनके पात्र सजीव हैं और वस्तु सरल।

प्रकृति निरीक्षण कविका गुण समझा जाता है। कला प्रकृतिकी प्रतिलिपि तो है ही। कविने सत्य हरिश्चंद्रमें गंगा वर्णनमें चन्द्रावलीमें यमुना वर्णनमें, प्रात समीरनके पद्योंमें और अनेक स्थलोंपर प्रकृतिका बड़ा सजीव वर्णन किया है। गंगा तटका प्रातःकालका वर्णन मनको मुग्ध कर लेना है। 'नव उज्ज्वल जलधार' पर उनकी उक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। सब लोग उसे जानते हैं, यमुना छविपर भी बड़ी सुन्दर रचना है। उसका एक छन्द है:—

परत चन्द-प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो,
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो।
मनु हरिदरसन हेत चंद जल बसत सोहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायो।
कै रास रमनि मैं हरि-मुकुट आभाजल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिम्ब लखात है।

श्मशानका भी वर्णन उनका अनुपमेय है।

यदि अनुभूति कविता देवीका प्राण है तो परिहास और व्यंग उस देवीकी वीन और माला है। अंग्रेजीके विशिष्ट कवियोंमें यह विशेष गुण होता है। भारतेन्दुजीमें भी इसका अभाव न था। उन्होंने व्यंग और परिहास द्वारा खूब चुटकियाँ ली हैं। इनके रिश्तेदार चन्नूलालने एक बार इनके यहाँ गुलाबजामुन भेजी थी, उसपर आपने लिखा :—

काजर सौ कारी तेल चिक्कट सों मैली यह,
आबनूस हार्यो छवि देखि आब ताब की।
मरी मछरी सों बढ़ि मोर दुरगन्ध स्वान्,
माखी मेलें गिद्द काक हारे सड़े राख की।

पीनागत कीनी कम निग्न है जाके ऐसी
गली गली कामिनिन गान मगन की।
स्वर्ग में हूँ जिन को नरक दिखाती है
कालानन्द लाल जी की आगुन गुनाव की ॥

बीभत्स रस द्वारा हास्यरसका पोषण करना साधारण काम नहीं है। मुकरियों द्वारा भी उन्होंने खूब व्यंग किया है। कहते हैं :—

भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि के तन मन धन मूसै,
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अँगरेज।
रूप दिखावत सरबस लूटै, फंदे में जो पड़ै न छूटै
कपट कटारी हिय में हूलिस क्यों सखि साजन नहिं सखि पुलिस।
धन लेकर कछु काम न आवै, ऊँची नीची राह दिखावै,
समय पड़ै पर सीधै गुंगी, क्यों सखि साजन नहिं सखि चुंगी।

कितना सच्चा शिष्ट और व्यंगपूर्ण परिहास है। वह उर्दूके भी कवि थे। और दाग और अमीरके रंगमें कविता करते थे। 'रसा' उर्दूमें उपनाम था। यह भारतेन्दुके काव्यका थोड़ा दिग्दर्शन है। बहुत कुछ कहा जा सकता है। वह कविता कुंजके अनोखे कुसुम थे जिनका सौरभ राष्ट्रभाषा हिंदी जगतके प्रांगणमें सदा फैला रहेगा, जिसका पराग हिंदी भाषा-भाषियोंके हृदयसे सदा मिलता रहेगा। उन्हींके शब्दोंमें हम कहेंगे :—

'रसा' महवे फसाहत दोस्त क्या दुश्मन भी हैं सारे,
जमाने में तेरे तर्ज़े सुखन की यादगारी है

एक वाक्यमें मैं कह सकता हूं कि वह हिंदीके बाइरन थे, टेनिसन थे, शेक्सपियर थे।

[१९४०

भारतेंदुका शृङ्गार

भारतेन्दुकी कविता प्रेमकी कविता है। प्रत्येक वैष्णव कवि जिसने केवल कविताके लिये कविता नहीं की, जिसके हृदयकी वेदना कविताकी सरितामें फूट पड़ी, वह प्रेम ही रहा। मैं नहीं कह सकता कि इसमें कहीं अपवाद मिलेगा कि नहीं, किन्तु प्रेमकी विफलताका ऊर्जस्वीकरण कविता है। हृदयमें 'वेकुअम' नहीं होता। कोई न कोई भाव उसे अपना घरौंदा बना लेता है। इसका विश्लेषण यहाँपर असंगत है कि किस व्यक्तिके हृदयमें क्यों कोई विशेष भाव उत्पन्न होता है। किन्तु जब प्रेमके भाव जाग्रत होते हैं और प्रेमी अपनी अभिलाषाओंमे सफलता प्राप्त नहीं करता तब वह योगी, कवि अथवा भक्त बन जाता है। आत्मसमर्पण करना ही प्रेमीका ध्येय होता है। जिसे अपने प्रियतमको अपना हृदय समर्पण करनेका अवसर नहीं मिलता वह विराट सत्ताके सम्मुख अथवा भगवानके चरणोंपर उसे रख देना चाहता है।

भारतेंदुके जीवनसे जो लोग परिचित हैं उनकी बातोंको एक बार छोड़ भी दीजिये तो भारतेंदुकी रचना पुकार पुकार कर कह रही है कि कविके हृदयका एक-एक तार प्रेमसे ओत-प्रोत था।

लोगोंने भारतेंदुके नाटककार होनेका बहुत महत्व बताया है। इस भावनामें वीर पूजा अधिक है। यदि साहित्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो उनके नाटकोंमें नाटकत्वकी अधिक महत्ता नहीं है। अधिकांश उनके नाटक अनुवाद हैं। जो उनके अपने हैं उनमें बहुत कुछ उन तत्वोंका अभाव है,

अथवा उनका विकास कम हुआ है जो नाटकके लिए आवश्यक समझे जाते हैं।

उनकी महत्ता और विशेषता यह थी कि उन्होंने नाटकको एक प्रकार जन्म दिया। और उसमें खड़ी बोलीके गद्यका प्रयोग किया। खड़ी बोली पढ़ी-लिखी जनताकी बोली थी। इस प्रकार उन्होंने नाटकों द्वारा गद्यको नयी दिशामें मोड़ा और उसी दिशासे गद्य चलकर लोक वीथिपर पहुँचा। नाटकोंके माध्यमसे उन्होंने गद्यका परिष्कार किया इसलिए हम उन्हें वर्तमान हिन्दी का अग्रदूत मानते हैं।

भारतेंदु भावुक व्यक्ति थे, इसलिये मूल रूपसे कवि थे। उनकी रचनामें वियोगकी वही वेदना है जो प्रेमीको होती है इसलिये कविता स्वाभाविक है। यद्यपि अनेक स्थलोंमें उन्होंने परंपरागत परिपाटीका पालन किया है तथापि उनकी रचनाओंमें उनका व्यक्तित्व झलकता है।

जब वह कहते हैं

> पहिले ही जाय मिले गुनमें श्रवन फेरि
> रूप सुधा मधा कीन्हो नैनहू पयान है,
> हंसनि, नटनि चितवनि मुसकानि सुघराई,
> रसिकाई मिलि मति पय पान है।
> मोहि-मोहि मोहन मई री मन मेरो भयो,
> 'हरीचन्द' भेद ना परत कछु जान है।
> कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय
> हियमें न जानी परै कान्ह है कि प्रान है।

प्रेमी चाहता है कि प्रियतमके साथ मेरा तादात्म्य हो जाय। अंतिम अभिलाषा प्रेमीकी यही रहती है। भक्तकी भी यही अंतिम आकांक्षा है। इसे ही सायुज्य मुक्ति कहते हैं। अनेक कवियोंने इस ढंगसे कहा है। एक फारसी कविने भी कहा है—

भी प्रान और कान्ह एक हो गये हैं। इससे प्रेमीका लक्ष ही झलकता है। सचमुच प्रेममें शराबोर ही ऐसा लिख सकता है।

भारतीय अबलाकी विवशताका मनोवैज्ञानिक चित्र नीचेकी रचनासे बहुत स्पष्ट व्यक्त होता है:—

रोकहिं जो तो अमंगल होय, औ प्रेम नसै जो कहैं पिय जाइये।
जो कहैं जाहु न, तौ प्रभुता; जौ अछू न कहैं तो सनेह नसाइये॥
जो 'हरिचंद' कहैं तुमरे बिन जीहैं न, तो यह क्यों पतिआइये।
तासौं पयान समै तुमरे हम का कहैं आपै हमै समझाइये॥

जिसने बिदाईके अवसर देखे होंगे, उस समय जो मनोव्यथा हुई होगी वही अपने प्रियतमकी मनकी दशा समझता होगा। वही इसे लिख भी सकता है। असलमें इस प्रकारको रचनाओंमे भारतेन्दुने प्राचीन परम्पराओंको नये रोमांटिक-मनोभावोंमें घोला है। यही इनकी रचनाकी विशेषता है। उनका फलक तो पुराना है किंतु तूलिका नयी है। प्रियतमके हृदयकी कठोरता तो व्यापक है। अनेक भाषाओंके कवियोंने प्रियतमकी निठुराईपर पेजके पेज रंगे हैं। किंतु अधिकांश लोगोंने यही सीमा रखी कि प्रिय विदेश गये, सन्देश नहीं भेजा, स्मृति नहीं आयी। और उसकी पूर्णाहुति हुई कृष्णके गोकुलसे जानेपर जब गोपियोंने और राधिकाने कृष्णको कितने उपालंभ दिये। भारतेन्दुने अधिक स्वाभाविक रूप दिया है। कठोरता जो प्रेम करता है उसमें नहीं होती। जिससे प्रेम किया जाता है उसमें होती है। पुराने कवि किसी परम्पराकी लकीर पीटते रहे जो वास्तविकतासे दूर थी।

क्यों इन कोमल गोल कपोलन देखि गुलाबको फूल लजायो।
त्यों 'हरिचंद जू' पंकजके दल सो सुकुमार सबै अंग भायो॥
अमृतसे जुग ओठ लसे नव पल्लव सो कर क्यों है सुहायो।
पाहन सो मन होते, सबै अँग कोमल क्यों करतार बनायो॥

स्वामी रामतीर्थने लिखा है :—

"सीमीं वदन तू जानां लेकिन दिले तू संगस्त,
दर सीम संग पिनहां दीदम, न दीदः बूदम"

अर्थात् तेरा शरीर तो चाँदीका-सा है किंतु हृदय पत्थरका है। चाँदीके अन्दर पत्थर छिपा देखता हूँ। ऐसा मैंने कभी न देखा था।

आँख तो कवियोंकी सदासे ही प्रिय विषय रहा है। और प्रेमकी सारी शक्तियोंका केन्द्र उन्हें बना दिया गया है। भारतेन्दुने नवीन उपालंभके लिये चुना।

जब सों हम कियो उनसों तबसों तुम बातें सुनावती हौ।
हम औरनके बसमें हैं परीं 'हरिचंद' कहा समुझावती हौ॥

कोउ आपुन भूलि है बूझहु तौ तुम क्यों इतनी बतरावती हौ।
इन नैननको सखी दोष सबै हमै झूठहि दोष लगावती हौ॥

यह सब अभिव्यक्तियाँ प्रेमकी स्वाभाविक मनोदशाएँ हैं। दूसरेपर दोषारोपण करना मनुष्यका स्वभाव है। अपना अपराध स्वीकार करना मनुष्यने सीखा नहीं। तब प्रेमी भला कैसे स्वीकार कर सकता है कि प्रेम मैंने किया। उर्दू कवियोंने इस प्रकारके बहुत शेर कह डाले हैं। बहुतसे उनमें चलते और साधारण कोटिके हैं। भारतेंदुकी रचनामें विवशता और खीझके साथ गंभीरता है जो रचनाको मूल्य प्रदान करती है।

विप्रलंभ शृंगार सदासे कवि प्रतिभाके प्रदर्शनका विस्तृत क्षेत्र रहा है। उत्तर रामचरितमें भवभूति तो तमसासे यहाँतक कहला देते हैं —

एको रसः करुण एव निमित्त भेदा-
द्भिन्न पृथक पृथगिव श्रयते विवर्ततान
आवर्त बुद्बुदतरंग मयान्विकारा-
नंभो यथा सलिल मेव हितत्समस्तम्

जैसे जल भँवर, बुदबुद तथा तरंग रूपविकारोंका आश्रय लेता है किन्तु है एक जल ही उसी प्रकार सभी रस करुण रसमें आश्रित हैं। किन्तु हिन्दीके अधिकांश प्राचीन कवि इसीमें उलझे रहे कि उस वियोगिनीकी उसासोंसे पेड़ झुलस गये, उसे वियोगकी ज्वाला इतनी सताती थी कि जाड़ेके दिनोंमें भी उसके शरीरपर खस और चन्दन भस्म हो जाते थे। इस प्रकारके चमत्कारसे कलाको प्रश्रय नहीं मिलता! कलाबाजीको भले ही मिल जाय। घनानंद ही ऐसे प्राचीन कवि हैं जिन्होंने व्यापक ढङ्गसे वियोग जनित पीड़ाका मानसिक चित्रण किया है। कुछ और भी हैं। भारतेन्दुने भी जहाँ वियोग-पक्षका वर्णन किया है वह सच्चा है। मनुष्यकी वही अनुभूति है। नीचे लिखे छंदोंमें उस सच्चे प्रेमकी भाषा बोल रही है जिसका बिछोह अपने प्रियतमसे हो गया है।

कालै परे कोस, चलि चलि थक गये पाय,
सुखके कसाले परे ताले परे नसके।
रोय रोय नैननमें हाले परे जाले परे,
मदनके पाले परे प्रान पर-ब्रसके।
'हरीचंद' अंगहू हवाले परे रोगनके,
सोगनके भाले परे तन बल खसके।
पगनमें छाले परे नांघिवेको नाले परे।
तऊ लाल लाले परे रावरे दरसके,

× × ×

थाकी गति अंगनकी मति पर गई मंद,
सूख झांझरी सी ह्वै के देह लागी पियरान।
बावरीसी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज जित तित लागे दूर जान।
'हरीचन्द' रावरे-विरह जग दुखमय,
भयो कछू और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आओ प्राननाथ अब प्रान लागे मुरझान।

हिन्दीवालोंकी ऐसी परम्परा रही है कि वियोगकी पीड़ा तथा निर्दयताकी शिकायत स्त्रियाँ करती रहीं। पुरुष ही शुष्क काष्ठका हृदय लिये उनकी अव-हेलना करता रहा। यातो यह नितांत अस्वाभाविक है या जमाना बदल गया। प्राचीन युगमें पुरुष कठोर रहे होंगे, और उनकी पत्नियाँ या प्रेमिकाएँ उनसे शिकायत करती होंगी। अब भी करती हैं किन्तु स्वभावतः वह मुखर कम होती हैं। प्रेमीको ही रोना बिलखना पड़ता है। कालिदासका यक्ष हमें अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है। आजकल तो बेचारा प्रेमी ही कलपता है। और नीचे लिखी रचना पूर्ण स्वाभाविक जान पड़ती है।

'जिय सूधी चितौनकी साधें रही, सदा बातनमें अनखाय रहे।
हँसिकै 'हरिचन्द' न बोले कबौं मन दूर ही सों ललचाय रहे।
नहिं नेक दया उर आवत क्यौं करिकै कहा ऐसे सुभाय रहे।
सुख कौन सो प्यारे!दियो पहिले जेहिके बदले यों सताय रहे।'

ये पंक्तियाँ सभी लोगोंको स्वाभाविक लगेंगी जो कभी प्रेमके मैदानके सिपाही रहे होंगे।

कविताएँ भारतेंदुने बहुत लिखीं। संक्रमण-कालके कलाकारोंमें स्वाभावत ऐसी बात हो जाती है कि वह भूत तथा भविष्यके पुल बन जाते हैं। भारतेंदु की भाषापर इसका विशेष प्रभाव है। खड़ी बोलीका पुट अपनी कवितामें बराबर देते जाते हैं, यद्यपि उनकी कविता मुख्यतः ब्रजकी बोलीमें है। इस कारण प्रसाद गुण उनकी रचनाओंकी विशेषता है। ब्रजकी परम्पराको न तोड़ते हुए भी उन्होंने उस भाषाका प्रयोग किया जिसे हम बोलते और सुनते हैं।

भारतेंदु पदे-पदे रोमांटिक-कवि थे। इसलिये समयसे वह प्रभावित थे। रीति और मध्यकालके विचारोंने उनकी रचनाको प्रस्फुरित नहीं किया। इसीलिये देश-प्रेम, समाज-सुधार, राष्ट्रभाषा प्रचारके भावोंको उन्होंने अपनी रचनाओंमें स्थान दिया। और यह आवाज बुलंद की—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नतिको मूल।
बिन निज भाषा ज्ञानके मिटै न हियके शूल॥

[सम्वत् २

———

कवियोंका काश्मीर

काश्मीरकी सुन्दर छटा, मनलुभावने दृश्य, स्रोतोंकी किलकारियों, मखमली फर्शों तथा शैलमाला के पिघलते हुए सोनेने जगतके लाखों प्राणियोंको मादकतामें चूर कर दिया है। फिर कवि जिसका हृदय फोटोग्राफके कैमरेकी भाँति प्रकृतिकी छटाको सदैव अंकित करनेके लिए तत्पर रहता है, क्यों न करता। यदि छोटे-बड़े सभी कवियोंकी सूची बनायी जाय जो काश्मीरकी छटासे उत्प्राणित हुए हैं तो संख्या सहस्रोंकी सीमा पार करेगी। और काश्मीरपर उनकी रचनाएँ यदि एकत्र की जायँ तो एक पुस्तककी सामग्री मिल जायगी। हम यहाँपर कुछ बानगी उनके भावोंकी रखते हैं जिससे काश्मीरके प्राकृतिक वैभवका दर्शन हो सकता है।

संस्कृतके महापण्डितोंकी खान काश्मीर रहा है और अनेक सुललित रचनाएँ उन्होंने की हैं। यहाँ अन्य भाषाओंकी रचनाएँ दी जायँगी। काश्मीर मुसलिम राज्योंके पार्श्वमें बसा है। प्राचीन कालसे फारसीके कवियोंने यहाँके सौन्दर्यका निरीक्षण किया है और उसपर मुग्ध हुए हैं। उरफी बहुत बड़ा फारसीका कवि हो गया है। उसने अनेक कसीदे लिखे हैं। काश्मीरपर उसकी दो पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ। एक स्थलपर उसने कहा :—

'अगर फिरदौस बर रूए जमीनस्त
हमीं अस्तो हमीं अस्ती हमीं अस्त'

[यदि पृथ्वीपर कहीं फिरदौस—स्वर्ग—हो सकता है तो यहीं है यहीं है।]

काश्मीरकी तुलना स्वर्गसे की गयी है। दूसरा शेर कविने और भी विचित्र लिखा है। कहता है :—

'हर सोख्तः जाने कि ब कशमीर बर आयद
गर मुर्ग कबाबस्त कि बालोपर आयद'

काश्मीरकी सुषमा ऐसी है, वहाँके हवा-पानीमें वह सजीवता है कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसका दिल जला हुआ हो यहाँ आ जाय तो फिर सजीव हो जाय। यहाँतक कि कबाबका भुना हुआ पक्षी यहाँ लाया जाय तो उसके डैने और पर फिरसे निकल आयें।

इससे अधिक प्राणदायी क्या हो सकता है? कबाब फिरसे चिड़िया बन जाय तो कितने ही दिलजले काश्मीर पहुँचकर अपने हृदयको फिरसे हरा कर लेंगे। यह है काश्मीरके सम्बन्धमें कवियोंकी कल्पना।

सन् १५८० ई० में अकबर काश्मीर गया था। उन्हींके साथ उनका मन्त्री, नवरत्नोंमेंसे एक, फैजी भी उनके साथ काश्मीर गया था। फैजीने इस यात्राका वर्णन किया है। उससे काश्मीरकी छटा, उसके सौन्दर्यपर प्रकाश पड़ता है। वह कहते हैं :—

'गुबारे ऊ बतवा ख्वाँद चश्म रा दारू
गयाह ऊ बतवाँ गुफ्त रूह रा अकसीर'

अर्थात् काश्मीरकी गर्द आँखके लिए दारू है। दारूसे अभिप्राय औषधिसे है। धूल आँखोंको हानि पहुँचाती है किन्तु काश्मीरकी धूल आँखोंके लिए दवा है, और वहाँकी घास आत्माके लिए अक्सीर है, सजीवनी है।

'फसूल ऊ मुतशाब· व एतदाल हवा
बहम यकीदियो उरदी बहिश्तो बहमनो तीर'

वहाँका समीर ऐसा समभाव वाला है, एक-सा है कि सब ऋतुएँ समान हो गयी हैं। माघ, वैशाख, फाल्गुन, सावनमें कोई अन्तर नहीं है। वसन्त, वर्षा, ग्रीष्म, शरद सभी एकत्र हैं एक ही समय। फिर कहते हैं :—

जमीने संदलयश नम ज़ बर्फ काफूरी
बयाद दाद ज़ आमेज़िशे गुलाबो अबीर'

सुन्दर चन्दनके समान धरतीपर कपूरके रंगकी बर्फ पड़ जानेपर ऐसा जान पड़ता है कि गुलाब और अबीर एकमें मिला दी गयी है। ऐसी महक है। फारसीमे अबीर सुगंधिके अर्थमें प्रयोग होता है अर्थात् धरतीका चप्पा चप्पा सुगंधिसे भरा हुआ है।

'जमीने ऊ चु दिले बे गमां तरब खेज़ अस्त
सिपहर करद. ख़ाके ऊ ब बादये ख़मनीर'

काश्मीरके रहनेवाले इतने बे-ग़म हैं, सुखी हैं, मस्त हैं, कि जान पड़ता है कि परमात्माने इस जमीनको शराबसे सींचा है।

'यसंद' नेस्त मगर यक दिलश चु मन दर इश्क।
कि बा हजार दिल आमद दरीं चमन ज़ंजीर।'

यहाँकी हवामें वह आकर्षण है कि हजारों दिल उसमें बँधे चले आते हैं, मेरा एक दिल पर्याप्त नहीं है, मैं अपना क्या हाल कहूँ।

इस प्रकार बहुत लंबा वर्णन फैजीने किया है और काश्मीरकी सदा बहार, वहाँकी मादकताका चित्र उतारा है।

इधर कई कवियोंने भी पर फड़फड़ाये हैं। पण्डित ब्रजनारायण चकबस्तकी कल्पना इस विषयमें सुन्दर है। वह स्वयं काश्मीरी थे। यद्यपि स्वदेश बहुत पहले छूट चुका था फिर भी कुछ कहा ही है। अपने देशके आतिथ्यके सम्बन्धमें क्या बात कही है।

'जर्रा-जर्रा है मेरे कश्मीरका मेहमानवाज।
राहमें पत्थरके टुकड़ोंने दिया पानी मुझे।

मेरे स्वदेशका एक-एक कण अतिथियोंका स्वागत करनेमें अद्वितीय है। राहमें—वह भी घरपर नहीं, घरकी तो बात ही और होगी—पत्थरके टुकड़ोंने पानी पिलाया पत्थर ऐसे कठोर वस्तुने प्यास बुझायी। पहाड़ोंके झरनेके सम्बन्धमें यह कल्पना सुन्दर है। अन्यत्र काश्मीरके सम्बन्धमें उनकी बहुत-सी पंक्तियाँ अंकित हैं। पाठक उनसे आनंद उठा सकते हैं।

हिंदीमें भी अनेक कवियोंने काश्मीरके सम्बन्धमें अपनी कलम चलायी है। लम्बी कविता इस सम्बन्धमे केवल श्रीधर पाठककी देखनेमें आयी है। कुछ पंक्तियाँ यह हैं:—

'कै यह जादूभरी विश्व बाजीगर' थैली
खेलतमें खुलि परी शिलाके सिरपर फैली
पुरुष-प्रकृतिकी किधौं जबै जोवन रस आयो
प्रेमकेलि रसरेलि करन रंग महल सँजायो
खिली प्रकृति पटरानीके महलन फुलवारी
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार पिटारी

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति
पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छन छन धारति
विमल-अंबु-सर मुकुरन मंह मुख बिंब निहारति
अपनी छविपर मोहि आप ही तनमन वारति
यही स्वर्ग, सुरलोक यही, सुरकानन सुंदर
यहिं अमरनको ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर"

अंग्रेज यों भी प्रकृतिका उपासक होता है फिर यदि किसी अंग्रेज कविके भाग्यमे काश्मीर देखना हो गया तो वह कितना धन्य अपनेको समझता है। टामस मूरने 'लालः रुख' नामकी बड़ी कविता लिखी है। यह नायिका काश्मीरकी ही है। इसके सम्बन्धमें फारसी तथा अंग्रेजीमें अनेक रचनाएँ हैं। टामस मूरने सन् १८१७ में यह कविता लिखी है। कुछ अंश पाठकोंके सम्मुख हैं :—

'ओ टु सी इट ऐट सनसेट व्हेन वार्म ओवर द लेक
इट्स स्प्लेंडर ऐट पारटिंग ए समर ईव थ्रोज़
लाइक ए ब्राइड फुल आव ब्लशेज व्हेन लिंगरिंग टु टेक
ए लास्ट लुक आव हर मिरर एट नाइट एर शी गोज़"

गरमीके ऋतुमें संध्या समय झीलपर सूर्यास्त ऐसा जान पड़ता है मानो नव-विवाहिता वधू रात्रिमें प्रियतमसे मिलनेके पहले लज्जा तथा संकोचसे रक्तरंजित कपोलोंके लिए दर्पणमें अपना मुख देख रही है।

चाँदनी रातका वर्णन सुनिये —

"ऑर टु सी इट बाइ मूनलाइट व्हेन मेलोली शाइन्स
द लाइट ओवर इट्स पैलेसेज़ गारडेन्स ऐंड श्राइन्स
व्हेन द वाटर-फाल्स ग्लीम लाइक ए क्विक फाल आव स्टार्स
ऐंड द नाइटिंगेल हिम्स फ्राम द आइल आव चनार्स
इज़ ब्रोकेन बाइ लाफ्स ऐंड लाइट एकोज़ आव फीट
फ्राम कूल शाइनिंग वाक्स व्हेयर द यंग पीपुल मीट"

चाँदनीमें काश्मीरकी छटा क्या है? जब मृदुल चाँदनी प्रासादों, उपवनों तथा मन्दिरोंपर बिछ जाती है और जब सोतोंमें चाँदनी ऐसी छिटकती है मानों एकाएक बहुतसे नक्षत्र टूटकर गिर पड़े हों तब चनारके कुंजोंमेंसे बुलबुलके सङ्गीतकी ध्वनिको उन युवक तथा युवतियोंकी पगध्वनि विशृङ्खल कर देती है जो इस समय मिलनके लिए निकलते हैं।

प्रातःकालके लिए कवि कहता है :—

'ऑर ऐट मार्न व्हेन द मैजिक आव डे-लाइट अवेक्स
ए न्यु वंडर ईच मिनिट आर स्लोली टेक्स
ब्रे क्स, हिल्स, क्युगोलाज, फाउनटेन्स काल्ड फोर्थ एवरी वन
आउट आव डार्कनेस ऐज़ इफ़ जस्ट बार्न आव द सन'

प्रातःकाल जब सूर्योदय अपनी जादूकी लकड़ीसे सबको जगा देता है, प्रत्येक क्षण एक-एक आश्चर्य आँखोंके सामने आता है। पहाड़ियाँ, सोते, कनगुरे जान पड़ता है सब सूर्यमेंसे उत्पन्न हो गये हैं। सब सूर्यके प्रकाशमें चमक उठते हैं।

और दिनमे :—

'व्हेन द स्पिरिट आव फ्रैगरेंस इज अप विद द डे
फ्राम हिज़ हरम आव नाइट फ्लावर्स स्टीलिंग अवे
ऐंड द विंड फुल आव वाण्टननेस वूज़ लाइक ए लवर
द यंग ऐसपेन ट्रीज टिल दे ट्रेंबल आल ओवर'

सुगधिकी आत्मा अपने हर्म्यसे अनेक पुष्पोंकी सुवास चुराकर निकलती है और पवन निर्द्वन्द्व होकर एसपेनके वृक्षोंसे प्रेम करने लगता है तब वह काँपने लगते हैं।

वर्णन विस्तृत है। पंक्ति-पंक्तिमें काश्मीरका चित्र उतारा गया है। इस प्रकृतिके रत्नकी शोभाका वर्णन करते कवि नहीं अघाते। जो वहाँ हो आये उनकी तो बात ही क्या, वहाँकी सुषमा और सौंदर्यका कुछ ऐसा जादू है कि जिन्होंने कभी काश्मीरका मुँह नहीं देखा उनकी लेखनी भी उसका गुणगान करनेके लिए तत्पर हो गयी। किंतु आज—वह सुखकी प्रकृतिकी क्रीड़ाभूमि, वह अंगूरकी लताएँ, वह सेबके वृक्ष; वह हिमका दर्पण! क्या हो गया! वहाँ क्या हो रहा है!

[सन् १९४८

———

श्लील और अश्लील साहित्य

मनुष्य अपने मनमें जो अनुभव करता है उसकी अभिव्यंजना चार प्रकार करता है। पत्थरमें, रेखा तथा रंगोंमे, स्वरोंमें तथा शब्दोंमें। यही अभिव्यक्तियाँ कला, सगीत तथा साहित्य हैं। सभी अभिव्यक्तियाँ कलाकारके मनकी छाया हैं, चित्र हैं। जैसी अनुभूति होगी वैसा चित्र होगा। एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए। वही बातें देखकर या सुनकर सब लोगोंकी अनुभूति एक प्रकार नहीं होती इसलिये अभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न ढङ्गसे होती हैं।

किसी फूल, पक्षी, सुहावने दृश्य, सुन्दर रमणीको देखकर सबके मनमें एक ही भाव नहीं उठते। यह अंतर मनुष्यकी शिक्षा, उसकी परिस्थिति, उसके आचरण और उसके बौद्धिक विकासपर निर्भर है। अपने यहाँकी भाषाका प्रयोग हम करें तो कह सकते हैं कि यह मनुष्यके संस्कारपर अवलंबित है। देश भेदसे भी संस्कार भेद होता है। वर्डसवर्थके लिये कोयल इस छायारूपी जगतके लिये केवल शब्द है, छाया मात्र है। हिंदी कवियोंके लिये वह वसन्तकी संदेशवाहिनी है, वियोगियोंके हृदयमें टीस उत्पन्न करनेवाला पक्षी है। उर्दू कवियोंने आज तक कोयलकी बोली ही नहीं सुनी। किसी महान उर्दूके कविने कोयलपर नहीं लिखा। प्रत्येक देशकी परंपरा भिन्न होती है इसलिये सत्य एक होते हुए भी उसकी अभिव्यंजनाके अनेक रूप होते हैं। इसलिये जब हम किसी देशके साहित्य अथवा कलाको परखें तब वहाँकी परंपरा और वहाँके संस्कारको भी दृष्टिके सम्मुख रखें तभी न्याय कर सकेंगे।

जब हमारे संस्कार अलग-अलग हैं और हमारी अनुभूतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं और इसलिये अभिव्यंजनाओंमें अनेकता है तब साहित्यकी रचना रचयिताके अनुसार होगी। रचयिता यदि सब प्रकार ऊँचा है तो उसकी कृति भी ऊँची होगी। यदि वह निम्न-स्तरका है तो रचना भी निम्न कोटिकी होगी। इसीलिये प्रत्येक भाषामें नैतिक-अनैतिक, श्लील तथा अश्लील साहित्य दिखायी पड़ता है। किंतु मनुष्यका बाहरी आचार-विचार रहन-सहन इसका मापदंड नहीं हो सकता। साहित्य और कलाकी वस्तु मनुष्यका पार्थिव शरीर नहीं बनता। मनुष्यकी अंतर आत्मा, जो अंदरका व्यक्तित्व है—Inner personality—वही साहित्यकी रचना या कलाकी रचना करता है। बायरन, शेली, कीट्स, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसादके आचार-व्यवहारकी टीका-टिप्पणी करें या न करें उनकी कृतियाँ जिस ऊँचाईको पहुँचती हैं वह इतना तो बताती हैं यह किसी परिष्कृत व्यक्तित्वकी है। यह न समझना चाहिये कि जो मनुष्य सप्ताहमें एक बार व्रत रखता है, नमक नहीं खाता, रामनामी दुपट्टा ओढ़ता है, निरामिष भोजी है, वह वाल्मीकि और तुलसी बन जायगा। वाल्मीकि और तुलसी तब वाल्मीकि और तुलसी बने जब उनका अन्तःकरण प्रकाशित हो गया। उनका व्यक्तित्व धुल गया। उनकी लेखनीसे अश्लील साहित्य निकल नहीं सकता था।

अश्लील साहित्य क्या है? कैसा होता है? पश्चिममें अश्लील कृति और अनैतिक कृतिमें अन्तर है। जहाँ कलाका सम्बन्ध है वह नैतिक या अनैतिक नहीं मानते। यूनानकी मूर्तियाँ जो कलाकी सुन्दरतम वस्तु समझी जाती हैं नग्न बनी हैं। पश्चिममें उनकी बड़ी प्रशंसा है! हमारे यहाँकी परम्परामें संभवतः उन्हें औचित्यकी सीमाके बाहर समझेंगे। हम अपने काँटे पर उन्हें नहीं तौल सकते।

किन्तु साधारणतः साहित्यका जहाँ तक सम्बन्ध है श्लील और अश्लील साहित्यके सम्बन्धमे मतभेद नहीं है। भारतीय साहित्यके विद्वानोंने जहाँ एक ओर औचित्यकी सीमा बतायी है जिसमें शब्दसे लेकर विषयों तथा भावोंके लिये निर्देश किया है उसी प्रकार दोषोंका भी लम्बा-चौड़ा विवेचन किया है। संस्कृत साहित्यकारोंने कविताके ७० दोष बताये हैं। अश्लीलता भी दोष माना गया है। अश्लीलता केवल कामका कुत्सित वर्णन ही नहीं है। भद्दापन, ग्रामीणता, घृणित, अमंगल वर्णनोंको भी अश्लील कहते हैं। और

इसीलिये श्री मम्मटाचार्यने कहा कि 'तददोषौ शब्दार्थौ' शब्द और अर्थोंके दोष न हों वह काव्य है। काव्य साहित्यके व्यापक अर्थमें आया है। पण्डित-राज जगन्नाथने भी काव्यके लिये कहा था 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द' जो रमणीय होगा वह अश्लील न होगा।

पहले मैंने कहा है साहित्यकारका अभिप्राय अपनी अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति है। अनुभूति सच्ची है और अभिव्यक्ति भी सच्ची है तभी साहित्य और कलाका निर्माण हो सकता है। बाहरी और आन्तरिक दृष्टि-दोषमे अनुभूति मिथ्या हो सकती है तब अभिव्यक्ति भी ठीक न होगी। जब अभिव्यक्ति सत्य नहीं है तब वह सुन्दर भी नहीं है। असुन्दर, अरमणीय रचना ही अश्लील है।

और इसीसे साहित्यकी रक्षा करनी चाहिये। हम यथार्थवाद पश्चिमी 'रियलिज्म'के नामपर ऐसी रचना करते हैं जो हमारी संस्कृति और परम्पराके अनुकूल नहीं है। किन्तु उसे छोड़ दीजिये साहित्यकी आत्माके अनुकूल भी नहीं है। यदि वह भद्दी है, तो अश्लील है। यथार्थका चित्रण भी चतुर चितेरेके हाथमें भद्दा नहीं होने पाता कलापूर्ण हो जाता है। मैं केवल एक उदाहरण आपके सम्मुख रखूँगा—शकर भगवान तपस्या कर रहे हैं। कामकी सेनाने आक्रमणकर दिया। तुलसीदास लिखते हैं·

'सबके हृदय मदन अभिलाखा, लता निहारि नवहि तरुसाखा,
नदी उमगि अंबुधि पह आई, संगम करहिं तलाव तलाई।'

इससे अधिक यथार्थ और क्या हो सकता है किन्तु कविकी लेखनी मर्यादासे कहीं पतित नहीं हुई। किन्तु इस प्रकारकी सामर्थ्य उसीकी हो सकती है जिसने सत्य की अनुभूति की हो।

सबसे महाकवि ईश्वर स्वयं फल भी रचता है काँटे भी, सुन्दर पुरुष-नारी भी, कुरूप मनुष्य और स्त्री भी किन्तु उन सबके अन्दर प्रकृति-तत्वकी सुन्दरता विद्यमान है। वह जो देख लेता है उसे उनमें सुन्दरता दिखाई पड़ती है।

युरोपमें बालजक और फ्लाबर्टने जिस साहित्यको जन्म दिया है वह हमारे देशके अनुकूल नहीं हैं। हमारे विचारसे वह अश्लील ही कहा जायगा। और अश्लील साहित्यसे समाजका लाभ नहीं हो सकता। साहित्यकार अपनी अनुभूति संसारके सामने रखकर समाज और व्यक्तिके जीवनको सुन्दर बनाना चाहता है।

यदि साहित्य सुन्दर न हुआ तो किसीका हित नहीं हो सकता। तुलसीदासने साहित्यका मानदण्ड यों स्थिर किया है:—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कँह हित होई॥

जिससे सबका हित न हो वही अश्लील साहित्य है। इससे अधिक स्पष्ट, स्थूल तथा व्यापक परिभाषा और होना कठिन है।

यह अवश्य किसी अंशतक ठीक है कि देश और कालके अन्तरसे अश्लीलताकी मान्यतामें अन्तर होता है। मानव सृष्टिके आरम्भमें वह नंगा रहता होगा। इसे दोष कोई न समझता होगा। उसका कारण यह है कि समाजका संगठन नहीं था। आज तो ऐसा नहीं हो सकता। विवाहकी प्रथाके आविष्कारके पहले सेक्सका सम्बन्ध इस नियंत्रणमें नहीं था जो आज है। उस युगमे वह अनैतिक न था। समाजके विकासका यही अर्थ है कि मनुष्य अपनेको अधिकाधिक वंधनमें रखता जा रहा है। इसीका दूसरा नाम सभ्यता है। आज जिसे सभ्य समाज गन्दा समझता है उसीको हम गन्दा समझेंगे। सब भेद होनेपर भी संसारका सभ्य समाज सेक्सकी बातोंको स्पष्ट ढंगसे लिखना या दिखाना अश्लील समझता है। संस्कृत लोगोंमें इस सम्बन्धमें दो मत नहीं हो सकते।

अश्लील रचनाएँ तीन बातोंके लिये की जाती हैं। पैसेके लिये। क्योंकि गँवार और अविकसित बुद्धिके लोग इससे आनन्द उठाते हैं। अपरिपक्व जनतामे इसकी खपत होती है। दूसरे वह लोग जो सस्ते ढंगसे अपना नाम करना चाहते हैं। और तीसरे वह लोग जिनकी बुद्धिमें विकार है जिसे न्यूरोसिस कहते हैं। किसी न किसी प्रकारके न्यूरोसिस बिना साहित्यका जानकार ऐसी रचना नहीं कर सकता।

जबसे फ्रायडने अपने सिद्धान्तोंका प्रचार किया कुछ लोगोंने यह आवश्यक समझा कि अश्लील रचनाएँ करके, सेक्सका खुल्लमखुल्ला वर्णन करके हम समाजका उपकार कर रहे हैं। फ्रायडने कहीं इस प्रकारका आदेश नहीं दिया है। यदि दबी भावनाओंकी अभिव्यक्तिसे कोई रोगी स्वस्थ हो सकता है तो उस रोगीका ऐसा उपचार करना चाहिये। ठीक है। यदि लिखनेवाला अपनी दबी भावनाओंकी अभिव्यंजना करके नीरोग होना चाहता है तो उसे अपनी बातोंको अपनी मित्र-मण्डलीमें कहना चाहिये, या किसी डाक्टरसे जाकर कहें। यदि वह

चाहता है कि मेरी मानसिक ग्रन्थियोंकी उलझन और लोग भी देखें सुनें तो दस-बीस पचास व्यक्तियोंको विशेष रूपसे आमन्त्रित कर सकता है। किन्तु भ्रष्टताका प्रचार करना तो इसी ढंगकी बात हुई कि हम अपने घरका कूड़ा-करकट नगरके चौकमे फेंक दें।

बात भले-बुरेकी भी नहीं है, किस ढंगसे कही जाती है उसपर है। लोग एक तर्क उपस्थित करते हैं कि ब्रजके प्राचीन साहित्यमें भी अश्लील रचनाएँ हैं। अवश्य हैं। उनकी प्रशसा कौन करता है। क्या उनका प्रचार किया जाता है। जो वस्तु अमंगलकारी होगी उसे कौन ठीक कहेगा। भाषा बदल जानेसे कोई साहित्य अच्छा या बुरा नहीं हो जाता।

हिंदीमें इधर कुछ उपन्यास ऐसे निकले हैं जो सभी दृष्टियोंसे अकल्याणकारी है। दो मेरे देखनेमे आये हैं। एक बिहारसे प्रकाशित हुआ है—"घेरे के बाहर" इतनी गदी और रोगी मस्तिष्ककी कृति मुझे दूसरी देखनेमें नहीं आयी। साहित्यकार और शासन दोनों इस सम्बन्धमें मौन हैं। ऐसे समाजके कीट असावधानी और उदासीनतासे पनपते हैं। प्रश्न इसका नहीं है कि उस पुस्तकमें जो घटनाएँ लिखी हैं वह होती है कि नहीं। लेखकका अनुभव होगा। इसलिये उसने लिखा होगा। किन्तु सिवाय पैसा पैदा करनेके और क्या अभिप्राय हासिल हुआ है इस पुस्तकके लिखनेका? साहित्यकी क्या मान्यता इससे स्थिर हुई? क्या समाज सुधार हुआ? विद्यार्थी समाज ऐसी पुस्तके खरीदता है। उनके मनको विकृत करना यदि लेखकका ध्येय हो तो नहीं कहा जा सकता।

दूसरी पुस्तक 'नदी के द्वीप' है। इस पुस्तकसे स्पष्ट होता है कि लेखक 'न्योरोसिस' से पीड़ित है। अपनी विद्वत्ताको उसने व्यभिचारमे परिवर्तित किया है।

लेखकने ऐसे व्यक्तियोंको देखा होगा जैसे उसने इस उपन्यासमें दिखाये हैं। और यदि उसके संगी साथी, ऐसे हैं तो कहना पड़ेगा कि लेखक बहुत ही कुरुचिपूर्ण, और गन्दी तबीयतका व्यक्ति है। यदि उसके पात्र काल्पनिक हैं तो वह कल्पना स्वस्थ दिमागकी नहीं हो सकती।

कुशवाहा कान्तकी पुस्तकोंके सम्बधमें भी मैंने उसी प्रकारकी बातें सुनीं। उनकी पुस्तक मैंने मॅगवाकर पढीं। इनकी पुस्तकोंमें गम्भीरताका अभाव है। उपन्यासकी कलासे उनकी कृतियां विहीन हैं। 'परदेसी'में प्लाट ऐसा है जो शेखचिल्लीकी

कहानी है और वर्णन में जिस भाषाका प्रयोग किया गया है वह स्थल-स्थल पर कुरुचिपूर्ण तथा असभ्यता लिये हुए है।

और भी पुस्तकें होंगी। मैं कह नहीं सकता। किन्तु यह प्रवृत्ति स्वस्थ कला-कारों और साहित्यकारोंको रोकनी चाहिए। किसीसे न बन पड़ा कि ऐसे साहित्यका निर्माण करें कि विश्व साहित्यमें वह स्थान प्राप्त कर सके। किन्तु विकृत मनकी गन्दगी कागजपर उड़ेलनेको लोग तैयार हो जाते हैं। हिन्दीके लिये यह शुभ लक्षण नहीं है।

समाजमें दोष होते हैं। साहित्यका धर्म है कि उन दोषोंको सचाई और सफाईके साथ हटाये। यदि उसकी रचनासे और गन्दगी फैली, नयी बुराई आ गयी तो वह अपना कर्तव्य पालन नहीं करता। मै समझता हूँ ऐसा सब साहित्य अश्लील है जो समाजके किसी वर्गमे गन्दे विचारका प्रसार करता है। ऐसे साहित्यका निर्माण मानवताके लिए घातक है।

———

साहित्यिक इतिहास

रामायण, महाभारत, रघुवंश, पुराण साहित्यिक ग्रंथ हैं किंतु उनमें इति-हासकी थोड़ी-बहुत सामग्री मिलती है। इतिहास उनमें छिप गया है। साहित्यने छोप लिया है। अधिक ठीक यह कहना होगा कि हम लोगोंने ऐतिहासिक घटनाओंका आधार लिया है। वह घटनाएँ कितनी वास्तविक हैं, कितनी काल्पनिक कहना कठिन है। समयने इन्हें इतना धूमिल कर दिया है कि खोज करनेपर भी निश्चित नहीं कहा जा सकता कि क्या बात है। राजतरंगिणी इतिहासकी पुस्तक है। किंतु वह साहित्यिक ढंगसे लिखी गयी है।

यह तो पद्यकी बात हुई। गद्य में जो इतिहास लिखे गये हैं उनकी बात मैं कह रहा हूँ। और हिंदीकी बात कह रहा हूँ। हमारे देशमे अग्रेजीमें कुछ इतिहास लिखे गये हैं। वह अधिकतर पाठ्य पुस्तकें है, चाहे विश्वविद्यालयके लिये हों चाहे छोटी कक्षाओंके लिये। उनमें साहित्यिक शैलीका अभाव है। इतिहासकी दृष्टिसे उनका कितना महत्व है, मैं कहनेका अधिकारी नहीं हूँ। हिंदीमे इतिहासकी पुस्तकें अधिकाश अग्रेजी पुस्तकोंकी नकल या अनुवाद हैं। जयचंद विद्यालंकार ऐसे कुछ विद्वानोंकी पुस्तके हैं जो नकल नहीं है किंतु साहित्यिक छटाका उनमें अभाव है।

इसके दो कारण हैं। हमारी दासताके दिन रहे हैं। जिस रूपमें आजकल इतिहास समझा जाता है उस रूपमें इधर हजार-डेढ़ हजार वर्षोंसे इतिहासकी कोई परंपरा नहीं रही है। संभव है लोगोंने समझा हो अपनी पराजय, अपनी दीनता, अपने अपमानकी कहानी क्या लिखी जाय। अशोकसे लेकर आज तक किसी

भारतीयने ऐसा इतिहास न लिखा जो अच्छे इतिहासकी श्रेणीमें रखा जा सके। साहित्यिक श्रेणीका होना तो दूरकी बात रही।

अंग्रेजीमें ऐसे अनेक इतिहास है जो साहित्यके अनमोल रत्न है। दो-तीनके नाम तो साधारण अंग्रेजी भाषा जाननेवाले भी जानते हैं जैसे गिबन- का 'डिक्लाइन एंड फाल आव रोमन एम्पायर' जिसे अनेक लोग साहित्य और शैलीका आनंद लेने के लिये पढ़ते हैं। इसी प्रकार मेकालेका इंगलैंडका इतिहास। उसका तीसरा भाग तो पहले भारतीय विश्व विद्यालयोंमे अंग्रेजी साहित्य विषय पढ़नेके लिये पाठ्य क्रममें रखा जाता था। इंगलैंडमें भी इतिहासके लिये कम साहित्यके लिये अधिक उसका चुनाव होता है। इसके अतिरिक्त कारलाइल है, अपनी शतीके ट्रेवलियन है,* और अपने सम्मुख सर विन्सटन चरचिल है। अनेक क्षेत्रोंमें चरचिल ने ख्याति प्राप्त की है। उन्होंने 'दूसरे महा युद्धका इतिहास जो लिखा है वह साहित्यिक इतिहासमे महत्व पूर्ण घटना है। और भी लेखकोंके नाम गिनाये जा सकते हैं किंतु हिंदीके पाठकोंको उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता। मेरे कहनेका तात्पर्य केवल यह है कि अंग्रेजीमें इतिहास पर ऐसी पुस्तकें लिखी गयी हैं और लिखी जा रही है जिनकी शैली और कला साहित्यकी देन है। प्रत्येक पढ़ा लिखा पाठक यह जानना नहीं चाहता है कि एलिजावेथने या अकबरने, प्रतापने, हिटलरने कितनी सेना रखी उनका संचालन किस प्रकार होता था, उनकी किन भूलोंके कारण पराजय हुई, किन गुणोंके कारण विजयका सेहरा मिला अथवा उनको वैदेशिक नीति क्या थी। किंतु बहुतसे पढ़े-लिखे ओजस्विनी भाषा, शब्दों तथा वाक्योंका लालित्य, भावोंकी आकर्षक अभिव्यक्ति अवश्य देखना चाहते हैं।

अभी कुछ दिन हुए कांग्रेसका इतिहास लिखा गया है वह अंग्रेजी में। उसमें भी भाषामें और शैलीमे कुछ विशेषता नहीं। केवल नेहरूजीके जीवन चरित और 'डिसकवरी आव इंडिया'मे साहित्यका आनंद आता है। खेद है कि हिंदीमें इनका अनुवाद शैली और भाषाकी दृष्टिसे भ्रष्टताकी सीमाको स्पर्श करता है। भारतीय स्वतंत्रताका इतिहास लिखा जानेवाला है। पहली बात तो यह है कि वह हिंदीमें लिखा जाना चाहिये। यदि जिसके सुपुर्द यह काम किया जाय वह हिंदी

---

* डा० जार्ज मेकाले ट्रेवलियन—क्लायोः ए म्यूज़। इतिहास विषय पर १९१३ में अद्वितीय पुस्तक निकली थी।

नहीं जानता तो जो भारतीय भाषा वह जानता हो उसमें लिखे। अंग्रेजीमें भारतीय स्वतंत्रताका इतिहास लिखना वैसा ही है जैसे यज्ञोपवीतके समय कुरानसे आयत पढ़ना। बाहर वालोंकी सुविधाके लिये उसका अनुवाद अंग्रेजी, अरबी, रूसी, फ्रेंचमें हो जाय दूसरी बात है।

किंतु जिस महत्त्वकी ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ वह है इतिहासकी साहित्यिकता। किसी पाश्चात्य लेखकने लिखा है कि इतिहास विज्ञान और कला दोनों है। इतिहास लिखनेके लिये उसकी वैज्ञानिक शिक्षा और साधना होनी चाहिये। घटनाओंकी तथा तथ्योंकी छान-बीन, उनका संचयन, उनका क्रम-निर्धारण, उनकी व्याख्या, उनकी अभिव्यक्ति सब नहीं कर सकते। यह इतिहासका वैज्ञानिक रूप है। कलाका रूप वह है कि वह इन घटनाओं और तथ्योंको किस भाषामें और किस ढंगसे लिखता है। जब केवल नीरस ढंगसे घटनाओंका क्रम-विस्तार किया जाता हैं, युद्धोंका वर्णन और सेनाओंका संचालन और संधियोंकी सूची मात्र उपस्थित की जाती है तब परीक्षाके लिये पुस्तक भले ही पढ ली जाय, पढ़नेके लिये कोई नहीं पढ़ेगा। इसीलिये इतिहास कभी-कभी सूखी ठठरी, गड़ा मुर्दा और अतीतका रसहीन ठूंठ कहा जाता है। वैज्ञानिक इतिहासकारके साथ-साथ साहित्यिक कलाकारकी भी आवश्यकता है। इतिहास,काव्य भले ही नहीं, काव्यमय तो होना चाहिये। जिनकी रुचि इस ओर हो उनसे मैं प्रार्थना करूंगा कि डा० जे० एच० प्लम्बकी 'स्टडीज़ इन सोशल हिस्ट्री' की और नहीं तो भूमिका पढ़ डाले। जान पड़ता है इतिहास और कविताको घोलकर सुस्वादुरस उसने तैयार किया है।

मै हिंदीके सबंधमे ही कहना चाहता हूँ। मराठीमें कुछ मौलिक इतिहास प्रकाशित हुए हैं। पता नहीं उनकी क्या विशेषता है। हिंदीमें किसीने साहित्यिक इतिहास तैयार करनेकी ओर ध्यान नहीं दिया। अब जब हमारे सामने बहुत सी सामग्री भी है, कुछ खोज भी हो रहा है, इधर लोगोंको ध्यान देना चाहिये। हमारे बीच ऐसे विद्वान भी हैं जो इतिहासके पंडित हैं, जिन्होंने उसका मनन् किया है और हिंदीके भी अच्छे ज्ञाता हैं। उन्हें कलाकार बनकर एकाध ऐसे ग्रन्थका निर्माण करना चाहिये। दो-चार ग्रथ जब सामने आजायँगे तब तो प्रतिभावाले स्वयं इस मैदानमें कूद पड़ेंगे और हमारी बहुत बड़ी कमी पूरी हो जायगी।

हिंदीमे कविता, कहानी, उपन्यासकी भरमार है। साधारण जनताका मनोरंजन इससे होता है, ठीक है। ऐसा साहित्य उपजना चाहिए। किंतु इतिहास हमारे राष्ट्रीय साहित्यका महत्त्वपूर्ण अंग है। दो दृष्टियोंसे यह राष्ट्रीय है। पहले तो

हमारे राष्ट्रका निर्माण-विनाश, उत्थान और पतन इससे ज्ञात होता है। दूसरे हमारे भविष्यको स्फूर्ति प्रदान करनेका साधन रहता है। इसे कलाकी कृति बनानी चाहिए। कला सुंदरताका ही नाम है और सुंदरता आकृष्ट करती है। दो वाक्योंसे मैं अपनी बात स्पष्ट करता हूँ। 'बलिदानसे क्रांतिको शक्ति मिलती है' या बलिदानसे क्रांति पनपती है।' इसीको लिप्सनने लिखा, 'क्रांतिका बीज शहीदोंके रक्तसे सींचा जाता है।'* किस कथनमें कितना बल है यह पाठकको बतानेकी आवश्यकता नहीं है। यह तो एक यों ही वाक्य है। पुस्तककी पुस्तक अच्छे इतिहासकारोंकी ऐसी भाषासे भरी है। अंग्रेजीका अच्छा इतिहास ले लीजिये और आप उसकी भाषाके लालित्यमे डूब जाते हैं।

थोड़ा भी रुचिवाला जानता है कि घटनाओंकी सूची, युद्धोंका वर्णन, संधियोंका संकलन अथवा शासकोंके चरित्रका उत्थान-पतन इतिहास नहीं है। इतिहासमें महत्त्व व्याख्याका है। इसके लिये अन्तरदृष्टिकी आवश्यकता है। जब वह व्याख्या दार्शनिकता तथा साहित्यिकताके मेलसे स्पष्ट की जाती है तब इतिहास इतिहास बनता है। तब वह पुस्तक विश्वविद्यालयके अध्यापकसे लेकर साधारण पाठक तक पढ़ता है। और उसे वह सुस्वादु जान पड़ती है।

सच पूछिये तो इतिहास लिखनेका प्रयत्न नहीं हुआ है। अब समय आया है। इतिहासके विद्वानोंको हिंदीमें सुंदर इतिहास उपस्थित करना चाहिए जिन्हें पढ़कर लोग साहित्यका आनंद उठा सकें। और वह साहित्यकी निधि समझी जायँ। महान लेखकोंको अपनी पुस्तक अंग्रेजीमें लिखनेका लालच होता है कि हमारी पुस्तक देश-विदेशके लोग पढ़ें। किंतु यदि पुस्तकमे महत्ता है तो दूसरी भाषावाले अवश्य ही उसका अनुवाद करेंगे। और अब हमारा देश उस स्थानपर पहुँच गया है जब हमारी मूल्यवान कृतियोंको दूसरी भाषावाले अपनी भाषामें अनुवाद करना अपना गौरव समझेंगे।

[१९५६

---

* 'The seed of Revolution is watered by the blood of Martyrs.' Nineteenth Century.

विदेशी कहानीका विकास

कहानी बहुत पुरानी कला है, यह सब लोग पढ़ते आये हैं। मानव पहले सभ्यताके उस स्तरमें रहता था जब वह घूम-घाम कर शिकार खेलता था, नदीमें मछली पकड़ता था। जब वह और मनुष्योंके साथ रहने लगा तब वह इन साहसिक कार्योंसे लौटनेपर विवरण सुनाता था। यही हमारा पहला कहानीकार था। धीरे-धीरे उसने उस विवरण पर रंग चढ़ाना आरम्भ किया होगा और यहींसे कल्पनाकी उपज हुई होगी।

फिर जो कहानियाँ संसारमें आईं वह उस युगकी हैं जब प्रेम और युद्ध, साहस और रोमांसकी मिली-जुली कथाएँ काव्यके रूपमें रची गयीं। इनमें कितना अंश सत्य है कितनी कविकी कल्पना, कहा नहीं जा सकता। रामायणमें राम और रावणकी कथाके साथ कितनी और कथाएँ मिल गईं, आज किसी प्रकारकी छान-बीन नहीं बता सकती। किन्तु इस समय इसपर कुछ कहना हमारा ध्येय नहीं है। केवल यह बताना है कि कहानीकी शृंखलामें यह भी एक कड़ी है।

इसके पश्चात कहानीका रूप जो संसारके सामने आया वह विचित्र है। अनेक देशोंमें वह ढंग फैला। निश्चय ही वह किसी एक देशके किसी विद्वानके दिमागकी उपज थी। कौन देश वह था इसका पता लग सकता है। वह देश भारत था या अरब। वह है कादंबरीकी शैली। एक कथाके अन्दर दूसरी कथा। हमारे देशमें इस प्रकारकी अनेक कथाएँ हैं। एक कहानी कही गयी वह पूरी होने नहीं पायी उसके अन्दर दूसरी कहानी आरम्भ हुई, फिर उसके

भीतर तीसरी और इसी प्रकार शृंखला बनती चली गयी। पंचतन्त्र भी इसी प्रकारकी पुस्तक है। अलिफ लैला, जो किसी अरबी विद्वानकी लिखी हैं बोकेशियोका 'डिकैमेरान,' चासरका 'कैंटरबरी टेल्स' इसी प्रकारकी रचनाएँ हैं। इन्हें उपन्यास नहीं कहा जा सकता। यह कहानियोंकी मालाएँ हैं। प्रत्येक कहानी अपनेमें स्वतन्त्र हैं। हिंदीमे 'मधु मालती' इसी ढंगकी है। संस्कृतमें अनेक हैं जिनका अनुवाद हो चुका है।

इसके पश्चात कथाका जो रूप साहित्यमें आया वह उपन्यास है। नाटक इससे पहलेका अवश्य है किंतु उसे कथा साहित्यसे अलग मानते आये हैं इसलिये यहाँ उसका विचार करना अप्रासंगिक होगा।

कहानी युरोपमे उन्नीसवीं शतीकी देन है। औद्योगिक विकासके कारण मनुष्यको समयकी कमी होने लगी। सब लोगोंके पास इतना अवकाश नहीं था कि बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ें। कथा-कहानी मनोरंजनके लिये पढ़ी जाती है। साधारण मनुष्य मनोरंजनमे बहुत समय नहीं बिता सकता। कल-कारखाने से छुट्टी मिली कुछ इधर–उधर भी समय बिताया जा सकता है। दस बीस मिनट इसके लिये वह दे सकता है। इसीलिये कहानीका एक लक्षण यह भी बताया जाता है जो एक 'बैठकी' में पढ़ी जा सके।

दूसरी बात जो कहानियोंके विकासमे सहायक हुई वह थीं पत्रिकाएँ। जैसे निबन्धोंके विकासमें पत्र-पत्रिकाओंका हाथ रहा है उसी प्रकार कहानियों कीं प्रगतिमें भी। निबन्ध पत्रोंसे आरम्भ नहीं हुए। किंतु स्वस्थ और सुंदर निबन्ध पत्रिकाओं द्वारा ही प्रकट हुए। इंगलैंड, अमरीका, रूस, फ्रांस, भारत सभी जगह पत्र-पत्रिकाओंसे ही कहानी लेखनको उत्तेजना मिली है।

विदेशी साहित्यमें अभी तक कोई ऐसा ग्रंथ नहीं लिखा गया है जो यह बता सके कि यूरोपमे पहले-पहल कहानी किसने लिखी जैसे हिंदीमे लोग किशोरीलाल गोस्वामी या बङ्ग महिलाको बता देते हैं। प्रत्येक देशकी भिन्न परिस्थिति है और उन्हींके विचारसे वहाँ कहानियाँ लिखी गयीं।

आजकल कहानीके जो लक्षण हैं उनके अनुसार भी पंचतन्त्रकी कुछ कहानियाँ, वैतालपचीसीकी कुछ कहानियाँ ठीक कहानियाँ हैं। बाइबिल-के न्यु टेस्टामेंटकी भी कुछ कहानियाँ ठीक 'शार्ट स्टोरी' हैं। इसलिये यह कहा जा सकता है कि 'कहानी'का अस्तित्व पुराने समयसे रहा है यद्यपि

लिखने वालेको यह ज्ञान नहीं रहा कि मैं साहित्यकी वही वस्तु रच रहा हूँ जिसे लोग कहानी कहेंगे।

अंग्रेजीमें कहानी लिखनेका इतिहास बहुत मनोरंजक है। वाशिंगटन आरविंग इंगलैंड आये हुए थे। लौटनेके लिए पैसे पास नहीं थे और उन्होंने कुछ नये ढंगसे ऐसी रचना करनी चाही जिससे और लोगोंका मन आकृष्ट हो। वह स्टील और एडिसनकी भाँति घटनाएँ और उसपर टिप्पणी नहीं लिखना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने अपनी पुस्तकका नाम 'स्केच' बुक रक्खा। उन कहानियों में रेखाएँ थीं। वह उपन्यास नहीं कही जा सकती थीं। इस प्रकार कहानीका जन्म हुआ। अभी तक अंग्रेजीमें स्काट और बायरनकी रोमांटिक कहानियाँ लोगोंको पढनेको मिलती रहीं। अरविंगने नयी चीज दी।

अरविंगके बादके कहानीकार नथानियल हथार्न थे। इन्होंने अपने ढंगकी कहानियाँ लिखीं जिनकी प्रशंसा भी हुई। इनकी शैलीमें सौष्ठव था। यह कहा जा सकता है कि इन्होंने शैलीको मांजा। इनकी विशेषता यह थी कि किसी परि-स्थितिको तीव्र बना देते थे।

इसके पश्चात एडगर एलेन पोने कहानियोंको कलाका परिष्कृत रूप प्रदान किया। कहानी-कलाके यह पहले आचार्य अंग्रेजी भाषाके कहे जा सकते हैं। इनके हाथमें कल्पनाको वह रूप मिला जो उस समय तक किसीको नहीं मिला था। इनका ध्येय 'कला कलाके लिये' ही था। कोई नैतिक आदर्श उपस्थित करना इनकी मनशा नहीं थी। मौलिकता, लघुता, विस्मय, संक्षेप इनकी कहानी की विशेषताएँ हैं। इनके समयमें पत्र-पत्रिकाओंमें कहानियाँ छपती थीं किन्तु लेखकोंको पुरस्कार नहीं मिलता था। किन्तु एक प्रथा अमरीकामें थी कि पत्रिकाएँ वर्षमें एक विशेषांक निकालती थीं। उसके लेखकोंको पुरस्कार मिल सकता था। उसीसे पोने कहानी आरंभ की। वह बादमें स्वयं पत्रोंका सम्पादक रहा और इस प्रकार उसने प्राय सभी कहानियाँ पाठकोंकी रुचिके अनुसार लिखीं।

पोके बाद ओ० हेनरी भी अच्छे कहानी लेखक हुए। इनका असली नाम था सिडनी पोर्टर। यह बहुत लोकप्रिय कहानी लेखक हुए। लाखोंकी प्रतियोंमें इनकी पुस्तकें बिकती थीं। इन्होंने कहानी लिखनेके ढंगमें नवीनता तथा विचित्रता उत्पन्न की। विस्मय और चमत्कार दिखाना ही जान पड़ता है इनका ध्येय था। और परिहासका पुट देकर पाठकको चकित करनेका प्रयत्न यह करते थे। इनकी

शिल्पकला, विषयकी ओर ध्यान देनेकी रुचि नहीं थी। अभिव्यक्तिका ढंग ही इनकी शिल्पकलाकी विशेषता थी। किन्तु कुछ ही दिनोंमें इनका प्रभाव घटने लगा। १६३० से अमेरिकामें कहानीका रंग पलटा और यथार्थकी ओर लेखकोंकी दृष्टि गयी।

आज अमेरिकामें कहानी लिखना अच्छा व्यवसाय होगया है। इसकी वैज्ञानिक शिक्षा दी जाती है। लेखकोंको अच्छा पुरस्कार मिलता है। और बीसवीं शतीमें कहानीका जितना चलन अमेरिकामें है, कहीं नहीं है। लेखक भी बहुत हैं।

वर्तमान कहानीकारकी परिभाषामें आनेवाले पहले व्यक्ति टाल्सटाय हैं, जिनकी कहानीका कुछ महत्व है। उनकी कहानियाँ, जैसा सभी जानते हैं नैतिक आदर्शके प्रचारके लिये होती थीं। लेखक विशेष ध्येयको समझानेके लिये कहानी लिखता था। किन्तु इनके बाद फ्रांसमें मोपासाने कहानीको निखरे हुए कलाका रूप दिया। जहाँतक शिल्पीका स्थान है मोपासांसे बढ़कर कोई अभीतक नहीं हुआ। मोपासांकी कहानियोंमें जीवनकी आलोचना है। जीवनके सभी पहलुओंको नंगा करके वह सामने रखता है। उसमें और फ्रांसके सभी पुराने कहानीकारोंमें, अनातोले फ्रांसतक में निराशाकी झलक विद्यमान है। यह भावना इस शतीके आरंभतक, पहले युद्धतक चली आयी है। यह सब होते हुए मोपासां कहानी कलाका सर्वश्रेष्ठ आचार्य है।

इसी समय रूसमें एन्टन चेखाफने कहानियाँ आरंभ कीं। जहाँतक कलाका संबंध है, वह उत्कृष्ट कहानी लेखक थे। वह आभ्यांतरिक दृष्टिसे कथा-वस्तुकी कल्पना नहीं करते थे। जीवनका एक अंश ले लेते थे। घटना सरल और अमिश्रित होती थी। चेखाफका प्रभाव बहुत कहानी लेखकोंपर पड़ा और इनकी शैलीका अनेक सफल कहानीकारोंने अनुकरण किया है।

पहले युद्धके पश्चात् रूसमें कहानी लेखकोंकी कल्पनामें परिवर्तन हुआ और क्रांतिके पश्चात् तो कहानीकी धारा ही बदल गयी। आजकी कहानियोंमें वहाँ स्पष्टतः दो बातें दिखायी पड़ती हैं। पहली बात है साम्यवादका प्रचार। कुछ कहानी लेखक इस सिद्धान्तका इस प्रकार प्रचार करते हैं कि भोंडापन दिखायी पड़ता है। कुछ लोग अपनी कहानियोंमें रूसकी महत्ता, देशके तथा संस्थाओं के प्रति अनुराग दिखाते हैं। ऐसी कहानियाँ सुन्दर हैं। ऐसी भी कहानियाँ हैं

जिनमें युद्धमे रूसियोंकी कठिनाइयाँ, इनपर आयी विपत्ति और कैसे इन्होंने उनका सामना किया, दिखायी गयी है। प्रचारवादी कहानियोंको छोड़कर कहानी कलाका रूसमे अच्छा विकास हुआ है।

इंगलैडमें वास्तविक कहानी कला किपलिंगसे आरंभ होती है। हम किपलिंगके विचारोंसे नहीं सहमत हो सकते। वह साम्राज्यवादी था और उसका जीवनदर्शन भी आजके अनुकूल नहीं। किन्तु उसकी शिल्प-कला अवश्य ही उच्चकोटिकी थी। उसकी शिल्पकलाका प्रभाव अनेक लेखकोंपर पड़ा यों कहा जाय तो उचित होगा। अमेरिकामें नब्बे प्रतिशत कहानीकार ओ० हेनरीके अनुगामी है और ओ० हेनरीको स्फूर्ति किपलिंगसे मिली है। जेम्स ज्वायसने भी विशिष्ट ढंगकी कहानियाँ लिखी हैं। उनकी निजी शिल्पकला है। आजके लेखक किपलिंगकी शिल्पकला नहीं पसन्द करते। इस समय अंग्रेजी भाषामें अनेक अच्छे कहानी लेखक हैं। न्यूजीलैंडकी इंगलैड प्रवासिनी श्रीमती कैथरीन मैन्सफील्ड, एलिजाबेथ बोवेन, अमेरिकाके प्रसिद्ध लेखक अरनेस्ट हेमिंगवे जो अब हवाई द्वीपमे रहते हैं समरसेट माम, तथा जान स्टाइनबैक सुन्दर कहानियाँ लिखते हैं।

और देशोंमें कहानीका विकास इतना नहीं होने पाया है जितना रूस और अमेरिकामें और फिर इंगलैंडमे। इटलीके लूई जी पिरांडेलो अच्छी कहानी लिख गये हैं। जरमनीमें भी पहले कुछ कहानियाँ लिखी गयी हैं। ग्रिम भाइयोंकी कहानियाँ अपने ढंगकी अकेली हैं। बालक-युवक वृद्ध सभीको पसन्द आती हैं किन्तु नये युगकी कहानियाँ जरमनीमे कम निकली हैं। दोनों युद्धोंके कारण वहाँ यह नया-साहित्य पनप न पाया।

डेनमार्कके हैन्स एन्डरसनकी कहानियाँ विचित्रता लिये हुए उन्नीसवीं शतीके आरम्भमे आयीं। मनोरञ्जनकी दृष्टिसे वह भी अनुपमेय हैं।

बीसवीं शतीमे आस्ट्रियाके स्टिफेन ज्वाइगने भी मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। करुणाकी चित्रकारीके यह सम्राट हैं। करुणरसकी अभिव्यक्ति अनेक ढङ्गोंसे इन्होंने की है।

हम लोगोंके सम्मुख कठिनाई भी है। युरोपकी कहानियाँ या अन्य देशोंकी कहानियाँ जबतक अनुवाद होकर न आयें हम लोग नहीं जानते। इसीलिये उचित मूल्यांकनमे अड़चन पड़ती है।

किन्तु इतना निशंक कहा जा सकता है कि इस समय रूस तथा अमरीका-में कहानी धड़ल्लेसे लिखी जा रही हैं। उनमें अच्छी रचनाएँ भी निकलती हैं। सबका श्रेय पत्रिकाओंको है।

भारतमें बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, उर्दू में कहानियाँ परिपक्व रूपसे निकल रही हैं। बंगलामे राय बाबूकी अनेक कहानियाँ उच्चकोटिकी है। आज ताराशंकर बैनरजी, वनफूल, परिमल गोस्वामी तथा और भी अनेक सुंदर कहानी-कार हैं। गुजरातीमें रमणलाल बसंतलालकी कहानियाँ हमने देखी हैं। वह कलाकी उदाहरण हैं। मराठी तथा गुजराती कहानियोंपर कुछ कहनेकी क्षमता नहीं है। वह हम पढ़ नहीं पाये है। तमिलमे राजाजीकी कहानियाँ पढ़ी हैं। वह भी कहानी लिखनेकी कलामें पारंगत हैं और उनके शिल्पकी निजी विशेषता है। उर्दूमें मंटो और किशन चंदरकी कहानियाँ हमें अच्छी लगी। उर्दू कहानीकार कभी-कभी प्रचारवादी बन जाते हैं, और उनकी कहानियोंसे विशेष राजनीतिक संप्रदायकी गंध आती है। किन्तु इनकी कलामें विशेषता है।

जासूसी, वैज्ञानिक कहानियोंकी विदेशोंमें अब बाढ़ आ गयी है। दो-एक अपवादको छोड़कर यह कहानियाँ अभी साहित्यिक कसौटीपर खरी नहीं उतरीं। परिहास और विनोदात्मक कहानियाँ भी कभी-कभी अच्छी निकलतीं हैं। इंगलैंडका पंच, अमेरिकाका न्यू यार्कर, रूसका क्रोकोडायल इस प्रकारके साहित्यकी पूर्ति कर रहा है। इंगलैंड तथा अमेरिकामे पहले भी विनोदात्मक अच्छी कहानियाँ निकली हैं।

[१९५६

विनोद-विमर्श

हँसी आती है सबको, किन्तु क्यों आती है इसका विश्लेषण प्राचीनकाल में किसीने नहीं किया। हमारे देशमें रसोंका वर्णन और उसका निरूपण पहले भरतने किया। किन्तु हास्यका कारण क्या है, इसपर किसीने ध्यान देनेका कष्ट नहीं उठाया। विचित्रताकी बात है कि शिशुकी मधुर मुस्कान, यौवनका उल्लास-पूर्ण अट्टहास, जरावस्थाकी निग्रहीत हँसी अनन्त-कालसे लोग देखते चले आए हैं किन्तु उसका दार्शनिक विवेचन पहले नहीं हुआ। केवल इतनेपर ही सन्तोष कर लिया गया कि इतने प्रकारकी हँसी होती है। इसके आलम्बन, युगके-अनुसार अमुक होते हैं, इन वस्तुओंसे इसे उद्दीपन मिलता है। आश्चर्यकी बात है कि व्यक्ति तथा समाजके सूक्ष्मसे सूक्ष्म कृत्योंपर विचार करनेवाले महान विद्वानोंने भी इसकी समीक्षा नहीं की।

विदेशोंमें पहले पहल फ्रेंच दार्शनिक वर्गसोंने नियमित तथा वैज्ञानिक रूपसे विचार किया। इसके पहले जो कुछ भी विचार इंगलैंड तथा दूसरे देशोंमें हुआ वह अव्यवस्थित ढंगसे चलता सा था। इसके पश्चात् क्रोचे तथा और भी सौन्दर्य विज्ञानके (ऐस्थेटिक्स) पंडितोंने इसकी मीमांसा की है।

इस बातसे तो सभी सहमत है कि किसी बातमें, वस्तुमें चरित्रमें, कोई बात उपहास्य हो, हास्यकर हो तभी हँसी आती है। किन्तु इस बातपर सब लोगोंका मतैक्य न होगा कि अमुक प्रकारकी बात अथवा अमुक ढंगका चलन हास्यकर है। मान लीजिये किसीसे पूछा जाय 'आनन्द सदैव कहाँ पाया जाता है' और कोई व्यक्ति उत्तर दे—'कोशमें' कुछ लोग इसपर नहीं हँसेंगे और कुछ लोगोंके अधर

खुल जायेंगे। कोश शब्दमें विनोद नहीं है, सैकड़ों बार आपने देखा होगा किन्तु हँसी तो नहीं आती। इसलिये हँसीके लिये पहली आवश्यक बात परिस्थिति है। सिगरेट पीते सबको लोग देखते हैं। सिगरेट भी दुकानोंपर ढेरके ढेर रखे दीखते हैं। किन्तु यदि घोड़ेको सिगरेट पीते आप देखें तो हँसी आ जायगी। एक बात और सोचनेकी है। अभी एक पत्रमें 'डाक्टर सुदर्शन लाल दर्शनके अध्यापक होंगे' के स्थानपर छप गया डाकू सुदर्शन लाल अध्यापक होंगे। पढ़नेवालेको हँसी आई होगी। क्यों हँसी आई? डाकू उपहास्य प्राणी नहीं भयद भले ही हो। हँसी आनेका कारण हमारी मनः स्थिति है। इसी प्रकार कोई कविता लीजिये। हास्य रसकी दो पंक्तियाँ हैं:—

"अभिलाषा यह है प्रिये मरनेके पश्चात्,
तुम डाईन, हम भूत बन, लूका खेलैं रात"

इसके प्रत्येक शब्दपर विचार कीजिये। मरण, डाईन, भूत, लूका, हँसीकी वस्तुएँ नहीं हैं। शायद भयानक रस हीका उद्रेक करनेवाली हैं। तब हँसी आनेका क्या कारण है? हँसी सुननेवालेकी बुद्धिमें, मनमे होती है, किसी वस्तुमें नहीं। यह हँसीका दूसरा कारण है। शेक्सपीयरने लिखा है "विनोदकी सफलता सुननेवालोंके कानमें है, कहनेवालोंकी जिह्वापर नहीं।"[1] शेक्सपीयर आलोचक नहीं था फिर भी उसकी प्रतिभाने जो कहला दिया वह जन्म-मृत्युकी भाँति सत्य है।

एक दृष्टान्त आवश्यक है। कहा जाता है कि एक विश्वविद्यालयके हिंदी विभागको एक बहुत धनी सेठ देखने गये। वहाँ पहुँचते ही अध्यक्षने परिचय कराया आप डाक्टर 'क' हैं, आप डाक्टर 'ख' हैं, आप डाक्टर 'ग' हैं—इत्यादि, कई बार सुननेपर उन्होंने अपने विवक्ति मंत्रीकी ओर देखा और कहा—"मैंने विश्वविद्यालय चलनेको कहा था आप अस्पतालमें क्यों लाये?" यह घटना सुननेपर उन अध्यापकोंको छोड़कर जिनपर यह बीती होगी सभी हँसेंगे। क्यों? असंगतिके कारण। जो वस्तु जिस स्थानपर होनी चाहिये, वहाँ न होकर अनुपयुक्त स्थानपर हो जाये तो देखनेवाला हँसे बिना नहीं रह सकता। असंगति तीसरा गुण है जो हास्यके लिये आवश्यक है। जितनी हास्यकी सामग्री है, कहानी, कविता, या नाटकके पात्र, यदि वह साधारण व्यक्तियोंकी भाँति आचरण करते हैं

---

1. Jests prosperity lies in the ear of him that hears, never in the tongue of him that makes it.

तो हास्यकर नहीं हैं। साधारण रेखा से परे कोई जाता है तभी हास्यास्पद बनता है वह अनायास हो अथवा जानबूझकर। एक प्रोफेसरके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह सब कार्य वैज्ञानिक ढङ्गसे करते थे। उनका नौकर एक दिन छुट्टीपर था। उन्हें प्रात काल जलपानके लिए अंडा उबालना था। वह किसी विचारमें निमग्न थे। उन्होंने घड़ी पानीमें डाल़दी उबलनेके लिए और हाथमें अंडा लेकर देखने लगे समय। इस ढङ्गकी एक कविता भी कभी पढ़ी थी कि कृष्णजी राधिकाको देखकर इतने आत्म विस्मृत हो गये कि गायका थन अलग हट गया और राधिकाकी उँगली पकड़कर दोनों हाथोंसे दूहने लगे। भक्तोंको इसमें जो आनन्द आये किन्तु है यह असंगत बात और हँसी आये बिना नहीं रह सकती।

एक बात और हास्यके लिये आवश्यक है जिसके बिना और बातें निरर्थक हो जाती हैं। तीक्ष्णमति अथवा तीव्र बुद्धि हास्य समझनेके लिए आवश्यक है। जितना ही बढ़िया हास्य होगा उसे समझनेके लिए उतनी ही विचक्षणता आवश्यक है। साहित्यिक विनोदकी बात तो अलग है। उसके लिये तो अनेक प्रकारके ज्ञानकी भी आवश्यकता है किन्तु साधारणत. विनोद समझनेके लिए भी बुद्धिकी आवश्यकता है। विनोदप्रियता जिसे अंग्रेजीमें 'sense of humour' कहते हैं सब लोगोंके पास नहीं होता। यह अभ्याससे नहीं आती। इसका संस्कार जन्मजात होता है। अभ्यासवाली विनोदप्रियता कृत्रिम होती है और ठीक वैसी ही मालूम पड़ती है जैसे मेज़पर कागजके फूल।

[१९५०

पुस्तकालय-संचालन

[यह भाषण राजेन्द्र पुस्तकालय-छपराके द्वितीय वार्षिक अधिवेशनपर सभापतिपदसे दिया गया था।]

केवल शिष्टताके नाते ही नहीं, मैं अपने मनकी सच्ची बात आपसे कहता हूँ, कि आजके आयोजनके लिये मुझे सभापति बनाकर अपने प्रति आपने अन्याय किया है। सभापति, और एक पुस्तकालयका सभापति, मेरे लिये वैसा ही है जैसे कोहक़ाफ़की परीके लिये अबिसीनियासे दूल्हा खोज लाइये। मैंने तो आपको जुल दे दिया होता, कवि-सम्मेलनोंने मुझे यह कला सिखा दी है; किन्तु अपने पुराने मित्र कृपालु भाई शिवपूजनजीकी आज्ञा टालना मेरे बूतेकी बात नहीं थी। और पुराने मित्र मनोरंजन जी, द्विजजीके शरबते-दीदारकी पिपासा भी थी। आपने जो सम्मान प्रदान किया है उसका मैं आभारी हूँ।

अमरीकाके एक विद्वानने एक बार कहा है कि किसी देशकी सभ्यता नापनी हो तो यह देखो कि उस देशमें साबुनकी खपत कितनी होती है। इस आदर्शसे तो अभी अपना देश सम्भवतः सभ्यताकी सीढ़ीसे बहुत ही नीचे रहेगा। यद्यपि पेयर्स और अनेक विदेशी साबुनोंके अभावकी पूर्ति गोदरेज, हमाम और कांति कर रहे हैं, फिर भी हमारी करोड़ों बहनें बेसन और झाँवाकी ही प्रेमिका हैं और कितने भाई साबुनको उतना ही जानते हैं जितना अमरी साहब[1] वेद को।

१—तत्कालीन बृटेनके भारतमंत्री

हमारे देशमें तो सभ्यता गुणोंसे नापी जाती रही है और विद्याका गुण जिसे अच्छे प्रकार बाँध ले वही सभ्य माना जाता रहा है। यही कारण है कि ब्राह्मण समाजमें पूज्य और विचारोंका नेतृत्व करता था। आज भी यद्यपि लक्ष्मीकी चमकसे लोगोंके नेत्र चकाचौंधमें पड़ गये हैं, फिर भी सरस्वतीके उपासक अपनी सत्ता पर अटल हैं और हम आशा करते हैं कि ऐसे ही वे डटे रहेंगे।

विद्याके प्रसारके लिये, अध्ययनके लिये तथा खोजके लिये पुस्तकालयसे बढ़ कर कोई साधन नहीं है। यद्यपि प्राचीन भारतके पुस्तकालयोंका इतिहास हमारे पास नहीं है, श्रुतियोंका आधार ही हमारे विद्या-प्रसारका साधन रहा, फिर भी इधर नालन्दाके पुस्तकालयकी कहानी तो सभी लोगोंने सुनी है और उसके विध्वंसके लिये आजतक हम दुःख मानते हैं। श्री लाइच विलसन, एम० ए०, आई० ई० एस०ने, जो कभी भारत-सरकारके शिक्षा-कमिश्नर थे, हर्षके बृहत् पुस्तकालयका वर्णन किया है। मुसलमान शासक तो विद्याप्रेमी थे ही और उनके कुतुबखानोंकी कथा हम इतिहासमें पढ़ते हैं। कैसी सुन्दर-सुन्दर लिपियाँ, फूल-पत्तोंदार किनारे, चमकती हुई चित्रकारी तो हमारे मनको अब भी लुभा लेती है। अब उन पुस्तकालयोंके लिये हम लघुकौमुदीका सूत्र 'अदर्शनं लोपः' ही कह सकते हैं।

जबसे छापेका आविष्कार हुआ और पुस्तकें धड़ाधड़ छपने लगीं, पुस्तकालय भी बढने लगे। यद्यपि देशप्रेमको कुछ धक्कासा लगता है किन्तु यह माननेको हम बाध्य होते हैं कि सार्वजनिक पुस्तकालय अंगरेजी शासनके बाद ही आया है। निजी पुस्तकालय तो सभी देशोंमें रहे हैं और धनीलोग पुस्तकोंका संग्रह करते ही रहे हैं। हमारे रजवाड़ोंके पास भी बड़े सुन्दर-सुन्दर संग्रह हैं, और जिनकी विद्याकी ओर रुचि है उन्होंने बहुत-कुछ उन्नति की है। हमारे देशके बड़ौदाके महाराजने पुस्तकालयका ऐसा संगठन कर रक्खा है और वह ऐसी सफल योजना बनाकर कार्यान्वित कर रहे हैं जिससे दूसरे देश भी सीख सकते हैं।

पश्चिमी देशोंसे हम बहुत-सी बातोंमें तुलना कर सकते हैं। वहाँ भी बड़े-बड़े विद्वान हैं, यहाँ भी। यहाँ यदि मूर्ख हैं तो वहाँ भी उन्हें खोजनेके लिये बिजलीके टार्चकी आवश्यकता नहीं होगी। वीरतामे, त्यागमें, बलिदानमें, दासताके कारण हमारा पल्ला यदि भारी नहीं होगा तो उठेगा भी नहीं। परन्तु पुस्तकालयोंमें हम युरोपके पीछे हैं। अन्य देशोंकी अपेक्षा इङ्गलैंड भी अभी पीछे है। यद्यपि इङ्गलैंडमें बिबलियाथेक नेशनाल-सा कोई पुस्तकालय

नहीं है जिसमें ४० लाख पुस्तकें हैं, फिर भी बृटिश म्यूजियम उसके बाद ही है। अमरीकाका कांग्रेस-पुस्तकालय, इम्पीरियल पुस्तकालय बहुत बड़े पुस्तकालय हैं।

हमारे यहाँ पुस्तकालय नहीं हैं सो बात नहीं है। इम्पीरियल पुस्तकालय,* एशियाटिक सोसाइटीका पुस्तकालय बहुत बड़े पुस्तकालय है। प्रायः सभी विश्व-विद्यालयोंके पास अच्छा पुस्तकालय है। सभी नगरोंमें एक आध अच्छा पुस्तकालय है। आपका खुदाबख्श पुस्तकालय तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पा चुका है। हिन्दी-पुस्तकोंके संग्रहके लिये नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) भी भारतमें विख्यात है।

परन्तु पुस्तकालयोंकी संख्या पर्याप्त नहीं है, इससे सब लोग सहमत होंगे। विद्याका प्रचार बढ़ रहा है, विद्याका व्यसन भी बढ़ रहा है। इस बीसवीं सदीमें जहाँ प्रेस सस्ता हो गया है, कागज सस्ता हो गया है—युद्धके समयकी बात छोड़ दीजिये—वहाँ दो-तीन वस्तुएँ बाढ़पर हैं, कवि और पुस्तकें; प्रेम और प्रेमी; नेता और भाषण। कविता पढ़नेवाले कम हैं, कवि अधिक हैं। पुस्तकोंके सम्बन्धमें अभी हम यह बात नहीं कह सकते। और, पुस्तकालयोंके सम्बन्धमें तो और भी यह बात नहीं है। कोई नगर ऐसा न होना चाहिये जहाँ एक अच्छा पुस्तकालय न हो। पढ़ने-लिखनेसे कोई लाभ नहीं जब हमें उसके पश्चात् जो कुछ पढ़ा-लिखा है उसे माँजनेका कोई साधन नहीं है। फिर हमारे देशमें, जहाँ धन तो बहुत है—परन्तु केवल सरकारी करेन्सी आफिसमें, वहाँ तो पुस्तकालय बिना काम चल नहीं सकता। निर्धन लोगोंमें अथवा जिनकी आय इतनी भी नहीं होती कि श्रीमती जीकी जम्परोंकी माँग भी यथेष्ट रूपसे पूरी की जाय उनमें भी कुछ लोग तो ऐसे निकल ही आयेंगे जिन्हें पुस्तकोंकी ओर कुछ रुचि होगी। आजकलका महिला-समाज शिक्षाकी ओर विशेषरूपसे अग्रसर है। भोजन पकाने और घर-गृहस्थीके कामसे कुछ छुट्टी मिलनेपर उपन्यास या कहानी-संग्रह तो चाहिये ही। यहाँ भी सबके पास इतना धन नहीं, न सब सम्पादक हैं कि समालोचनाके लिये दो-दो पुस्तकें आती हैं, न सबके घरमें लेखक होते हैं कि साहित्यकार अदले-बदले या भेंटमें पुस्तकें अर्पण कर दें। ऐसे लोग कहाँ जाँय। इनका अशणशरण तो पुस्तकालय ही है।

फिर ऐसे भी सरकारी नौकर तथा शिक्षक-वर्ग मिलेंगे जो नौकरी छोड़नेके

---

* अब नेशनल पुस्तकालय

पश्चात् यमराजके दूतोंके आनेके पहले अपना समय वह कार्य्य करनेमें बिताते हैं जो उन्होंने जीवन भर नहीं किया। अर्थात् वह यह जानना चाहते हैं कि ईश्वरका घर कहाँ है और उपनिषदोंमें क्या लिखा है। सोचते हैं, पता नहीं, कब पासपोर्ट आ जाय, पुस्तक कौन खरीदे। ऐसे लोगोंके लिये भी पुस्तकालय ही आश्रय-दाता है।

साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा ज्ञानसम्बन्धी खोज करने वालोंके लिये तो पुस्तकालय अनिवार्य है ही। यदि आधुनिक सभ्यताके लिये फाउंटेनपेन, टाइपराइटर, कलाईकी घड़ी, टार्च, स्नो और क्रूशेन साल्ट, सिनेमा और चाय आवश्यक हैं तो पुस्तकालय तो अनिवार्य है।

मैं आपलोगोंको पुस्तकालयकी उपयोगितापर कोई भाषण सुनाना नहीं चाहता था; परन्तु पुस्तकालयके वार्षिक अधिवेशनपर कुछ इसी सम्बन्धकी चर्चा आवश्यक थी। उपयोगिता आपने न समझी होती तो पुस्तकालय स्थापित ही क्यों करते?

एक बात इस सम्बन्धमें आपकी आज्ञासे और कह देना चाहता हूँ। पुस्तकालय एक दिनमें नहीं बनता। यह कोई प्रेमका घाव नहीं है कि आँखें चार हुईं और तीर लगा और आप वेदनाके गीत गाने लगे और अपनी वेदना अखबारों द्वारा दूसरोंको भी सुनाने लगे। पुस्तकालय तो वृक्षके समान धीरे-धीरे और क्रमशः बढ़ता है। आपने स्वयं गत वर्ष बताया था कि दोसे बढ़कर पाँच सौ पुस्तकें हुईं। बड़ेसे बड़े पुस्तकालय जो इस समय संसारमें हैं, एक दिनमें नहीं बने हैं। यद्यपि जहाँ धनका अभाव नहीं रहा है अथवा राज्यका आश्रय मिला है वहाँ समय कम लगा है। फिर भी पुस्तकालय समयका जोड़ है। जैसे एक-एक ईंट रख कर विशाल प्रासाद तैयार होता है वैसे ही प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन पुस्तकें एकत्र करते-करते कुछ दिनोंमें आपके पास पुस्तकोंका भंडार तैयार होता है। इसलिये कार्यकर्ताओंको संतोष और धीरजसे पुस्तकें एकत्र करनेमें लगे रहना चाहिये।

सार्वजनिक संस्थाओंमें धनका अभाव तो होता ही है, कार्यकर्ताओंकी लगनका भी अभाव होता है। मुझे तो विश्वास है कि आपको दोनोंका अभाव न होगा। यद्यपि गत वर्षका बजट देखकर मुझे संतोष नहीं हुआ, किन्तु वह तो दो तीन वर्षोंके नवजात शिशुका वर्णन था। जिस नगरमें एक डिगरी-कालेज हो वहाँ शिक्षाका अच्छा प्रसार होगा, वहाँ पुस्तकालय पनपते कितनी देर लगती है।

आपको पैसे भी मिल जाने चाहिये। आप उन्हें उत्तमोत्तम पुस्तकों और समाचारपत्रोंपर व्यय करें। किन्तु ज्यों-ज्यों आपके पुस्तकालयकी वृद्धि होगी, एक रोग भी बढ़ता जायगा। उसकी ओर आपका विशेष ध्यान रहना चाहिये। वह है वह कीटाणु जो पाठकोंका स्वरूप धारण करते हैं और पुस्तकोंको ऐसे पचा जाते हैं जैसे अजगर चूहेको। मेरा सम्बन्ध काशीके दो बड़े पुस्तकालयोंसे है और प्रतिवर्ष यह दुखद किन्तु परिचित सूचना मिलती है कि इतने सज्जन पुस्तकें ले गये किन्तु अभी तक लौटाया नहीं—कई बार आदमी गया।

ऐसे जीव टी० बी० रोग हैं जिसके लिये अभी तक न कोई औषध निकली, न कोई इञ्जेक्शन, न कोई उपचार। मेरा तो पुस्तकालयका वह आदर्श है कि अधिकसे अधिक लोग कमसे कम पैसे देकर लाभ उपार्जन करें। ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि हम अधिकसे अधिक लोगोंको पढ़ा सकें। साथ ही साथ इन कीटाणुओंसे भी यथासम्भव रक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये, नहीं तो सारा पुस्तकालय एक दिन छायावादी शून्य हो जायगा। अन्तमें मैं यही निवेदन करना चाहता हूं कि पुस्तकालयका जो ऊँचासे ऊँचा आदर्श है वह आपका पुस्तकालय प्राप्त करे। मेरी दृष्टिमें पुस्तकालय शिशुके लिये पालना, बालकके लिये खेलका मैदान, युवकके लिये उद्यान, स्त्रियोंके लिये कलियोंकी क्यारी और बड़ोंके लिये शांतिनिकेतन होना चाहिये। सबके लिये उपयुक्त सामग्री हो, सबके लिये सुविधा हो, सबके लिये आकर्षण हो। यह पाकशाला हो मास्तिष्कके भोजनके लिये, पानशाला हो ज्ञानके कदम्बके लिये और मधुशाला हो साहित्यके रसके लिये।

आपने अपने पुस्तकालयमें जो उद्देश्य रखे हैं सभी अच्छे हैं, किन्तु दो मुझे बहुत अच्छे लगे। एक तो यह कि हिन्दीको शिक्षाका माध्यम बनानेका प्रयत्न करना और दूसरा उच्चशिक्षाप्राप्त युवकोंमें हिन्दीका अनुराग उत्पन्न करना।

इसमें पहलेकी जो मैंने चर्चा की है उसके सम्बन्धमें अब किसीका मतभेद नहीं है। आपलोग इस ओर अपनी पूरी शक्ति लगाएँ। सारी शिक्षा, ऊँचीसे ऊँची, हिन्दीमें होनी आवश्यक है। यह हमारा अधिकार है कि हम अपनी भाषामें पढ़ें। यह तो होगा ही और शीघ्र होगा, केवल आपको थोड़ा जाग्रत होनेकी आवश्यकता है।

मैं विशेष आग्रह करना चाहता हूं आपके इस उद्देश्यपर कि उच्चशिक्षाप्राप्त युवकोंमें हिन्दीके प्रति अनुराग हो। हममें यह धारणा बनी हुई है कि अंग्रेजी

कपड़ा पहननेसे कुछ रोब बढ़ जाता है, शान चढ़ जाती है। उसी प्रकार यदि पत्र अंग्रेजीमें लिखा जाय, रेलके गार्डसे अंग्रेजीमें बात की जाय, गाली अंग्रेजीमें दी जाय—यद्यपि हिन्दीमें अंग्रेजीसे अधिक गालियाँ हैं—तब हमारी धाक खूब जमती है। धाक जमानेके फेरमें लोग उखाड़ते हैं मातृभाषाके कोमल पौधेको। मैं यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मुझे किसी भाषासे द्वेष नहीं है। किन्तु अपनी भाषासे जो प्रेम है उसे किसी मूल्यपर बिक्री नहीं करना चाहता।

शेक्सपियर पढनेका यह अभिप्राय न होना चाहिये कि हम तुलसीको भूल जायँ अथवा विक्टर ह्यूगोके नशेमें प्रेमचन्दको विस्मरण कर दें। मैं नहीं कह सकता कि हमारे अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त युवक प्रेमपत्र किस भाषामें लिखते हैं। किन्तु पिताको और भाईको पत्र तो अंग्रेजीमें ही लोग लिखते हैं। मनिआर्डर, चेक, पता, साइनबोर्डपर नाम, अपने पत्रोंपर नाम इत्यादि सब अंग्रेजीमें लोग लिखते और छपाते हैं। आप अपने सब सदस्योंसे वचन लीजिये कि आवश्यक सरकारी कामोंको छोड़कर सभी काम नागरी लिपि और हिन्दी भाषामें होंगे।

कभी-कभी इसमें कठिनाई पड़ सकती है; पर कठिनाईके सम्मुख अपनी भाषाकी हत्या तो किसीको अभीष्ट न होगी। हममें ऐसी दुर्बलता आ गई है कि जहाँ कठिनाई नहीं है वहाँ भी अपनी भाषाकी उपेक्षा करते हैं। एक बंगाली बाबूकी निजी चिट्ठी-पत्री बँगलामें होती थी। जहाँ तक मैंने सुना है उन्हें अंग्रेजी भी अच्छी आती थी। आल इण्डिया रेडियो लखनऊके दफ्तरमें जो बड़े-बड़े कलाकार जाते हैं उनके हस्ताक्षर एकत्र किये गये हैं। जितने बँगाली और मुसलमान कलाकारोंके हस्ताक्षर हैं वह बँगला और उर्दूमें हैं। हमारे हिन्दीके कलाकारोंने अधिकांश अंगरेजीमें हस्ताक्षर किये हैं! अगरेजीके अक्षर सुन्दर होते होंगे और उनमें कलाकी अभिव्यक्ति भी सम्भवतः अधिक होती होगी; किन्तु दूसरोंकी दृष्टिमें हम क्या बन जाते हैं यह देखनेके लिये किसी विशेष चश्मा अथवा अंजनकी आवश्यकता नहीं है।

इसलिये आपने जो इस कार्यका बीड़ा उठाया है वह बड़े महत्वका है। आपके जितने सदस्य हों उन्हें इस बातपर आरुढ़ हो जाना चाहिये कि हमारा सारा कार्य हिन्दीमें हो। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जो हिन्दी न समझता हो उससे आप हिन्दीमें बोलें, अगरेजी पत्रोंमें हिन्दीमें लेख लिख कर भेजें, तथा अंगरेजी पुस्तकोंको एकत्र कर समाधि बनावें।

सभी परिवर्तनके लिये पहले मानसिक क्रांतिकी आवश्यकता है। हमारे मनमें यह बात बैठ जानी चाहिये कि जितना सम्भव हो, कार्य हिन्दीमें हो, नागरी लिपिमें हो। हम देखेंगे कि बहुत कम बातें बच जाती हैं जिनमें हमे हिन्दी छोड़ अन्य भाषाका सहारा लेना पड़ता है।

हिन्दीकी उन्नतिपर, उसे राष्ट्रभाषा बनानेपर, उसे दूसरी प्रांतीय भाषाओंके समक्ष रखनेपर इसका कितना प्रभाव पड़ेगा, तब हम समझ सकेंगे।

[१९४४

———

हिन्दी साहित्यमें यथार्थवाद

[यह भाषण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके कोटा अधिवेशनपर हिन्दी साहित्य परिषदके अध्यक्ष पदसे दिया गया था।]

हिन्दी प्रेमियो,

हिन्दीवालोंकी कृपासे आज मैं साहित्य-परिषद्‌के सिंहासनपर आसीन हूँ। कवितामें अभिव्यंजनावाद, छायावाद, प्रगतिवादकी भाँति जीवनमें धन्यवाद भी रम गया है, यह धन्यवाद मैं आप सब लोगोंको प्रचुर परिमाणमें समर्पित करता हूँ। यही एक वस्तु है जिसमें न देनेवालेके हाथसे कुछ जाता है न लेनेवालेको कुछ मिलता है, किन्तु दोनों ही प्रसन्न होते हैं। आज कल हमारे देशमें इस प्रकारकी वस्तुओंका बाहुल्य है।

आज मैं उस भूमिपर खड़ा हूँ जिसकी वीरता, त्याग तथा बलिदानोंसे हमारे साहित्यको संजीवनी मिली है। यहाँकी इस सिकतासे जो रसिकता हमें मिली है उसे समय भी सुखा नहीं सकता। पृथ्वीराज रासोका बहुत कुछ अंश जाली हो सकता है, किन्तु उस जालीके अन्दर हमें हिन्दी-साहित्य-गगनके उगते हुए चन्द्रकी झाँकी मिलती हैं। मीराके पदोंकी टीस और मिठास आज भी प्रेमियोंकी जलती आँखोंमें ममीराका काम देती है। आपके वीरोंके वीर कृत्योंने इतिहासके पन्नोंको हीरे-सा चमका दिया है। प्रतापके चरित्रने हिन्दीमें कितने ही महान काव्य और महाकवि बना दिये। इस वीरता, रोमान्स और शिवैलरीकी मिट्टीसे हमारा साहित्य पनपा है। आज जब हम अपने साहित्यके सम्बन्धमें विचार करनेके लिए एकत्र हुए हैं और राजस्थान हीमें, तब हम श्रद्धा पूर्वक इस प्रदेशका स्मरण करते हैं।

हिन्दी साहित्यमें यथार्थवाद

वैदिक कालसे लेकर आज हाइड्रोजन-बमके युग तक साहित्यके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, वह हमारे नये विधान-सा विस्तृत है। पूर्व और पश्चिमके विचारकोंने समय-समयपर अपना मत संसारके सामने रखा। इनमे परस्पर कहीं-कहीं मतैक्य है; कहीं-कहीं मतभेद है, किन्तु एक बातमें सब सहमत हैं। वह है साहित्यकी शक्ति। बालाओंके आँसूके समान इसकी शक्ति अपरिमेय है। यह देशमें क्रान्ति कर सकता है, समाजकी व्यवस्थामें उलट-पलट कर सकता है, निष्प्राण जातियोंमें प्राण प्रतिष्ठा कर सकता है और शीतल सुधाके समान रस पान कराकर विदग्ध हृदयको शान्ति प्रदान करा सकता है। भयानक युद्धोंकी अग्नि प्रज्ज्वलित करनेकी इसमें चिनगारी है और शान्तिकी शीतलदायनी छायाके लिए यह अक्षयवट है। तुलसीकी वाणीमें यह कल्याणी होकर आयी, जिसने कोटि-कोटि मानवके जीवनको सन्तोष, सुख और शान्ति प्रदान की। अकबर और जहाँगीरकी महत्ता, स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयोंके पत्थर और ईंटोंकी चहारदीवारियोंमें विराजमान हैं। तुलसी और सूर युग-युगसे जन-मन-मानसमें विहार करते चले आये हैं और जब तक हिन्दू जाति जीवित रहेगी—और हमें विश्वास है जिस जातिका अभिषेक वेदोंके मन्त्रोंसे हुआ है, जीवित ही रहेगी–सदा हमारे और हमारी सन्तानोंके हृदयोंमें, चाहे वह पश्चिमकी मदिरासे कितने ही मदिर क्यों न हो जायँ, निवास करेगी। विक्रमकी विरुदावली उनकी शताब्दीके अवसर पर सुनी जाती है, किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल, मेघदूत अथवा रघुवंशके दृश्य हमारे नयनोंके रंगमंच पर नित्य ही दिखायी पड़ते हैं। मैं विज्ञान की अवहेलना नहीं करता। वैज्ञानिक न होते तो दो दिनोंमें हम कोटा कैसे पहुँचते? अथवा पेनिसिलीनके अभावमें रक्तको विषैला होनेसे कैसे बचा पाते? विज्ञानकी कृपासे शीघ्र ही हम चन्द्र लोकका दर्शन करेंगे, यदि बीच ही रैकेट स्वर्ग लोककी ओर नहीं मुड़ गया। जहाँ पहले चंगेजखाँ ऐसे भयानक हत्यारेको दो चार सहस्र मनुष्योंका वध करनेमें महीनों लग जाते थे, वहाँ आज एटम बमकी कृपासे क्षण भरमें लाखों मनुष्योंके बोझसे धरती मुक्त हो सकती है। विज्ञानने सभी कार्योंमे हमारा मार्ग सरल और सुगम कर दिया है और हमारे जीवनकी अवधि छोटी होनेके कारण सब काम समयमें करनेकी सुविधा प्रदान की है। उसके लिए हमे विज्ञान देवको प्रणाम करना चाहिये।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या बीसवीं शतीमें विज्ञानकी उपेक्षाकी जा सकती है? उपेक्षा नहीं अपेक्षा है। विज्ञानकी आवश्यकता न स्वीकार करना

अज्ञान है। मैं तो चाहूँगा कि विज्ञान ऐसी उन्नति करे कि रेलगाड़ी दो सौ मील प्रति घन्टे चले, किन्तु इन्जन उलटे नहीं। डाक्टर कृत्रिम हृदय बना ले जिससे मनुष्य जीवित रह सके किन्तु उस हृदयमें प्रेम और संवेदना होनी चाहिये। मंगल ग्रहकी सैर हम कर आवें किन्तु किसी प्रकारका अमंगल न हो।

यह सम्भव कैसे? यह तभी सम्भव है जब विज्ञानका मार्ग प्रदर्शन साहित्य करे। विज्ञानके विद्वान यह सुनकर रौद्र रसका अभिनय करने लगेंगे। कहेंगे हम लोग दिन और रात प्रयोगशालाओंमें परिश्रम करते हैं, आगसे खेलते हैं, बिजली को गले लगाते हैं, परमाणुको तोडते हैं। हम उनका नियंत्रण नहीं मान सकते जो लेखनी और कागज लेकर बैठ जाते हैं और मकड़ीके जालेकी भाँति एक कागजपर शब्दोंमें अपनी कल्पनाकी चित्रकारी करते हैं। मानवताका इतिहास यदि वह केवल परिहास नहीं है तो यही बताता है कि वाल्मीकि, तुलसी, रवीन्द्र-नाथ, शेक्सपीयर, मोलियर, डिकेन्ससे मानवताका जितना भला हुआ, उस अनुपातमें विज्ञानसे नहीं। आरम्भमें तो विज्ञान मानवताका त्राता तथा कष्ट नष्ट करनेवाला था, किन्तु ज्यों ज्यों सभ्यता छलांग मारती चली जा रही है विज्ञान उसी पथपर चल रहा है जिसपर विष वृक्षकी छाया है, विनाशकी धूलि है, और जिसके अन्तकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह दूसरी बात है कि युद्धके पंकसे पेनिसिलीनका पंकज भी खिल उठा। अफीमके पौधेसे भी पोस्तेके दाने निकल आते हैं, जो हमें शक्ति देते हैं, जिसे हम व्रतमें भी खाते हैं।

जिस साहित्यकी महत्ताका वर्णन हम प्रेमिकाके सौदर्य्यकी भाँति कर रहे हैं वह क्या है? सरकारकी योजनाओंकी भाँति साहित्यके सम्बन्धमें भी अगणित धाराएँ तथा मान्यताएँ हैं और मुद्रण कलाके विस्तार और उन्नतिके साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति जिसे लिखना पढ़ना आता है, विचारकके सिंहासनपर बैठकर विक्रमादित्य बन जाता है और अपना निर्णय कह सुनाता है। सत्य, अर्द्धसत्य तथा असत्यकी इस भीड़में साहित्यसे अभिरुचि रखनेवाला जिज्ञासु उसी प्रकार घबरा जाता है, जिस प्रकार सिगरेट पीता हुआ पुत्र पहली बार अपने पिताको सम्मुख देखकर। रेलका टाइम टेबुल भी साहित्य है, झाड़ू कम्पनीका सूची पत्र भी साहित्य है, चन्द्रकाता संतति भी साहित्य है, लोक गीत भी साहित्य है, हृदय को बेधनेवाले सिनेमाके गाने भी साहित्य हैं, राम चरित मानस भी साहित्य है, उपनिषद और वेद भी साहित्य है—इस प्रकार भिन्न अभिरुचि वालोंके लिए सुगमतासे सामग्री मिल जाती है और साहित्यका क्षेत्र बम्बईके 'आर्मी एण्ड नेवी

स्टोर्स' की भाँति हो जाता है जिनका दावा है कि हमारे यहाँ आलपीनसे लेकर हवाई जहाज तक मिल सकता है।

हिन्दी साहित्यका वंशगत सम्बन्ध संस्कृतसे है, इसलिए अभी तक अपने देशमें वही मान्यताएँ सहृदयोंको स्वीकार रही हैं जो संस्कृतके आचार्योंने निर्धारित की थीं। इनके अनुसार साहित्य वही है जिसमे लोक हितकी भावना हो, मानवताका कल्याण हो, जो समन्वयकी भावना उत्पन्न करे। सौहार्द्र, सौमनस्य और शोभन जिसके पठन-पाठनका परिणाम हो। स्वस्थ मन, स्वस्थ चितके लिए आनन्द आवश्यक वस्तु समझी गयी और साहित्यका ध्येय आनन्दमें माना गया। संस्कृतके साहित्यकारोंने काव्य शब्दको बहुत व्यापक रूपमे माना। इसका अर्थ केवल पद्य बद्ध कविता ही नहीं, यह साहित्यका पर्याय समझा गया और इसलिए साहित्य वही माना गया जिससे रसानुभूति हो, जो रमणीय हो और मम्मटने सबका समन्वय करते हुए काव्य अर्थात् साहित्यका लक्षण बताया—

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य· पर निवृ तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे॥

लैटिनमे एक शब्द है, 'लिटरेट्युरा' जिससे फ्रेंच, में लिटरा बना जिसका अर्थ है अक्षर, उसीसे अंग्रेजी शब्द लिटरेचर बना है। इस अक्षरसे स्मरण रखिये, ब्रह्मसे नहीं तात्पर्य है, उन काले काले चित्रोंसे तात्पर्य है जो हमारे स्वर अथवा व्यंजनके प्रतीक हैं। आरम्भसे ही दोनोंका अन्तर आप समझें। एकका आरम्भ ऐसे शब्दसे होता है जिसमें हितकी भावना सन्निहित है और दूसरेका अक्षरोंसे जिनसे शब्द बनते हैं। हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम आपको दिग्दर्शन भी करा सकें कि पश्चिमका साहित्य आरम्भमे जब यूनानमें विकसित हुआ कितना क्रूर, पाशव तथा अमानुषिक था। हमारे यहाँका साहित्य इन शब्दोंसे आरम्भ हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम. शाश्वती. समाः।
यत् क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

किन्तु यह कहना भूल होगी कि यूरोपके साहित्यमें यूनानी नाटकोंकी हत्याओं और देवताओंकी लड़ाइयोंका ही अनुकरण हुआ। मानवताके विकासके साथ इटली, जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैण्डने बहुत सुन्दर मानव हितकारी और आनन्ददायक साहित्य संसारके सम्मुख रक्खा।

यह भी देखना चाहिये कि हमारा हिन्दी साहित्य किन परिस्थितियोमें जन्मा

और पनपा। इसका शैशव वीरताकी उदात्त भावनाओंके अंकमें बीता और त्याग तथा बलिदानके पावन दुग्धसे इसका पालन हुआ और भक्तिके सुस्वादु पौष्टिक व्यंजनोंसे इसे शक्ति मिली। आरम्भसे आज तक जिस रूपमें भी हिन्दी साहित्यका निर्माण हुआ है आत्माका सम्बन्ध उससे रहा है। उसीके समीप हमारा साहित्य रहा है। पश्चिममें भी १६ वीं शताब्दीके अन्त तक साहित्यकी सरिता उसी धारामें बही, जिसका स्रोत मानव हृदयसे फूटकर निकला है। समाजके हितकी भावना उस युगकी मान्यताओंके अनुसार उसका ध्येय था। वैयक्तिक उत्कर्षकी ओर भी ध्यान दिया गया और वैज्ञानिक आविष्कारोंका धार्मिक विचारोंसे समन्वय करनेकी चेष्टाकी गयी।

यूरोपमें पहले युद्धके पश्चात् लोगोंके विचारोंमें परिवर्तन होने लगा, लोगोंके विश्वास कायरोंके दिलकी भाँति हिल गये। साहित्यमें नये लेखक पुराने आदर्शों तथा मान्यताओंको छोड़कर नये आदर्शोंकी ओर झुके। दो विशेष विचार साहित्य और समाजके उपचारके लिये उपयोगी समझे गये।

साहित्यमें आदर्श कल्पनाएँ मानवताके लिए अहितकर समझी गयीं। यह कहा गया कि यह सब झूठी बातें मनुष्यको सत्यतासे बहुत दूर फेंक देती हैं। आदर्शकी इस भूल भुलैयामें पड़कर मनुष्य यह नहीं सोचता कि हमें सचमुच क्या करना है। दूसरा विचार यह था कि समाजका संगठन और उसकी व्यवस्था जर्जर हो गयी है, परोक्ष रूपसे समाजको दारुयोषितकी नाईं धनिक वर्ग नर्तन करा रहा है और साहित्य भी उसीका परिणाम है। यद्यपि यथार्थवादी (रियलिस्ट) लेखक फ्लावर्ट और कैपिटलके लेखक मार्क्स बहुत पहले हो चुके थे, तथापि उनका प्रभाव अंगरेजी साहित्यपर प्रायः नहींके बराबर था। दूसरे महायुद्धके बाद एक और गहरा धक्का विचारों और मान्यताओंको लगा। इसी बीच दूसरे देवता फ्रायड भी जलद-पटलसे निकल आये जिन्होंने अपने मानस शास्त्रका मधुर रस लोगों को आकण्ठ पान करा दिया। इंगलैंडमे भी उस साहित्यका प्रजनन होने लगा जिसे रियलिस्ट अथवा यथार्थवादी साहित्य कहते हैं। पश्चिमके और देशोंमें तो हो ही रहा था। यह शिशु देखनेमे बड़ा सुन्दर था। इसकी मुसकानमें मादकता थी। इसकी किलकारी लोगोंके हृदयमे गुदगुदी उत्पन्न करती थी। लोग इसे हृदयगम करने लगे। इस साहित्यकी विशेषता थी कि उपन्यास, कहानी, कवितामें, चरित्रोंके निर्माणमे अथवा किसी घटना या वस्तुके वर्णनमें जो वस्तु जैसी है वैसी ही वर्णन करना। यदि आदर्शवादी साहित्य, चित्रकला था तो

यथार्थवादी साहित्य फोटोग्राफी। यदि पत्नी पतिके मस्तकका अभिषेक झाडूसे करती है तो यही लिखा जाय--यह छिपानेसे कोई लाभ नहीं, यदि समाजमें महिलाएँ प्रेमके मैदानमें राइट लेफ्टका परेड करती हैं तो यह साहित्यमें आना चाहिये, इसको छिपानेसे और यह दर्शाने से कि महिलाएँ सच्चरित्रताकी देवी हैं, कोई लाभ नहीं है। कामवासनाकी पिपासासे संतप्त होकर पुरुष अथवा स्त्री किसी भाँति अपने हीतलको शीतल करें तो कोई हानि नहीं और साहित्यमें ऐसी ही अभिव्यक्ति होना आवश्यक है। कारखानोंके मजदूरों, खनिकों, किसानों के वास्तविक जीवनका समावेश साहित्यमें होने लगा और उनके अभावोंकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया गया। यह भी कहा गया कि जब हमारे सम्मुख सभी वस्तुएँ सुन्दर नहीं हैं तब असुंदर, विकृत, कुरूप वस्तुओंका भी वर्णन अपेक्षित है क्योंकि इनमें वास्तविकता है, सचाई है और यथार्थ है। कानों तक खिंची हुई बड़ी बड़ी सफरीके समान चंचल आँखोंके वर्णनसे क्या लाभ जब ऐसी आँखें देखनेको नहीं मिलतीं। हमारे सामने तो कौड़ीके बराबर मटमैली घिसे शीशेके समान आँखें हैं, हमें उन्हींका वर्णन करना चाहिए। आदर्श प्रेम, आदर्श दम्पति जिनमे त्याग और बलिदानकी भावना है यदि लन्दन और पेरिसमें नहीं मिलते तो उपन्यास तथा काव्यमें उनका चित्रण क्यों हो? ऐसे परिवारका चित्रण साहित्यमे होना आवश्यक है जिनमे पति मदिराकी शक्तिसे अनुप्राणित होकर घर आकर पत्नीके ऊपर जुजुत्सूके दावका अभ्यास करता है और अपनी संतानको ऐसी भाषा सुनाता है जिसकी शब्दावली आक्सफोर्ड डिक्शनरीमें भी ढूंढ़नेसे नहीं मिलती, क्योंकि समाजमें अधिकांश ऐसे ही परिवार मिलते है। वर्तमान यूरोपमें एक वर्ग इसी प्रकारके साहित्यका सर्जन कर रहा है। यद्यपि आदर्शवादी साहित्यकी रचना बंद नहीं हुई।

विचारोंके विस्तारके लिए कोई बन्धन नहीं है। विस्तृतसे विस्तृत महासागर, ऊँचे ऊँचे पहाड़ विचारोंके प्रवाहको रोक नहीं सकते। ईथरकी लहरोंके समान सारे संसारमें इसका विक्षेप हो जाता है। अंगरेजी भाषाको बधाई है कि उसके द्वारा हमारे देशमे भी इन विचारोंका आगमन हुआ। देशका दारिद्र्य, सामाजिक तथा राजनीतिक अत्याचार, असमानता, दासता इत्यादिने इन विचारोंके लिए वही कार्य किया जो मदिरासे अभ्यस्त फेफड़े क्षयके कीटाणुओंके लिए करते हैं। समय-समयपर साहित्यिक विचारोंमें परिवर्तन होता रहता है। हिन्दीमें बीस-पचीस वर्ष पहले उस कविताका चलन था जिसे छायावादी कहते हैं। कहानी और,

उपन्यास भी आदर्शवादी ढंगके लिखे जाते थे। तब जो कुछ यथार्थ कहानी और उपन्यासमे लिखा भी जाता था वह बहुत ही मर्यादित और शालीनताकी सीमाके अन्दर। इसकी प्रतिक्रिया हिन्दीमें हुई और यथार्थवादी साहित्यका जन्म हुआ और जैसा स्वाभाविक है बुद्धिमान चेला गुरुसे भी आगे बढ जाता है, हमारे साहित्य रचयिता यूरोपके यथार्थवादसे आगे बढ़ गए। हमारा देश पूजा करनेका अभ्यस्त तो है ही, मार्क्स और फ्रायडकी पूजा होने लगी। काडवेल का 'ईल्युजन एण्ड रीयलीटी' हमारा वेद बना और हम ऐसे साहित्यका सर्जन करने लगे जिसे यथार्थवादी साहित्य कहा गया।

नये प्रयोगोंका, नये विचारोंका हमें स्वागत करना चाहिए किन्तु यह देख लेना चाहिए कि वह हमारे अनुकूल है। परम्पराको तोड़ा जा सकता है, रूढियाँ नष्टकी जा सकती हैं यदि उनसे देशका अहित होने लगा हो। दूसरे देशके विचार यदि हमारी परम्परा, परिस्थितिके अनुकूल हों और यदि उनसे हमारा कल्याण होता हो तो उनका समावेष साहित्य और जीवनमें होना चाहिए। जब हमारे रक्तमे हारलिक्सका दूध और हंटले पामरका बिस्कुट बह रहा है तब पश्चिमके विचार भी ग्रहण किये जा सकते हैं; किन्तु यह देखना होगा कि हमारे लिए स्वास्थ्यकर है कि नहीं। योरपके नये विचार चाहे वह दार्शनिक हों, चाहे राजनीतिक, चाहे साहित्यिक, अवश्य ही हमारे लिए भी लाभकारी होंगे, आवश्यक होंगे—नहीं कहा जा सकता, जैसे एक ही औषधि सब रोगोंके लिए गुणकारी नहीं हो सकती, एक ही उपाय सब अवस्थाओंके लिए उचित नहीं होता वैसे ही एक ही विचार सब देशों, सब कालों तथा सब परिस्थितियोंके लिए हितकारी नहीं होता। मुझे एक घटना स्मरण है। काशीमे एक वैद्य थे। जिनकी प्रतिभा प्रख्यात थी। जिनकी औषधिमे बड़ा गुण था और हाथोंमें यश। वह जब किसी रोगीके यहाँ जाते थे, अपने एक शिष्यको भी साथ ले जाते थे जिससे उसका व्यावहारिक ज्ञान बढ़े। एक बार एक शिष्यके साथ किसी रोगीको देखने वैद्यजी गए। नाड़ीकी परीक्षाके पश्चात् और सब हाल पूछ कर वैद्यजीने कहा—औषधि तो ठीक चल रही है और रोग भी उतार पर है किन्तु आप खाने-पीनेमें असंयम न करें, नहीं तो नीरोग होनेमें बहुत समय लग जायगा। रोगीने कहा—मैं तो वही पथ्य ले रहा हूँ जिसका आपने निर्देश किया है और किसी प्रकारका असंयम नहीं हुआ है। वैद्यजीने कहा—नहीं, आप छिपाते हैं ऐसा जान पड़ता है कल या आज आपने भुने चने खाए हैं, चाहे वे थोड़े ही रहे हों। रोगीको बहुत आश्चर्य हुआ और

उसने अपना असंयम स्वीकार किया। वैद्यजी जब लौटे तब उनके शिष्यने पूछा,—गुरुजी! आपने कैसे समझ लिया कि उसने चना खाया है। नाड़ीकी किस चालसे इसका ज्ञान होता है मुझे आपने यह विद्या नहीं बतायी। वैद्यजीने कहा—सब ज्ञान नाड़ीसे ही नहीं होता कुछ बुद्धिसे भी काम लिया जाता है। मैं जब गया मैंने इधर-उधर देखा और उसकी चारपाईके नीचे कुछ छिलके चनेके पड़े थे, इसीसे मैंने बताया कि उसने चना खाया है। शिष्यने यह अनोखा टेकनीक ग्रहण कर लिया। तीन-चार दिनोंके पश्चात् रोगीने वैद्यजीको स्मरण किया। वैद्यजीके पाँवमें पीड़ा थी उन्होंने उसी शिष्यको भेज दिया देखनेके लिये। शिष्य महोदयने आते ही तीक्ष्ण दृष्टिसे कमरेका निरीक्षण किया फिर वह नाड़ी देखने लगे। नाड़ी ध्मान पूर्वक देखकर उन्होंने कहा—देखिये आपने फिर असंयम किया। रोगीने कहा—नहीं किसी प्रकार असंयम नहीं हुआ है। भावी होनहार वैद्यने कहा—अवश्य हुआ है। आपने जूता खाया है। रोगीकी खाटके नीचे जूता पड़ा हुआ था। कहनेका तात्पर्य यह है कि एक ही सिद्धान्त प्रत्येक स्थानपर लागू नहीं होता। सिद्धान्त ठीक होनेपर भी उसका व्यवहार समझदारीके साथ करना आवश्यक है।

यथार्थवादी साहित्यका प्रयोग हिन्दीमें होने लगा। पुराने विद्वानोंने तथा उन लोगोंने जो नवीनताके पक्षपाती नहीं हैं विरोध करना आरम्भ किया। नवीन और पुरातनका संघर्ष सदासे रहा है। यद्यपि यह संघर्ष अनावश्यक तथा अशोभनीय है। शास्त्रीय स्तरपर विवाद और विवेचन तो समझमें आता है। किन्तु उससे नीचे उतरना अस्वस्थ मानसका लक्षण जान पड़ता है।

यथार्थवादी साहित्यके रचयिता तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं। पहले तो वह विद्वान जिनके ऊपर पश्चिमके यथार्थवादी साहित्यका प्रभाव पड़ा है। जो सचमुच समझते हैं कि हमारे समाजकी व्यवस्था पश्चिमके ढंगकी हो जानी चाहिये। उनका विश्वास विदेशी मान्यताओंमें है। इनकी नीयतपर सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। दूसरे वह लोग हैं जो नवीनताके चाकचिक्यके वशीभूत हैं। जिस प्रकार हम विदेशी ढंगसे भोजन करने लगते हैं, आचार-व्यवहार विदेशी ढंगका कर लेते हैं क्योंकि उसमे चमक, सौन्दर्य और आकर्षण अनुभव करते हैं उसी ढंगसे यह लोग साहित्यका सर्जन भी करते हैं। तीसरे वह लोग हैं जो साहित्य जगतमें अथवा समाजमे पराजित हो गये हैं। जिन्हें सम्मान, समादर, सहानुभूति, सहयोग नहीं प्राप्त हुआ, वह इस दृष्टिसे यथार्थवादी साहित्यके निर्माणसे सहयोग देने लगे कि इन नवीन साहित्यकारोंके बीच हमारे अभावोंकी पूर्ति होगी।

यथार्थवादी साहित्यका विरोध तीव्रता तथा कटुतासे नहीं हुआ जिस ढंगसे छायावादी कविताका हुआ था; यह अच्छा ही हुआ। यथार्थवादी साहित्यकारोंका एक दल रूसी कम्युनिज्मके साथ भी अपना तादात्म्य करने लगा और इस समय यथार्थवादी साहित्यकार राजनीतिक विचारोंकी दृष्टिसे दो वर्गोंमें हैं। एक जो रूसको और रूसी विचारोंको जैसा कुछ भी वहाँसे अंग्रेजी अनूदित पुस्तकों द्वारा यहाँ उपलब्ध है, प्राप्त होता है और दूसरे वह लोग जो आर्थिक व्यवस्थामें परिवर्तन तो चाहते हैं, परन्तु रूसी कम्यूनिज्मके समर्थक नहीं हैं। दोनोंके साहित्योंमें इतनी समता है कि आर्थिक व्यवस्थामें दोनों ही परिवर्तन चाहते हैं, कामके बन्धनोंको दोनों ही ढीला करना चाहते हैं और अपनी कल्पनाके अनुसार इस युगके मानवकी माँगकी अभिव्यक्ति अपनी रचनाओंमें करते हैं। अन्तर यह है कि रूसी कम्युनीज्मके समर्थकोंकी रचनाओंमें प्रचारकी मात्रा बहुत अधिक रहती है।

जहाँ तक आर्थिक व्यवस्थाके परिवर्तनका सम्बन्ध है कोई समझदार व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि समाजमें आर्थिक विषमता रहे। सम्पत्तिका वितरण समाजमें समुचितढंगसे हो, भोजन वस्त्रसे सब सुखी रहें। किसी व्यक्तिको यह न अनुभव करना पड़े कि आर्थिक दृष्टिसे मैं हेय और छोटा हूँ। कारखानोंमें मजदूरोंका और गाँवोंमे किसानोंका शोषण न हो। इस सम्बन्धमें भी दो बातोंका विचार करना आवश्यक है। युद्धके पश्चात् किसानों तथा मजदूरोंकी अवस्थामें बहुत परिवर्तन हो गया। आर्थिक दृष्टिसे अब उनकी अवस्था वह नहीं रही जो पहले थी। श्रमिकोंके पारिश्रमिकमें इतनी वृद्धि हो गयी कि उनके जीवनका स्तर ऊपर उठ गया, अधिकतर किसान भी आर्थिक दृष्टिसे पहलेसे सम्पन्न हैं, यद्यपि उन्होंने अपने रहन-सहनमें परिवर्तन नहीं किया, परन्तु यथार्थवादी साहित्यकारोंने यह यथार्थ चित्रण करनेकी अपेक्षा नहीं समझी और अभी वही पुराने रागमें अपने गीत गाते चले जा रहे हैं। इधर मध्यम वर्गकी आर्थिक अवस्था गिरती गयी। न श्रमिकोंके समान उनके पारिश्रमिकमें वृद्धि हुई और न पूंजीपतियोंके समान उन्हें धन एकत्र करनेकी सुविधा प्राप्त हुई। यह सजीव यथार्थ है किन्तु किसी साहित्यकारने अपनी लेखनीकी तूलिकासे इस वर्गकी चित्रकारी नहीं की। यों भूलेभटके किसीने कहानी एकाध लिख दी होगी। यथार्थवादका अवतरण जिस अर्थमें साहित्य जगतमें हुआ वह यही था और यदि इसका पालन न किया जाय तो सन्देह होने लगता है कि रचनाएँ प्रचार मात्र हैं। इस सम्बन्धमें एक निवेदन और कर देना आवश्यक है। जो भी रचना हो यदि लेखकको उसके सम्बन्धमें अनुभूति नहीं है तो वह रचना सफल नहीं हो सकती और

साहित्यकार केवल शब्दोंका जाल बुनता है। जिसके हृदयमें कभी प्रेमकी अनुभूति नहीं हुई है वह टीस, वेदना और पीड़ा ऐसे शब्दोंकी सैकड़ों सूची बनाकर लिखता रहे पढ़नेवाले अथवा सुननेवालेके हृदयमें कभी रचनाका प्रभाव नहीं पड़ सकता। केवल सुनी सुनाई बातों पर साहित्यका निर्माण नहीं हो सकता और यदि ऐसा होता है तो वह साहित्य नहीं है। कभी-कभी कल्पनासे कवि अथवा लेखक ऐसी रचना करता है जो वास्तविक अनुभूतिके समान होती है किन्तु ऐसी कल्पना साधनासे उपलब्ध होती है। मेरे एक मित्र कवि हैं जो सोने की घड़ी लगाते हैं, रेलकी दूसरी श्रेणीमें चलते हैं। प्रातःकाल मक्खन और टोस्टके साथ अमेरिका-का शहद और आस्ट्रेलियाके मुरब्बेका जलपान करते हैं। वेष-भूषा भी बहुत भव्य रहती है और श्रमिकोंकी दयनीय अवस्थाका राग अलापते हैं और उन लोगोंको कोसते हैं जो उनकी दीनताके कारण हैं। गाँवोंके किसानोंके सम्बन्धमें ऐसे लोग भी कविता और कहानी लिखते हैं जिन्होंने गाँव शब्द पुस्तकमें देखा है, जिन्होंने यह भी नहीं देखा कि जौ और गेहूँके पौधोंमें क्या अन्तर है। यह भी एक कारण है जिससे यथार्थवादी साहित्यका विरोध होता है।

पश्चिममें साहित्यका जन्म और उन्नयन जिन परिस्थितियोंमें हुआ है उससे हमारे देशकी परिस्थिति भिन्न है। हमारे देशवासियोंके अनुकूल साहित्य वही उचित हो सकता है जो हमारे युग युगके इतिहास, परम्परा और संस्कृतिकी तात्विक भावनाओंको लिए हुए प्रगति करे। यद्यपि विज्ञानने बहुत उन्नति की है, फिर भी न यूरोपमें आम उग सकता है और न भारतमें जैतून। मानवीय संस्कृतियोंकी भी यही अवस्था है। संस्कृति और इतिहास प्रत्येक देशकी जलवायु, प्रकृति तथा भौतिक वातावरणके अनुसार निर्मित होते हैं और साहित्यको इन्हींकी वाणी है। यथार्थवादके यूरोपीय आचार्य साहित्यका स्रोत समाजकी आर्थिक व्यवस्था मानते हैं और इस कारण आज वह नया साहित्य उसी दृष्टिसे निर्माण करनेके लिए कहते हैं और उनके समर्थक साहित्यकार इसी दृष्टिसे साहित्यकी रचना करते हैं। यूरोपके लिए भी यह सत्य नहीं है। फ्लावर्ट, बालजक, जोला, तुर्गनेफ भी यथार्थवादी साहित्यकार थे, इसमें किसीको मतभेद नहीं हो सकता किन्तु न सबके राजनीतिक विचार एक थे, न आर्थिक। अनेक समस्याओंसे प्रेरित होकर इन लोगोंने साहित्य निर्माण किया। हमारे देशमें तो साहित्यके निर्माणका मूल ही दूसरा था। सूरदास ने जब कृष्णकी भक्तिमें अपने ललित पद गाये तब वह बेचारे दोनों नेत्रोंसे हीन, संगीतके सागरमें डुबकियाँ लगाते हुए आर्थिक योजनाओंसे बहुत दूर थे। अर्थ

और अनर्थ दोनोंकी परिधिके बाहर उन्होंने पद बनाये। आलोचकों से मैं पूछना चाहता हूँ कि सूरकी रचनाएँ साहित्यकी श्रेणीमें रखी जा सकती हैं या नहीं और यदि रखी जा सकती है तो किस प्रकारकी आर्थिक प्रेरणा उसके पीछे थी? तुलसीदासने अपने आराध्य देवके सम्बन्धमें रामचरित-मानसकी रचनाकी। तुलसीदासके हृदयमें क्या यह भावना थी कि मुगल साम्राज्यमें भारतवासियोंकी या हिन्दुओंकी आर्थिक अवस्था क्या थी और क्यों ऐसी थी; अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है कि धार्मिक भावोंसे प्रेरित होकर उन्होंने इस ग्रंथकी रचना की। काडवेल-के मतसे तो सभी युगका साहित्य आर्थिक प्रवृत्तियोंसे प्रेरणा पाता है। काडवेल महोदयने केवल इङ्गलैण्डके साहित्यके भरोसे यह निष्कर्ष निकाला। दुःख तो इस बात का है कि यूरोपीय लेखक चाहे वह किसी विषयका हो जब कुछ लिखता है तब उसका संसार युरालसे टेम्स और नारवेसे इटली तक सीमित रहता है। इसके बाहर भी कहीं कुछ लोग रहते हैं, कहीं ज्ञान है, कोई और सभ्यता अथवा संस्कृति है इसका उन्हें ध्यान नहीं रहता और इसलिए ध्यान नहीं रहता कि वह जानबूझ-कर दूसरेका महत्त्व स्वीकार करना नहीं चाहते। काडवेलने अगर भारतीय साहित्यका कुछ ज्ञान प्राप्त किया होता तो संभवत: उसे यह लिखना पड़ता कि ऐसे भी देश हैं जहाँ साहित्यका निर्माण आर्थिकके अतिरिक्त और भी प्रेरणाओंसे हुआ है।

हमारे देशके साहित्यके आचार्योंने साहित्यकी जो मान्यताएँ निर्धारित की हैं, उनकी जानकारी भी कुछ नये साहित्यकार नहीं रखते। इन्हें मानना न मानना तो दूसरी बात है किन्तु साहित्यके आलोचकोंको उसका ज्ञान बहुत आवश्यक है। अंगरेजी कविता हिन्दीके छन्द शास्त्रपर नहीं बनायी जा सकती, न हिन्दीकी कविता अंगरेजी छन्द शास्त्रपर। इसी प्रकार और भी साहित्यकी मान्यताएँ हिन्दीकी या अंगरेजीकी अलग-अलग हैं। पश्चिम और पूर्वके मनुष्योंके चरित्रोंमें अन्तर होता है। यद्यपि संसारके मानव एक हैं और उनके बहुतसे गुणोंमें समता है फिर भी देशकी जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति खान पान तथा परम्परागत चारित्रिक उत्तराधिकारके कारण प्रत्येक देशका निवासी कुछ अलग अलग सा होता है। अपने देशमें ही बंगाली, पंजाबी, महाराष्ट्र तथा दक्षिणके रहनेवालोंके चरित्रमें अन्तर होता है और यह सभी जानते हैं कि इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, यूनान इत्यादिके निवासियोंके चरित्रोंमे बहुत भिन्नता है। मैं अपने देशके विभिन्न राज्योंके लोगोंमें अथवा संसारकी विभिन्न जातियोंमें जो अन्तर है उसे महत्त्व नहीं देना चाहता। सभी लोगोंकी कामना होगी कि शीघ्र ही उस प्रभातपर ऊषा

सुन्दरीकी किरणोंका नर्तन हो जिस दिन विश्वका प्रत्येक मानव वेदोंकी वाणीमें "संगच्छध्वं, सं वद् ध्वं" का आदर्श ग्रहण करें किन्तु जो बात यथार्थ है उसे हम इसलामी प्रथाके अनुसार बुरकेके अन्दर कैसे रख सकते हैं ?

यह कहा जा सकता है कि हमारे साहित्यकी मान्यताएँ जिस युगमे निर्धारित की गयी थीं वह आजसे भिन्न था। उस युगके समाजके अनुसार वह मान्यताएँ निर्धारित की गयी थीं। आजका भारतीय समाज पहलेके भारतीय समाजसे भिन्न है। जब यह मान्यताएँ स्थिर की गयी थीं उस समयके साहित्यके अनुसार थीं।

लक्षण ग्रंथ लक्ष्य ग्रंथके अनुसार ही बनते हैं यद्यपि पीछे उनकी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है। मम्मटका काल ११ वीं शतीके आस-पास माना जाता है और सब महत्त्वपूर्ण लक्षण ग्रन्थ इसके भी पहलेके बने हैं केवल साहित्य दर्पण १४ वीं शतीका है जिसका आधार प्राचीन लक्षण ग्रन्थ हैं। ११ वीं शती तककी निर्धारित साहित्य मान्यताएँ ऐसी थीं जो २० वीं शतीके आरम्भ तक हमारे साहित्यका नियंत्रण करती रहीं। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्यकी भी मान्यताएँ वही रही हैं जो संस्कृतकी। यह मान्यताएँ ऐसे ठोस ढंग पर बनी थीं कि एक सहस्र वर्ष तक पीछे भी उनमें परिवर्तनकी आवश्यकता न पड़ी। यद्यपि समाजमें परिवर्तन होता गया। आज यथार्थवादी साहित्यालोचक उन सिद्धान्तोंको मानने के लिए तैयार नहीं हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ बिना इनकी परीक्षा किये हुए।

उन मान्यताओंका निष्कर्ष एक शब्दमे कहा जा सकता है—आनंद! उनके अनुसार साहित्यका ध्येय मानवताको आनन्द देना था, दूसरे शब्दोंमें इसीको रसका सिद्धान्त कहते हैं। हमारे प्राचीन आचार्योंका मुख्यत: यही मत रहा है कि जिस साहित्यिक कृतिको पढ़कर, सुनकर या देखकर हृदयमें सानुभूति न हो वह साहित्य नहीं है। यथार्थवादी साहित्यकार कहता है कि हम यथार्थ वर्णन या चित्रण करेंगे। रस इत्यादि साहित्यके लिए अनावश्यक बाते है। किन्तु उन्होंने यह नहीं समझा कि चाहे रचनाका विषय काल्पनिक हो, यथार्थ हो, आदर्श हो, ज्योंही वह हृदयके निकट पहुँचेगी, रसकी निष्पत्ति हो ही जायगी। यदि हम किसानोंके ऊपर अत्याचार और उत्पीड़नका वर्णन सुनेंगे या पढ़ेंगे अथवा मंच पर देखेंगे तो हृदयमें करुणा या क्रोध उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकता। कोई अश्लील वीभत्स घिनौना गन्दा वर्णन सुनकर घृणा का भाव उपजेगा ही। जहाँ तक केवल आनन्दकी बात है, उसमें अवश्य आज अन्तर हो सकता है और इस सम्बन्धमें अपनी दृष्टि कुछ बदलनी भी चाहिये। यदि हमारा देश सम्पन्न होता, किसी प्रकारका अभाव न होता, सुख-

पन, असंस्कृत अभिरुचिकी यह परिचायिका होती है। 'उल्लू, पाजी, हरामी' कह देनेसे यदि कोई बात प्रमाणित हो जाती अथवा सत्य-स्पष्ट हो जाता तो राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी गालीका ही सहारा लेकर सर्वहारासे बातचीत करते और उन्हें अपने सिद्धात समझाते। वीभत्स उपमाओं, अशिव कल्पनाओं तथा अश्लील वर्णनोंके बिना भी यथार्थ की अभिव्यक्ति हो सकती है। नयी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओंका बहिष्कार या तिरस्कार नहीं होना चाहिये; उनका स्वागत करना चाहिये किन्तु वह भद्दी और शिवेतर न हो। हमें यदि अच्छा नहीं लगता तो किसी सुन्दरीके शरीरके रंगकी उपमा हम चम्पक अथवा कञ्चनसे भले ही न दें क्योंकि यह उपमाएँ बहुत घिस गयी हैं। उसके लिए नवीन उपमाएँ खोजें। किन्तु यह तो न कहें कि इसका रंग पीबके समान है। किसीके उजले बालकी उपमा कुंद, कपास या कपूरसे न देकर कोढ़ीसे देना कहाँ तक साहित्यकी अभिव्यंजनाको हितकर बना सकता है, सहृदयगण विचार करें। जिस औचित्यके सम्बन्धमें यहाँके आचार्यों तथा आलोचकोंने सिर खपाया और साहित्य रचनाको सुन्दर बनानेके लिए विशद विवेचना की उसका ज्ञान इन साहित्यकारोंको नहीं है। यदि इसकी जानकारी हो तो सम्भवत: ऐसा न हो।

दूसरी बात कामवासनाके सम्बन्धमें है। काम कोई घृणित या उपेक्षित भावना नहीं है, मनुष्यकी एक आवश्यक बुभुक्षा है और संसारमें सृष्टिकी परम्परा प्रचलित रखनेके लिए आवश्यक गुण है। पुराने धर्म शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मनुष्यके सफल जीवनके लिए आवश्यक उपकरण समझे गये। मोक्ष प्राप्तिके पहले कामवासनाकी तृप्ति आवश्यक समझी गयी किन्तु जिस भद्दे और वीभत्स ढंगसे उसका वर्णन कुछ लेखक अथवा कवि यथार्थवादके नामपर आज कर रहे हैं, वह सभ्यता, शिष्टताके नितान्त प्रतिकूल है। जो रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं अथवा पुस्तकोंमें प्रकाशित होती हैं वह सरलतासे सबके हाँथोंमें पहुँच जाती हैं। कन्याएँ, अबोध बालक सभीको उन्हें पढ़नेका अवसर मिलता है यह कहाँ तक उनके जीवनके लिए लाभप्रद होगा यह विचारकोंके सोचनेकी बात है। यदि ये लेखक यह समझते हैं कि नग्नसे नग्न कामुकताका वर्णन भी बाल-बच्चे, कन्याएँ और कुमारियाँ पढ़ें, इससे उनके जीवनका कल्याण होगा, तब दूसरी बात है। यह किसी अंशमें सत्य भले ही हो कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिको दबानेसे हमारे मन और शरीरमें विकार और दोष उत्पन्न होते हैं। पश्चिमके वातावरणमें, वहाँके समाजमें सेक्सकी बातें ऐसी हो सकती हैं जिनपर फ्रायडका सिद्धांत लागू हो। हमारे यहाँका

समाज, हमारे यहाँका पारिवारिक जीवन, पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्रीका सम्बन्ध ऐसा है और न जाने किस युगसे ऐसा चला आ रहा है कि सेक्सकी बातें अधिकांश इस प्रकार नहीं होतीं जिससे बालक बालिकाओंके मनपर कुप्रभाव पड़े, इसलिए किसी प्रवृत्तिको दबाने या रोकनेकी समस्या नहीं उत्पन्न होती।

एक मनोरंजक बात और है। शृंगार-कालीन युग जब पतनकी सीमापर पहुँचा और भक्तिकी वास्तविक भावना न रही, दरबारी कवि राधा और कृष्णके बहाने कामोत्तेजक और वासनापूर्ण रचनाएँ अपने संरक्षकोंको सुनाने लगे, उस समयकी रचनाओंपर वर्तमान युगके आलोचकोंका तीक्ष्ण आक्षेप होता है। उन्हें वासनाके यज्ञमे घी डालने वाला कहा जाता है, कामको जाग्रत करने वाला कहा जाता है और नाना प्रकारके लांछनोंसे उनका स्वागत किया जाता है। मेरे सम्मुख अनेक ऐसी रचनाएँ आयी हैं जो शृंगार-कालीन रचनाओंसे भी अधिक उत्तान शृंगारसे परिपूर्ण हैं और मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्यकी गति-विधिसे जो लोग परिचित हैं, उनके सम्मुख भी आयी होंगी।

यदि उपर्युक्त कुप्रवृत्तियाँ यथार्थवादी साहित्यसे निकाल दी जायँ तो मैं समझता हूँ कि यथार्थवादी साहित्यसे किसीका विरोध न होगा और यथार्थवाद आदर्शवादका पूरक हो जायगा।

वास्तविकता तो यह है कि हमने अपने साहित्यकी गति-विधिका निरीक्षण और परीक्षण समुचित ढंगसे नहीं किया। अपवाद हो सकता है किन्तु अधिकतर साहित्यकार किसी न किसी दल, किसी न किसी वादके समर्थक और संरक्षक होकर साहित्यकी रचना अथवा आलोचना करते हैं। इसीसे हमारे साहित्यका वह उत्कर्ष, उसकी वह उन्नति नहीं दृष्टिमें आती जो इतने दिन पराधीन रहनेपर भी हमारे ही देशकी और भाषाओंके साहित्यमें दिखाई देती है। बहुतसे साहित्यकार स्वयं अपने सम्बन्धमे यह निश्चित नहीं कर पाते कि हमारा ध्येय, हमारा लक्ष्य क्या है और कभी एक वादको लेकर रचना करते हैं कभी दूसरे। हमारे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि साहित्यकार अपरिवर्तनशील हों। पं० मोतीलाल नेहरूने कहा था कि अपरिवर्तनवाद तो रासभकी विशेषता है। कविके विचारोंमे परिवर्तन हो और होना आवश्यक भी है किन्तु वह परिवर्तन उन्नतिकी सीढ़ीके समान हो जिससे उत्तरोत्तर रचनामे विकास होता रहे।

अब हमारा देश स्वाधीन हो गया है। हिन्दी राजभाषा घोषित कर दी गयी। २५ वर्षोंमे यह राजकीय कार्योंमें भी व्यवहृत होने लगेगी। विश्वविद्यालयोंमे हिन्दी-

का प्रयोग होने लगा। अब हमें थोडी आत्म-परीक्षा करनी चाहिये कि हम कितने और कैसे साहित्यका सर्जन कर रहे हैं। हम हिन्दीको हेय नहीं समझते। हिन्दीमें जो साहित्य उपलब्ध है, उसपर हमें गर्व है किन्तु हम यह भी जानते हैं कि जिस साहित्य का उत्तराधिकार हमें मिला है और जिस साहित्यको हम राष्ट्रके सम्मुख रखना चाहते हैं उसके अनुरूप हमारे पास साहित्य नहीं है। प्रत्येक युग में सूर और तुलसी नहीं हो सकते, किन्तु प्रत्येक युगमें उस युगकी सच्ची प्रतिध्वनि तो सुनाई देनी ही चाहिये। पहले कहा जा चुका है कि देश और समाजका कल्याण एटम बम और हाइड्रोजन बमसे नहीं हो सकता, राष्ट्रकी भूखी आत्मा और प्यासे हृदयकी भूख और प्यास साहित्य द्वारा ही मिटायी और बुझायी जा सकती है।

साहित्य किसी देशके महान् व्यक्तियोंके महान् विचारोंका समूह है। साहित्य की महत्ता व्यक्तियोंकी महत्तापर निर्भर है और साधना बिना कोई महान् हो नहीं सकता। तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ या गांधीने जो कुछ दिया है उससे किसीको असहमति हो सकती है किन्तु उनकी तथा उनके विचारोंकी महत्तामें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। उनका साहित्य देश और कालकी परिधिको पारकर विश्व साहित्यके सिंहासनपर जा बैठा है। वह साहित्य साधनाके बिना सम्भव नहीं था। साधनाका अर्थ यह न लगाया जाय कि हिमालयकी हिमाच्छादित गुफामें बैठकर अथवा किसी नन्दन वनमें प्रातःकालसे सायंकाल तक शीर्षासन करते हुए प्राप्त होनेवाली कोई वस्तु है। साहित्यिक साधना अध्ययन, मनन तथा विवेकाविवेकपर आधारित है। अपरिपक्व विचार तथा बिना अध्ययन और मननके निर्मित रचना उस कविताकी भाँति है जिसपर कवि सम्मेलनमें सुनकर लोग खूब तालियाँ पीटते हैं किन्तु छपनेपर वह नीरस, निरर्थक तथा भद्दी दिखाई पड़ती है। इस जन-जागरणके युगमें हमारा साहित्य जनता और जीवनसे अलग नहीं होना चाहिये और नवीन [illegible] विचारोंका समावेश उसमें होना आवश्यक है किन्तु वह अपनी प्राचीन [illegible] परम्पराओंकी रक्षा, अपनी संस्कृतिके प्रति सम्मान तथा भक्ति लिए

नहीं होता, इस साहित्यके हृदय तक पहुँचनेके लिए साहित्यकारकी बुद्धिके स्तर तक पाठकको परिश्रम करके पहुँचना होगा, किन्तु ऐसे साहित्यका हम तिरस्कार नहीं कर सकते। ऐसा साहित्य उस सुवर्णके समान है जिसे प्राप्त करनेके लिए पर्वतोंकी चट्टानें तोड़नी पड़ती हैं। तुलसीके समान साहित्यकार तो विरले होते हैं जिसका रस साधारणसे साधारण मनुष्य पान कर सकता है तथा जिसकी गहराईमें बुद्धिमानसे बुद्धिमान मनुष्य डूबा रहता है। हमें दोनों प्रकारके साहित्योंकी आवश्यकता है और अपनी क्षमताके अनुसार हिन्दीके साहित्यकारोंको दोनों प्रकारोंकी रचना करनी चाहिये। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटककी रचना तो होनी ही चाहिये क्योंकि समाजके चित्रणके ये साधन हैं। इनके अतिरिक्त भी साहित्यके और अंगोंकी पूर्ति और पुष्टि आवश्यक है। साहित्यका ध्येय जब देश और समाजकी उन्नति है तब उन सबकी ओर हमारी दृष्टि जानी चाहिये जो इस समय हमारे देशके उन्नयनमें सहायक होंगे। स्वाधीन भारतका उत्तरदायित्व बढ़ गया है। विश्वकी दृष्टि इस ओर लगी है। पश्चिमकी गति विधि देखकर लोगों को वहाँकी मान्यताओंपर संदेह होने लगा है। जड़ वादसे पोषित विज्ञानपरसे लोगोंका विश्वास हट रहा है। यद्यपि ऐसे विचारकोंकी संख्या अभी कम है। जाग्रत एशियाकी दृष्टि भी भारतकी ओर है। हमारी ओर क्यों लोग देख रहे हैं? हमें विश्वके सम्मुख ऐसे विचार रखने हैं जिनसे सबका कल्याण हो। हमारे वैदिक अथवा विश्वकी आदि सभ्यताके प्रवर्तकोंने मानवात्माकी स्वतंत्रता और आत्मविश्वासकी प्रतिष्ठापर अधिक जोर दिया है। इसी कारण आजतक उस साहित्यकी पूजा होती है और संसार उन विचारोंको आदरकी दृष्टिसे देखता है। हमें उस ऊँचाई तक पहुँचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। कमसे कम ऐसा साहित्य तो हम सबके सामने रखें, जिससे सबका मंगल हो।

युद्धके पश्चात् हमारी मर्यादाका, हमारे आदर्शोंका पतन हो गया है। इसका अनुभव पद-पदपर हमें होता है। हमारे विचार, विश्वास और व्यवहारमें एक रूपताका अभाव हो गया है। इसका कारण जो भी हो, हिंदीका साहित्यकार इससे मुक्त नहीं है। उसे वादोंके झमेलोंसे दूर रहकर साहित्यका सर्जन करना चाहिये जो सार्थक उपयोगी तथा प्रेरणात्मक हो। ऐसा साहित्य ही संसारके सम्मुख प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है जिसमें जीवनका वास्तविक मूल्यांकन हो और अपनी प्राचीन संपत्तिकी रक्षा हो। तुलसीदासने कुछ ही शब्दोंमें जो निर्देश किया है वह हमारा मूलमंत्र होना चाहिये—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहं हित होई॥

इससे अधिक सत्साहित्यकी व्याख्या क्या हो सकती है?

आजके युगमें भय है साहित्यके वर्गीकृति 'रेजिमेंटेशन' की। इससे सावधान रहना प्रत्येक साहित्यकारका कर्तव्य है। दूसरे देशोंमें ऐसा हुआ है। साहित्यका यज्ञ समझकर राजनीतिक चाहता है कि साहित्यकार हमारे कृत्योंका समर्थन करे। हमारे सिद्धान्तोंका गीत गाये। कभी-कभी विषम परिस्थितियोंमें साहित्यकारको प्रचारक बनना पड़ता है किन्तु उस अवस्था तक ही वह सीमित रहना चाहिये। साहित्य राजनीतिकी पूँछ नहीं बन सकता। राजनीतिके संकेतपर चलनेवाला साहित्य उस पतिके समान है जिसका शासन उसकी पत्नी करती है। और ऐसे पतिके सम्बन्धमें आप भली भाँति सोच सकते हैं कि उसकी कितनी स्वाधीनता होगी, क्या उसकी सत्ता और महत्ता होगी?

साहित्यिक सिद्धान्तोंकी मीमांसाके साथ-साथ अपने साहित्यकारोंके सम्बन्धमें भी कह देना आवश्यक समझता हूं। पहले तो विदेशोंमें भी किसी युगमें साहित्यकार समाजका उपेक्षित अंग रहा है किन्तु और देशोंमें अवस्था बदल गयी। हमारे देशमें हिंदीके साहित्यकारका कोई अस्तित्व नहीं समझा जाता। कवि-सम्मेलन न हों तो बहुतसे कवियोंको राशनकी व्यवस्था करनेमें भी कठिनाई होगी। जो प्रोफेसर, अध्यापक, पत्रकार आदि नहीं हैं, केवल साहित्य सर्जनके भरोसे जीवित रहते हैं, वह केवल जीवित रहते हैं। ऐसे लोगों का यदि फोटोग्राफ एकत्र किया जाय तो तुरत पहचान लिया जायगा कि यह हिंदीके साहित्यकार हैं। आशा तो हम उनसे यह करते हैं कि यह विश्व साहित्यका निर्माण करेंगे। शा, इबसन, ईलियट, बर्ट्रेंड रसेल, या पर्लबकके समकक्ष हम इन्हें देखना चाहते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि इनकी अवस्था क्या है। पत्रोंसे जो 'पत्र-पुष्प' मिल जाता है उसीके सहारे यह जीते हैं। पत्र-पुष्पपर जीने वाला मानव कैसा होगा आप कल्पना कर सकते हैं। किसी युगमें कन्दमूल फल खाकर लोग महर्षि बन जाते थे। आज

मिलती है। कुछ लोग सरकारका द्वार खटखटाते हैं और उदारमान सरकार प्रत्येक वर्ष पांच-सात व्यक्तियोंको पुरस्कार दे देती है। जहाँ सरकारके सम्मुख इतनी राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय समस्याएं रहती हैं वहाँ साहित्यकारोंकी ओर भी उसका ध्यान रहता है यह साधारण बात नहीं है। समाजको अभी साहित्यकारोंके महत्त्वका ज्ञान नहीं और जब तक समाज इस ओर जागरूक नहीं होता साहित्यकारोंकी मान-मर्यादा, तथा जीवन स्तरमें किसी प्रकारका सुधार सम्भव नहीं है।

फिर भी साहित्यकारोंको निराश और हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है। उसका कार्य बड़ा पावन है। यद्यपि इस आर्थिक युगमें किसीसे त्याग तथा बलिदान की आशा करना ऊँटसे संस्कृत उच्चारण कराना है। इनकी एक सीमा भी होती है तब भी कुछ तो करना ही पड़ेगा। कुछ समय तक जब तक समाजमें चेतना नहीं आती उसे अपनी हड्डी गलानी पड़ेगी। वह तो दधीचिकी भाँति समाजकी सुरक्षाके लिए अपनेको मिटाकर वज्रका दान देगा। उसका सन्तोष तथा पुरस्कार इसीमें है कि उसने समाजका नेतृत्व किया है; समाजको संजीवनी दी है; मानवताका कल्याण किया है।

[१९५०

राष्ट्रभाषा हिन्दी

[यह भाषण उत्तर प्रदेशीय हिंदी साहित्य सम्मेलनके नौवें अधिवेशनके अवसरपर प्रतापगढ़में अध्यक्ष पदसे दिया गया था।]

मित्रो,

मैं आप सब लोगोंका आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस आसनपर बैठाया है। यह आभार स्वीकार करना केवल परम्पराका पालन नहीं है। आजकल किसी सम्मेलनका सभापतित्व किसी जनरलके पदसे कम महत्व नहीं रखता। इस युगमें साहित्यिक संस्थाओंके अध्यक्षको केवल साहित्यिक गतिविधिकी देख-रेख ही नहीं करनी पड़ती यदा-कदा युद्धका संचालन भी करना पड़ता है। संग्रामके टेकनिकसे मैं उतना ही अनभिज्ञ हूँ जितना कुरता या पाजामा सीनेकी कलासे। फिर भी आपने मुझपर विश्वास किया है यह आपकी उदारता है।

आजका वातावरण राजनीतिक है। एक सहस्राब्दीकी दासतामें जितनी राजनीतिक शिथिलता देशमें रही उसे स्वतंत्र भारत दो-चार वर्षोंमें पूरा करना चाहता है। जैसे नीरोग होने पर लालची रोगी रोगकी अवधिके उपवासको भोजनोंका [illegible] करके शरीर तथा मनको सन्तुष्ट करना चाहता है। इस नवयुगमें राजनीतिका अर्थ है चुनाव और वोट। साहित्य चर्चा इससे उतनी दूर है जितना काशीसे मक्का। इन चुनावोंमें राजनीतिक लोग फंस रहे हैं, साहित्यका संदेश उन्हें अच्छा नहीं लग सकता। यह तो हम नहीं कह सकते कि साहित्य और संस्कृतिकी ओरसे हमारे राजनीतिक नेता सर्वथा विमुख हैं। स्वयं अपने उत्सवोंमें, दूतावासोंमें पृथक या

मनीपुरी नृत्यका आयोजन करते हैं, विख्यात नर्तकोंकी सहायता करते हैं। ऐसे सम्मेलन भी बुलाते हैं जिनमें भाषा तथा साहित्यके सम्बन्धमें भाषण होते हैं। शासकों, राजाओं तथा सामन्तोंका यह ढंग रहा है। बड़े-बड़े राजा अपने यहाँ चित्र टाँगते हैं जिससे उनके प्रासादके दर्शक यह समझ लें कि राजा साहब कलाके प्रेमी तथा पंडित हैं चाहे उन्हें यह भी पता न हो कि पलासका फूल लाल रंगमें होना चाहिए कि बैंगनी। यही हाल हमारे शासकोंका है। हमारे राज्यकी सरकारने अधिक सहानुभूति तथा उत्साह दिखाया है और प्रतिवर्ष लेखकोंको पुरस्कार देती है। सन्तोषकी बात है कि इन पुरस्कारोंमें पुस्तकोंके महत्वपर ध्यान कम दिया जाता है। जितने लोग पुस्तकें भेजते हैं उन्हें प्राय: सभीको, पुरस्कृत किया जाता है। ब्राह्मण भोजमें जब दक्षिणा दी जाती है तब इस बातपर ध्यान नहीं दिया जाता है कि किसने सांगोपांग वेदोंका अध्ययन किया है, किसने महाभाष्य पढ़ा है अथवा कौन साहित्यका ज्ञाता है। सभीको दक्षिणा देकर आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। हमारे राज्यकी सरकार इस प्रकार सबका आशीर्वाद प्राप्त कर लेती है।

ऐसे युगमें, ऐसे वातावरणमें साहित्यकी चर्चा कुछ वैसी ही जान पड़ती है जैसे माघ मासमें मल्हारका आलाप। हमारे उत्तर प्रदेशका हिन्दीके प्रति बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। हिन्दीपर यद्यपि हमारा ही अधिकार नहीं है, भारतके प्रत्येक राज्यमें जो हिन्दी लिखी जायगी, जो मुहावरे उनके टकसालमें ढलेंगे जो शब्द वह हिन्दीमें चला देंगे, उसके लिए उनका अधिकार है और वह सब हिन्दीमें सम्मिलित होंगे।

ताजमहल केवल मकरानाके संगमर्मरसे बनकर सौन्दर्यकी मूर्ति बन सकता है जिसके आगे सभी सहृदय हिन्दू तथा मुसलमान नत मस्तक हों किन्तु हिन्दीके लिए यह सम्भव नहीं है कि केवल काशी, प्रयाग, लखनऊ, कानपुर, आगरा या गोरखपुरके कारखानोंमें जो भाषा ढाली जाय वही हिन्दी है। बंगाल, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा दक्षिण भारत सभीके प्रयत्नों तथा यत्नोंको रत्नोंकी भाँति एकत्रकर राष्ट्रभाषाका शृङ्गार हम करेंगे और तभी हमारी राष्ट्र भारती हिन्दी, वेद वाणी संस्कृतकी भाँति एक रूप होकर सारे देशमें फैलेगी, किन्तु सारे देशमें गंगाकी अपार महिमा होते हुए भी गंगोत्रीका स्रोत यदि बन्द हो जाय तो देशकी समस्त सरिताएँ भी मिलकर गंगाका निर्माण नहीं कर सकती। उत्तर प्रदेश हिन्दीका गंगोत्री है। हिन्दीकी शोभा, इसकी सुषमा, इसका महत्व बनाये रखना और लोगोंकी अपेक्षा इस प्रान्तके

निवासियोंपर अधिक निर्भर है। यह मैं नहीं कहता कि हमारे प्रान्तके लोग उदासीन हैं। सरकारकी कृपासे ज्यों-ज्यों प्राइमरी स्कूल प्रत्येक गाँवमें बनते जाते हैं और उनकी संख्या भरसक रोगीकी भूखकी भाँति बढ़ती जाती है। कवियोंकी संख्या भी बढ़ती जाती है और कभी-कभी ऐसा भय लगता है कि कहीं ऐसा न हो कि सरस्वतीके वरदानका भाडार रिक्त न हो जाय और आगे आनेवाली पीढ़ीको कवि होनेसे वंचित न होना पड़े। कहानीकार इतने अधिक हो रहे हैं कि इतनी पत्र पत्रिकाएँ नहीं हैं जिनमें वह प्रकाशित हो सकें और बहुत सी कहानियाँ उस युगकी प्रतीक्षा करती हुई फाइलोंमें पड़ी हैं जब देशके प्रत्येक नगरके प्रत्येक वार्डसे पत्र निकलने लगें। हिन्दीके वह विद्वान जिन्होंने भाषाके महासागरमे डुबकियाँ लगाकर असंख्य रत्न एकत्र किए हैं, कोष भी प्रस्तुत करते चले जा रहे हैं। उनमें बहुत कुछ ऐसे हैं जिनके दोषके लिए भी एक कोष आवश्यक होगा, किंतु साहित्यकी अभिवृद्धि हो रही है, इसमें किसको सदेह हो सकता है? और यदि यही ढंग रहा तो हमारे देशके सब लोग साहित्य मर्मज्ञ और विद्वान हो जायँगे। खल केवल वैद्योंके घरमें, अरसिक लक्षण ग्रंथोंमें, अहिन्दी भारतीय विधानमें पाया जायगा, जैसे हमारे प्रांतमें हेडमास्टर शब्द केवल डिक्शनरीमें ही अब मिलता है। जितने अध्यक्ष थे सब अब प्रिन्सिपल हो गए।

यह सब होते हुए भी साहित्यके आकाशमे प्रकाशका अभाव है। खद्योतकी क्षणिक ज्योति भले ही दिखाई पड़े, सूर्य्य और शशिका अदर्शन ही है, वह लोप हो गए। हम कमसे कम विधानत स्वतत्र हैं विदेशोंकी दृष्टिमें हम स्वतंत्र गिने जाते हैं। हिन्दी स्वतंत्र देशकी राष्ट्रभाषा है तब उसका साहित्य भी वैसा ही होना चाहिए, उसी मानदण्डका, उसी ऊँचाईका, उसी गहराईका जैसा रूस, जर्मनी, इङ्गलैण्ड, अमेरिका ऐसे स्वतंत्र देशोंका होता है। मैंने बहुत सोचा कि अपने युगकी कौन पु तक, कौन रचना ऐसी है जो विदेशी कृतियोंके सामने रक्खी जाय। सम्भव है जिस बातमें मुझे सफलता नहीं मिली उसमें और लोगोंको मिल जाय, किन्तु इतना तो विश्वाससे मैं कह सकता हूँ कि ऐसी रचनाएँ जो विदेशी कृतियोंके बराबर हों बहुत ही कम है। इतनी सख्या इतनी कम है कि वह नहीं के समान है। साहित्य प्रेमियों, साहित्यकारोंका कर्तव्य है कि इस ओर अधिक मनोयोगसे ध्यान दें। विधिकी विडम्बना ऐसी है कि साहित्यिक संस्थाएँ पानीपत और हल्दीघाटी बन गयी है। साहित्य निर्माण भूसा समझा जाता है और पदाधिकार गेहूँ। मैंने भूल की। भूसाका तो महत्व होता है किन्तु साहित्य निर्माणका कोई महत्व रह

नहीं गया। साहित्य स्रष्टा और साहित्यके प्रति रुचि रखनेवाले उदासीन हैं जिसके परिणाम स्वरूप साहित्यिक संस्थाओंकी स्थिति दयनीय हो गयी है। इसके लिए जो भी उत्तरदायी हो उसका आचार अनुचित तथा अवांछनीय है। हम साहित्यकारोंके मतभेदको सहन कर सकते हैं। रसवादी, प्रगतिवादी, छायावादी, रीतिवादी अपने-अपने विचारोंके साथ बंधे रहें हमें इसकी चिन्ता नहीं। हम लोग अपने भेद दूर कर लेंगे उनका समन्वय कर लेगें, किन्तु जब अनधिकारी व्यक्ति साहित्य-के मंचपर अपनी प्रतिष्ठाके उत्कर्षके लिए उछलकर चला आता है तब हमें दु.ख होता है, हमें आक्रोष होता है। हिन्दी साहित्यका ही मैदान ऐसा है जहाँ अनधिकारी घुस आते हैं। हम हिन्दी साहित्यके प्रेमी यदि इस ओर ध्यान नहीं देते तो हिन्दीका अहित निश्चित है और हिन्दीका भविष्य अन्धकारमय है। हम मानते हैं कि व्यक्तिगत ढंगसे हिन्दीके विद्वान साधना करते हुए साहित्यका सर्जन वर सकते हैं। और अमूल्यसे अमूल्य रत्नोंसे भारतीका भण्डार भर सकते हैं किन्तु साहित्यका वहुत सा कार्य इतना विशाल, इतना दुस्कर और इतना विस्तृत है कि व्यक्तियोंकी शक्तिकी सीमासे वाहर है। उन कार्योंके लिए इतना धन अपेक्षित है, इतने साधनोंकी आवश्यकता है कि वे या तो संस्थाओं द्वारा सम्पन्न हों या राज्यकी सरकारों द्वारा। हमें चाहिए कि हम प्रयत्न करे कि साहित्यिक संस्थाएँ साहित्यिकों द्वारा संचालित हों और उन्हींका उनपर अधिकार हो। प्रगतिशील, पुरातनवादी सभी साहित्यिक विना किसी रोक-टोकके, सभी विचार धाराओंके प्रतिनिधि, उसमें आयें और वे हमारी साहित्यिक गति-विधिकी देख-रेख करें और साहित्य निर्माण करे और राष्ट्रभाषाकी श्री वृद्धि करे।

जब हम साहित्य निर्माणका स्मरण करते हैं बरबस विश्वविद्यालयोंका दृश्य हमारे सम्मुख आ जाता है। अलीगढ़ छोड़कर चार विश्वविद्यालय ऐसे हैं जहाँ हिन्दीका प्रमुख स्थान हैं। इन विश्वविद्यालयोंमें ढलाईका काम होता है। बी० ए०, एम० ए० और डाक्टरीके साँचे वने हुए हैं। प्रत्येक वर्ष माडल वनते चले जाते हैं। ढालना अनुचित नहीं है यदि पैमानेसे हो। प्रतिवर्ष डाक्टर वनते हैं। अनुचित वात नहीं है। वाजारमें मूल्य वृद्धिके लिए ठीक भी है। किन्तु डाक्टरोंकी वृद्धिके साथ राष्ट्र-भाषाके रोग भी वृद्धिपर हैं। भाषाकी न तो एकरूपता है, न व्याक-रणका पता है, न गठनका। कोई युग था कि एक महावीरने भाषाका नियंत्रण किया, उसे संस्कृत किया, उसका आदर्श स्थिर किया। आज हिन्दीका प्रत्येक लेखक पाणिनी और मम्मट बना बैठा है। यह उसकी शालीनता है अपनेको

उनसे बड़ा नहीं कहता। इसके लिए हमें उन्हें धन्यवाद देना चाहिये। इन मम्मटों और अभिनव गुप्तोंके बीच हिन्दीका प्रसार हो रहा है। सभीके लिखनेका ढङ्ग भिन्न, व्याकरण भिन्न यहाँ तक एक ही शब्दकी वर्तनी भी भिन्न भिन्न हैं। स्वतन्त्रताकी भावनाका सबसे अधिक प्रभाव हिंदीपर पड़ा है। जगद्गुरु शंकराचार्यकी भाँति हिंदीका प्रत्येक लेखक सर्वतंत्र स्वतन्त्र है। सब लेखकोंको एक ही मंत्र स्मरण हैं—जो लिखा सो हिंदी। विश्वविद्यालयोंके आचार्य भाषा तथा साहित्यके पंडित हैं। मेरे विचारसे उनका यह कार्य है कि हिंदी भाषा और साहित्यपर शासन करें। वह जिस आसनपर हैं वह तख्त ताऊससे कम महत्वका नहीं, उन्हें अपनेको बिना मुमताज बेगमके शाहजहाँ समझना चाहिये और यह देखना चाहिये कि हिंदी भाषा और साहित्यके राजमें किसी प्रकारकी उच्छृंखलता न फैलने पावे। वे जिसे दीक्षा देते हैं, वह औरोंको शिक्षा देते हैं। यदि उन्होंने रोक-थाम रक्खी तो हिंदीकी गति एक ढर्रेसे रहेगी और आज जो अनाचार फैला हुआ है उसमें नियम तथा संतुलनका संचार होगा। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हिंदीके शरीरको नियमोंकी लौह शृंखलासे इतना कसकर बाँधा जाय कि वह सूख जाय। हमारा अभिप्राय यह है कि हिंदीका साहित्य और हिंदी भाषा जंगल न बन जाय जहाँ प्रत्येक तृण और प्रत्येक वृक्ष जहाँ चाहता है उगता है और जिधर चाहता है फैलता है। हम तो हिंदीको इतना सुरम्य आरामदेह देखना चाहते हैं जहाँ साहित्यका बटोही विश्राम करें। जिसके पुष्प रंग-बिरंगे किंतु मनमोहक हों जिसके प्रत्येक पौधेकी प्रत्येक डाली चित्रके समान आकर्षक हो, जिसकी नन्हीं दूब भी मखमलके समान नयनसुख दे। हमारा अनुरोध है कि विश्वविद्यालयके हिंदीके आचार्य ऐसे व्रजके वनमाली हों। हिंदी साहित्यकी मोटरकार जिस गतिसे चल रही है उसके लिए आवश्यक है कि उसकी स्टियरिंग अपने हाथमें यह लोग लें, नहीं तो किसी अनाड़ीके हाथमें यह गाड़ी कहीं टकरा जायगी।

संसदने हिंदीको राष्ट्रभाषा देशके लिए स्वीकार कर लिया है। १५ वर्षकी अवधि उसके लिए रक्खी गयी है जिन लोगोंके हाथमें शासनका सूत्र है उनकी बातों तथा उनके कार्योंसे जान पड़ता है कि वह इस प्रश्नको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं, योरप तथा अमेरिकाके चश्मोंके शीशोंमें विचित्रता होती है कि उसके द्वारा पश्चिमकी वस्तुएँ बड़ी और पूरबकी वस्तुएँ अणु समान दिखाई देती हैं। हमारे राष्ट्र संचालकोंकी आँखोंपर ऐसा ही चशमा लगा हुआ है। उनकी दृष्टिके सामने हिंदी नगण्य है। उन लोगोंके सामने भी हिन्दीकी क्या हस्ती हो

सकती है, जिनका गला हाफ़िज़ और सादी द्वारा खींची हुई शीराजी अर्गवानीसे सींचा जाता है। अब तो हमारा काम है कि इन लोगोंके सम्मुख हिंदीका ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करें कि उन्हें विवश होकर इसके वशमें आना पड़े। कान्फ्रेन्सोंकी पुकारसे उनके कान खड़े न होंगे। प्रस्तावोंकी माला उन्हे आकृष्ट न करेगी। हमें यह दिखा देना होगा ठोस साहित्य निर्माण कर, जिससे वह हिंदीका महत्व माननेके लिए मजबूर हो। हम दयाकी भीख और सहानुभूतिका प्रसाद नहीं चाहते, हम निष्पक्ष अपना अधिकार उनके सम्मुख रक्खे और यह अधिकार तभी शक्तिशाली होगा जब हम ऊँची श्रेणीका अच्छे आदर्शका साहित्य निर्माण करेंगे। यदि ऐसा न हुआ तो पंद्रह वर्षकी अवधिको कौन कहे इससे भी लम्बी अवधि बढ़ सकती है। विधान बदलनेमें विलंब नहीं लग सकता। वह तो हाथ दिखानेका खेल है, हम चाहें तो इस अवधिको कम कर सकते हैं किन्तु अभी उस ओर हम क्रियाशील नहीं हैं। हिन्दी वाङ्मयके सभी अंगोंका पुष्ट होना आवश्यक है। केवल सूर और तुलसीके भरोसे हिंदीकी गाड़ी कब तक खींचते रहेंगे। इतिहास, विज्ञान, दर्शनकी पुस्तकोंकी भी रचनाएँ हम प्रस्तुत करें। कोई हमारे सामने यह न कहनेका साहस करे कि अमुक विषयकी पुस्तक हिंदीमें नहीं है।

यद्यपि किसी भाषाको राष्ट्रभाषा होनेके लिए उस भाषामें सब विषयोंकी पुस्तकों का होना आवश्यक नहीं है। उसके लिए तो और गुणोंकी अपेक्षा है कि जिसके संबंधमें अनेक लोग अनेक वार अनेक ढंगसे कह चुके हैं। इतना अवश्य है कि हम संपन्न रहेंगे तब किसीको किसी प्रकार अँगुली उठानेका साहस न होगा।

उत्तर प्रदेशकी सरकारने वैधानिक ढंगसे निश्चय कर लिया है कि सारा सरकारी कार्य हिंदीमें होगा। इसके लिए वह हमारे धन्यवादकी पात्र है। बहुत सी बातोंके संबंधमें हमने देखा है कि सरकारकी आज्ञाएँ न माननेमें उसके कर्मचारी अधिक गौरव समझते हैं। कहीं इसी भाँति यह आज्ञा भी न रह जाय। टाइप रायटरके अभावकी खांई, पारिभाषिक शब्दोंके अभावका पहाड़, हिंदी न जाननेवालोंका सागर सदा सामने रहता है। * हिंदीके लिये इसे कौन पार करे कौन लांघे। हम आशा करते हैं कि हिन्दीके लिये अब ऐसा न होगा और इन कठिनाइयोंकी दुहाई न दी जायगी। मैं जैसा पहले कह चुका हूँ, इस

---

* प्रसन्नताकी बात है कि इस प्रांतमें सरकारकी ओरसे हिंदीका दिनों-दिन कार्य बढ़ रहा है।—ले०

प्रातका उत्तरदायित्व अधिक है। इस राज्यके सरकारको भी इस ओर गम्भीरतासे देखना चाहिये। भवन-निर्माण, नहरका निर्माण, सड़कका निर्माण, अस्पतालका निर्माण, उसके कार्यक्रम तथा योजनाएँ है। ठीक है। इस निर्माण मालामें साहित्य-निर्माणका भी एक मनका होना चाहिये। सरकारका धन व्यय हो रहा है। यह मैं कैसे कहूँ—कि वह अपव्यय है। मैं प्रादेशिक सरकारका आडीटर नहीं हूँ—किंतु इतना कह सकता हूँ—कुछ धन जो हमारे राज्यकी सरकार साहित्यिक संस्थाओंके लिये व्यय करती है उसका उपयोग और अच्छा हो सकता है। उदाहरणतः हिंदुस्तानी एकाडमी है।

इस संस्थाको राज्यकी ओरसे धन मिलता है। पहले तो इसका नाम ऐतिहासिक भूल है। हिंदुस्तानी बहुत दिन हुए साकेत लोकमे प्रतिष्ठापित हो चुकी है। भगीरथ प्रयत्न करनेपर भी लोग उसे प्राणदान नहीं कर सके। फिर हिंदुस्तानी एकाडमी का आज क्या अर्थ हो सकता है। उसका कार्य भी संतोषकी सीमातक नहीं पहुँचता। साहित्यकार भी थोड़ा-बहुत तो गणितसे संपर्क रखता ही है। जितना धन एकाडमीपर लगता है उसके अनुपातमे कार्य होनेमें संदेह है। कोई योजना भी नहीं है। जब जो पुस्तक मिल गयी प्रकाशित कर दी गयी। वहाँसे कुछ पुस्तकें अच्छी निकली हैं इसमे सदेह नहीं। किंतु जो आशा लोगोंको थी वह फलीभूत नहीं हुई। पहले तो उसका नाम बदल देना चाहिये। यदि सड़कों और गलियों, भवनों और अस्पतालोंका नाम स्वतंत्र भारतमें बदलना आवश्यक है तो सास्कृतिक दृष्टिसे हिंदुस्तानी नाम भी बदलना उचित है। एकाडमी शब्दमें बहुत आकर्षण यदि हो तो भी हिंदी एकाडमी या साहित्यिक एकाडमी इसका नाम होना आवश्यक है। नहीं तो और कोई समुचित नाम रक्खा जा सकता है। हिंदीके विद्वान्, तपे-तपाये साहित्यकार तथा लेखक उसके सदस्य बनाये जायँ। निश्चित योजना हो कि पाँच वर्षमे, सात वर्षमें इस ढंगकी इतनी पुस्तकें प्रकाशित हो जायँ। उसमें सभी विषयोंका ध्यान रक्खा जाय। यदि उसे बंद कर देनेका निश्चय सरकारने किया हो तो वह सबसे अच्छा है। वह धन हिंदीके विकास, उसकी उन्नति, उसकी प्रगतिमे उपयोग किया जाय। सरकार जिस रूपमें चाहे उसकी योजना बना ले। किंतु इस समय जो स्थिति एकाडमीकी है, वह उर्दू कवियोंके आशिकोंकी भाँति है। जी भी रही है, मर भी रही है। उसके मरनेमे अधिक हित है। जिलाना है तो इस रूपमे वह जी नहीं सकती। कम से कम स्वस्थ रूपमें।

अन्य देशोंकी सरकारें साहित्य रचनेका कार्य नहीं करतीं। वह धनसे अथवा और ढंगसे सहायता कर देती हैं।* अनुदान दे देती हैं। वह यह भी आशा करती है कि हम जैसा चाहें वैसा साहित्य बने। सरकारके विचारोंका वहन साहित्यकार करे। जब कोई विशेष विचारधारा, चाहे वह राजनीतिक हो, आर्थिक हो, या धार्मिक हो, साहित्य क्षेत्रमें घुस आती है तब परिणम भला नहीं होता। साहित्यकारको स्वतंत्र होना चाहिये, जो इच्छा हो वह लिखे। विचारक, आलोचक, साहित्यके पंडित समझेंगे कि इसका सत्कार करना चाहिये कि तिरस्कार करना चाहिए। किसी साहित्यपर जब तक वह ऐसा प्रगट न हो कि उससे समाजपर गंदा प्रभाव पड़नेकी आशंका है अंकुश न होना चाहिये। यदि किसी कवि अथवा कहानीकारसे निर्णय कराया जाय कि मुद्राके विनिमयकी दर निश्चित करे, टैक्स लगानेकी कोई विधि बनाये; या उपन्यास लिखने वालेको गवाही के संबंधमें कानून बनानेके लिये कह दिया जाय तो परिणाम क्या होगा उसकी कल्पना हम आप कर सकते हैं। इसी प्रकार साहित्यसे अनभिज्ञ लोग साहित्यपर नियंत्रण यदि करें तो हास्यास्पद हो जायगा। मेरे कहनेका अभिप्राय यह नहीं है कि साहित्य रचना किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेषका अधिकार है। कोई राजनीतिक अथवा सामाजिक नेता अच्छा साहित्यकार भी हो सकता है; और कोई साहित्यकार सामाजिक शास्त्रों तथा विज्ञानोंका पंडित हो सकता है, कर्मठ नेता भी हो सकता है। परन्तु यहाँ मैं साधारण लोगोंकी बात कह रहा हूँ। जहाँ लोग अपने क्षेत्रके बाहर चले जाते हैं सफलताके स्थानपर परिहास हो जाता है। तुलसीदास आइने अकबरी बनाते और अबुलफजल रामचरित-मानस लिखते तो जैसा परिणाम होता उसकी कल्पना कुछ हम कर सकते हैं। इसीलिये साहित्यकारोंको साहित्यके निर्माणमें ही लगना चाहिये। इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि वह संसारकी गतिविधिसे दूर विजन-वनमें बैठकर अथवा पामीरके पठार पर खड़े होकर या हिमालयकी गुफामें लेटकर जहाँसे मनुष्य उतना ही दूर रहता है जितना पृथ्वीसे स्वर्ग, साहित्यका सर्जन करे। ऐसा कोई साहित्य न होगा तो वह अनोखी वस्तु अवश्य होगी। सुनता हूँ हमारे वैदिक वाङ्मयका सर्जन निर्जन-वन और उपवनमें हुआ है जहाँ ऋषियोंके साथी हरे-हरे वृक्ष, शीतल समीर, पक्षी-

---

* इस समय उत्तर प्रदेशकी सरकार सुन्दर पुस्तकोंके प्रकाशन, तथा पुरस्कारमें अच्छी मात्रामें व्यय कर रही है।

पतंग और 'थलचर नभचर नाना' ही थे। उनकी कल्पनाशक्ति, चेतना अवश्य ही बेजोड़ रही होगी कि उनकी रचनाएँ मानव हृदयको छूती हैं। आज भी ऐसे द्रष्टा होंगे। किंतु साधारणतः साहित्यकी रचना मानव समाजके अंदर ही होती है। जो रचना धरती को छोड़कर आकाशमें उड़ती है वह देवताओंके लिये हो सकती है, इंद्र, वरुण, उसका पारायण करें, ईश्वर उनका पाठ करें मनुष्यके लिए वह वैसी ही है जैसे सहाराके पेटमें सोनेका ढेर। साहित्य रचना मानवताकी सेवा है। और साहित्यकार मानवका भला करता है, उनके हृदयको प्रभावित करता है, तमसे ज्योतिमें ले जाता है। साहित्य समाजका दर्पण होकर ही नहीं रह जाता, वह प्रकाश भी देता है। साहित्यकारका रंग कोयलेसे भले ही मिलता-जुलता हो उसका साहित्य सूर्य और चन्द्रकी समता रखता है। जिसकी जितनी साधना होगी, जितनी तपस्या होगी उतना ही प्रकाश हमें उसके साहित्यसे मिलेगा।

यह तो सबको विदित ही है कि हमारे प्रान्तने हिन्दीकी जो सेवाकी है वह किसीने नहीं की है। अब हमें प्रतियोगिताके लिये तैयार रहना चाहिये। पतनोन्मुख देश तथा जातियोंकी वह मनोवृत्ति हमारी नहीं होनी चाहिये कि प्राचीन गौरवकी वीणाके तारोंपर सदा हमारी उँगलियाँ थिरकती रहें। प्रताप गढ़ ऐसे नगरमें भी जहाँ यातायातकी सवारियाँ सड़कोंपर कम हैं यदि हम चलें और गरदन पीछेकी ओर मुड़ी रहे तो हम साहित्य निर्माण करें या नहीं हमारे ऊपर साहित्य रचे जानेकी संभावना है। हमें इसकी प्रसन्नता होनी चाहिये कि दूसरे प्रान्तोंमें हिन्दीके श्रेष्ठ साहित्यकार उत्पन्न हो रहे हैं। हमारा हृदय आनन्दकी तरंगोंसे उस समय आन्दोलित हो जायगा जब बंगालमें, गुजरातमें, आन्ध्रमें, तमिल नाडमें भी प्रसाद और प्रेमचंद, पंत और निरालाके समान साहित्य स्रष्टा होंगे। हमें कदापि ईर्ष्या न होगी, न होनी चाहिए। साथही हम अपने प्रान्तके साहित्यकारोंसे यह निवेदन करेंगे कि हम इस बातका अनुभव करें कि हमारे साहित्यका स्वर्ण-कलश कुछ रीता-रीता दिखाई दे रहा है। यह मानते हुए भी कि सुधाकी तो बूँद ही होती हैं सागर नहीं होता। हमारा यह कलश आकंठ भरित होना चाहिए। हमारा हृदय यह विश्वास करनेके लिए तैयार नहीं होता कि हममें गोर्की, पर्ल बक, फाकनर, इलियट, काडवेल, एजरा पाउन्ड नहीं हो सकते। हम झूठी प्रतिष्ठाके आकांक्षी नहीं हैं तो साथ ही हम हेय मनोवृत्तिके प्रोत्साहक भी नहीं हैं। हममें दो दोष जो आ गए हैं उन्हें हटाना बहुत आवश्यक है। जब कोई साहित्यकार अपनी कृति हमारे सामने रखता है तब हम प्राय इसका असम्मान और निरादर करते

हैं। हम यह नहीं चाहते कि अनुचित और अशिव रचनाओंकी प्रतिष्ठा की जाय। समाजके लिए अमंगलकारी रचनाओंकी भर्त्सना होनी चाहिए किन्तु अच्छी रचनाओं, उत्कृष्ट कृतियोंका समादर होना चाहिए चाहे वह किसीकी हों। उनसे मेरा मत मिलता हो अथवा नहीं। इसी प्रकार नवयुवक जो साहित्य-संसारमें प्रवेश करते हैं उनका हमें हृदयसे स्वागत् करना चाहिए। उनको सब प्रकारकी सुविधा सहायता और समुचित पथ प्रदर्शन करना हमारा धर्म होना चाहिए।

हम अपने प्रान्तके पत्रोंसे भी कुछ निवेदन करना चाहते हैं। हमारे अनेक दैनिक पत्र ऐसे हैं जो किसी भी अंग्रेजी दैनिकके समान हैं। उनके अग्र लेखोंमें वही जीवन है जो अंग्रेजी दैनिकमें होता है। किन्तु वही बात मासिक पत्रोंके संबंधमें नहीं कही जा सकती। यह हमारे लिये कितने दुर्भाग्यकी बात है कि इसी प्रातमे जहाँ हिन्दीका स्रोत है कोई उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिका नहीं है। काशीमें ही शिवका तिरस्कार है। इस ओर ध्यान दीजिये।

प्रांतीय साहित्य सम्मेलनका बहुत महत्व है। इसलिये नहीं कि मैं इसका अध्यक्ष हूँ। इसलिये कि साहित्यकी यहीं चर्चा हो सकती है, साहित्य सर्जनकी बातें यहीं हम सोच सकते हैं। अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलनमें तो नीतिकी बाते निश्चित होती हैं। यह हम देखते हैं कि वह साहित्यकार जो देवताकी श्रेणीमें आ गये हैं इस ओर नहीं देखते। अच्छा किया इसे हमारे ऐसे साधारण मनुष्योंके लिए प्रातीय-सम्मेलनका कार्य छोड़ दिया। जो लोग प्रांतीयताकी सीमा पार कर चुके हैं, अखिल भारतीय अंतर्राष्ट्रीय धरातलसे विश्वको देखते हैं, वह हमारे पूज्य हैं। हमें अपना घर संभालना है, इसे हम संभाले। उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाते रहें। शुभ पर्वोंपर उनका दर्शन करके उनका आशीर्वाद लेते रहें। जहाँ तक हम लोगोंका स्तर है हमारा कर्तव्य होना चाहिये कि सक्रिय हों, माता भारतीके चरणोंमे अपनी अनुभूतिके सुंदरतामे विचारोंकी सुमनावलि चढ़ाते रहें। इतना भी हम करै तो हम कर्तव्य पूरा करेंगे।

इसके लिए प्रातीय सम्मेलनको सुदृढ़, सजीव, गतिमान बनाइये। हिंदी साहित्यका यही गंगोत्री होगा।

[१९५१

आँसू

आँसू करुणाका काव्य है। प्राचीन कालसे ही करुण रसको साहित्यकारोंने शक्तिशाली और महत्वपूर्ण रस माना है। भवभूतिने करुण रसको प्रधानता दी है।[1] अंग्रेजी कवि शेलीने मर्मिक ढगसे करुणाका महत्व बखाना है।[2] इस प्रकार बहुत लोगोंका मत उधृत किया जा सकता है। विप्रलंभ शृंगार जीवनका वह तथ्य है जिसकी संसारके अधिकांश लोगोंको अनुभूति है। और विश्वके श्रेष्ठ कवियोंकी अनेक श्रेष्ठ रचनायें इस रसको व्यक्त करती हैं।

आँसूके दो रूप हमारे सामने हैं। पहला संस्करण जिसमें १२६ छंद हैं। पहले संस्करणमें विशेष क्रम नहीं हैं। शृंखलातो हैही किन्तु भावोंकी, जिस प्रकार कविके मनमें आते रहे। यह सस्करण सन् १६२५ ई० में प्रकाशित हुआ था। आठ साल बाद सन् १६३३ में आँसूका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें १६० छंद हैं। इसमें कुछ क्रम बनाया गया है। चार क्रम इसमें स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। इस समयकी वियोग वेदना, पूर्व स्मृति, मिलनके समयका सुखमय जीवन और प्रियतमका वर्णन और भविष्यका सपना। यद्यपि क्रम, कारण और कार्यके रूपमें नहीं है, बंधन शिथिल है फिर भी क्रम है। जान पड़ता है

१—एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्।
भिन्न पृथक्पृगिवाश्रयते विवर्तान्।

२—our sweetest songs are those, that tell of saddest thought.

कविने नये सस्करणमें इसे खंड काव्यका रूप देनेकी चेष्टाकी जिसका नायक स्वयं कवि है। किन्तु यह मुक्तककी ही श्रेणीमें रखा जायगा क्योंकि कथाका कोई गठन नहीं है। मनोभावोंका ही चित्रण है। दूसरे संस्करणमें छंदोंमें कहीं कहीं परिवर्तन किया गया। यह परिवर्तन पहलेसे अच्छे नहीं थे। और प्रसादजीने इन्हें फिर पूर्ववत् बनाया किन्तु कुछ ज्योंके त्यों परिवर्तित रूपमें ही रहे। उनके बाद इन्हें कौन बदलता।

जैसे पहले संस्करणमें था—

शशि मुखपर घूंघट डाले,
अंचलमें दीप छिपाये,
जीवनकी गोधूलीमें।
कौतूहलसे तुम आये।

दूसरे संस्करणमें बनाया गया—

शशि मुखपर घूंघट डाले,
अन्तरमें दीप छिपाये।

यह परिवर्तन क्यों किया आगे बतलाया जायगा किन्तु। अंचलसे अंतर परिवर्तन असुन्दर हीं नहीं काव्यकी दृष्टिसे वेढंगा हो गया जब यह बात उन्हें सुझाई गई तब उन्होंने पुनः अंचल हीं रहने दिया और अब यही छपता है।

इसी प्रकार पहले सस्करणमें था—

बिष प्याली जो मैं पीलूँ
वह मदिरा हो जीवनमें,
सौन्दर्य पलक प्यालेका
त्यों प्रेम बना है मनमें,

इसका रूप दूसरे संस्करणमें हुआ—

बिष प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा वनी नयनमे,
सौन्दर्य पलक प्यालेका,
अब प्रेम बना जीवनमे,

पहले जो चरित्रकी विशेषता बताई गई थी वह जीवनकी घटना हो गई। काल बदले जानेसे ऐसा हुआ। भविष्यकालसे भूतकाल हो गया। जो पहले संस्करणमें था। यही पाठ अब है।

पहले संस्करणमे था —

तुम रूप रूप थे केवल,
या हृदय भी रहा तुमको
जड़ताकी सब माया थी,
चैतन्य समझकर हमको।

अब यह है—

वह रूप रूप था केवल,
या हृदय भी रहा उसमें,
जड़ताकी सब माया थी,
चैतन्य समझकर मुझमें।

पहले संस्करणका पाठ मुझे सुन्दर जान पड़ता है। वह प्रेमकी अभिव्यक्तिकी व्यंजना है, दूसरे पाठमें कविकी दार्शनिक परिभाषा। पहले संस्करणमें था—

लहरोंमें प्यास भरी थी,
थे भँवर पात्र भी खाली,

दूसरे संस्करणमें काल बदल दिया गया—

लहरोंमें प्यास भरी है,
है भँवर पात्र भी खाली।

यह पहलेसे अच्छा है। प्रेमीकी मानसिक स्थिति बताता है। पहले पाठसे पता चलता है, ऐसा हुआ था उसके पश्चात फिर? दूसरे पाठका और वर्णनसे तारतम्य मिलता है।

आँसूमें मात्रिक छंदका उपयोग किया गया है जो चौदह मात्राओंका है। इसे 'सखी' छंद कहते हैं। इस छंदके प्रत्येक चरणके अन्तमें गुरु होता है। किन्तु प्रसादजीने कहीं कहीं, बहुत कम छंदोंमें, तीसरे चरणके अन्तमें लघु रखा है। इससे कानोंमें बार-बार उसी ध्वनिकी झंकार नहीं आती।

आँसूके सम्बन्धमे दो बातें और कही जाती हैं। यह किसके लिये लिखा गया? इसपर उर्दूकी काव्य शैलीकी छाप है। शेक्सपीयरके सानेटोंके सम्बन्धमें बहुत दिनोंतक विवाद चलता रहा कि यह उसने किसके लिए लिखे हैं। अब

प्राय. निश्चित है कि यह उसने अपने किसी पुरुष मित्रके लिये लिखे हैं जो सुन्दर था—

प्रसादजीके इस छंदमें—

शशि मुखपर घूंघट डाले,
अंचलमें दीप छिपाये,
जीवनकी गोधूलिमें—
कौतूहलसे तुम आये।

'आये' शब्दपर लोगोंने यह अटकलबाजी की कि यह किसी पुरुष मित्रके लिये लिखा। यह विवाद उनके जीवनमें ही चला। पुरुष मित्रपर कविता लिखना कोई पाप नहीं है। शेक्सपीयरका ऊपर वर्णन किया गया है। टेनिसनने 'हैलम' की मृत्युपर 'इन मेमोरियम' बड़ासा काव्य लिख डाला। इसलिये यदि प्रसादजी लिखते तो कोई गर्हित कर्म न था किन्तु घूंघट तथा अंचल शब्दही पर्याप्त हैं यह बतानेके लिये कि यह किसके लिये लिखा है। बारह स्थलोंपर प्रसादजीने इस प्रकारका प्रयोग किया है।

(१) जो उदाहरण उपर दिया गया है।
(२) तुम सत्य रहे चिर सुन्दर,
(३) गौरव था नीचे आये, प्रियतम मिलनेको मेरे,
(४) तुम सुमन नोचते रहते, करते जानी अनजानी,
(५) किसलय नवकुसुम बिछाकर,
आये तुम इस क्यारीमें,
(६) पर समा गये थे मेरे,
मनके निस्सीम गगनमे,
(७) मादकतासे आये तुम, संज्ञासे चले गये थे,
(८) तुम खिसक गये धीरेसे,
रोते जब प्राण विकलसे,
(९) दुख क्या था तुमको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे,

आओगे कुछ न टटोलो,
अपने बिन सूने घरमें,

(११) इस शिथिल आहसे खिंचकर,
तुम आओगे, आओगे,

(१२) मेरी आहोंमें जागो,
सुस्मितमें सोने वाले,
अधरों से हँसते हँसते,
आखोंसे रोने वाले,

सब उद्धरण इसलिए दिये गये कि साधारण दृष्टिसे जिन्होंने आँसू पढ़ा है अथवा जिन्होंने इसका अध्ययन नहीं किया है वह सुनी सुनायी बातोंके कारण भ्रमित हो गये हैं।

प्रसादजीने इस प्रकार क्यों लिखा इसके पीछे ऐतिहासिक और साहित्यिक परम्परा है। फारसीमें रहस्यवादी कवियोंने परमात्माको प्रियतम या माशूक माना है। वही परम्परा उर्दू में आई। परमात्माको प्रियतम माना इसलिये क्रिया पुलिंगमें रखी गई। पीछे कवियोंने पार्थिव प्रेममें भी उसी शैलीका प्रयोग किया। साधारण प्रयोग भी इसी प्रकारका हो गया।

प्रसादजीने यही शैली अपनायी। उनका किसीसे वास्तविक प्रेम था जिसके वियोगमें यह रचनाकी गई या नहीं इसका विवेचन यहाँ नहीं करना है। प्रसादजी को जो लोग जानते रहे हैं वह अधिकारसे कह सकते हैं कि वह बहुतहो परिष्कृत और संस्कृत ढंगके आदमी थे। उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी बीभत्स कल्पना की ही नहीं जा सकती।* आँसू सचमुच प्रेमकी वास्तविक अनुभूतिके बलपर लिखा गया है और वह प्रेम नितांत स्वाभाविक, शुद्ध, और मनुष्योचित रहा। प्रेम करना कोई पाप या अपराध नहीं है। यदि आँसू द्वारा उनके किसी प्रेमका आभास मिलता है तो उसमें किसी प्रकारकी कल्पना सम्भव नहीं। आँसूमें रोमान्टिक तथा छायावादी अभिव्यंजना होनेपर भी प्रसादजीने इसमें रहस्यवादी पुट देनेकी चेष्टाकी है। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रियतमको पुलिंग लिखा है ईश्वरके रूपमें। जिन छन्दोंमें रहस्यवादी ऊँचाई नहीं है वहाँके वर्णनसे

---

* लेखकका उनका पन्द्रहसोलह वर्षोंका बहुत निकटका सम्पर्क रहा है।

उनकी प्रेमिकाकी रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। परन्तु एक ही काव्यमें कई शैलियोंका प्रयोग नहीं हो सकता। इसलिये एक ही शैली अपनाई गई।

आँसूकी मेरी प्रतिमे प्रसादजीका लिखा उत्तर भी है। मेरी दूसरे संस्करणकी प्रति सन् १६३३ की है। प्रसादजीके पास अनेक पत्र भी आये। वह किसी विवादमे कभी पड़ते न थे चाहे उनके प्रतिकूल हो अथवा अनुकूल। यह छन्द अप्रकाशित है किन्तु इसमें आक्षेपका अच्छा उत्तर है।

"ओ मेरे प्रेम बता दे,
तू नारी है कि पुरुष है।
दोनों ही पूछ रहे हैं तू,
कोमल है कि परुष है॥
उनको कैसे बतलाऊँ,
तेरे रहस्य की बातें।
जो तुमको समझ चुके हैं,
अपने विलास की घातें॥"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगोंने शंका उपस्थित की थी उन्होंने आँसूका अध्ययन नहीं किया और उसकी आत्माका स्पर्श करनेका प्रयत्न नहीं किया।

उर्दू कवितामें करुण रसका बाहुल्य है। विप्रलंभ शृङ्गारका ही अधिक विवरण है किन्तु हमारे यहाँ इसकी भी परम्परा नहीं रही ऐसा नहीं कहा जा सकता। विप्रलंभ शृंगारकी करुणा हिन्दी-संस्कृत काव्यमे रही है; विलाप भी रहा है। रामचन्द्र भी विलाप करते हैं और तरु लताओंसे पूछते हैं---

हे खग-मृग हे मधुकर स्रेनी।
तुम्ह देखी सीता -मृग नैनी॥

× × × ×

एहि विधि खोजत विलपत स्वामी।
मनहु महा बिरही अति कामी॥

× × × ×

घन घमंड नभ गर्जत घोरा।
पिया हीन डरपत मन मोरा॥

प्रिय प्रवासमें, भ्रमर गीतमें, उद्धव शतकमें, वियोग वेदना कितनी मार्मिक है किसीसे छिपी बात नहीं है। कहीं-कहीं तो इसका स्पर्श बहुत तीव्र है। रीति-कालके कितने ही कवियोंने वियोग व्यथाके गीत गाये हैं।

भवभूतिके राम भी कहते हैं—

चिरोद्वेगारंभी प्रसृत इव तीव्रो विषरस·
कुतश्चित संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकल
व्रणो रुढग्रन्थि स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पराभूत· शोको विकलयति माँ नूतन इव *

शकुन्तला सुखका नाटक है। सारे नाटकमे विनोद और आनन्दकी लहरें हैं फिर भी पछतावे तथा दु खकी क्षीण रेखा एकाध स्थल पर आ ही जाती है। दुष्यन्त कहता है—

प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया प्रति बाध्यमानमपि सुतम,
अनुशय दु·खायेदं, हृत-हृदयं सप्रति विबुद्धम।

कुछ लोग और आगे जाते हैं। कहते हैं कल्पनायें उर्दूकी हैं, जैसे—

बस गई एक बस्ती है,
स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है—
जैसे इस नील निलय में॥

उर्दू कवि बहुधा दिल और जिगरमें दागोंका वर्णन करते हैं अथवा—

छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से।

इस प्रकारकी कल्पनायें उर्दू शायरीमे अवश्य हैं। उर्दू कवियोंके अनुसार

---

* [पंचवटीका दृश्य है। सीताका वियोग है। प्राचीन स्मृति उमड़ती है। राम कहते हैं:—दारुण, बहुत कालके बाद वेदनाकी शीघ्रताको पैदा करनेवाला और सर्वत्र फैले हुए विषकी भाँति, कहींसे अत्यन्त वेगसे चले तीरके अग्रभागके टुकड़ेकी तरह उपव्रण वाले और हृदयके मर्मस्थलमें फूटे हुए फोड़ेको भाँति पुराना शोक भी नवीनके सदृश होकर फिर मुझे विकल कर रहा है।]

प्रेमी अपने ऊपर सब प्रकारके कष्ट सहता है उसे इसमें आनन्द आता है। मैं जानता हूँ प्रसादजीका उर्दू का अध्ययन नहीं था। साधारण उर्दू जानते थे। हाँ, उसकी गति-विधिसे, परम्परासे जानकारी थी। इस कारण कुछ वैसे भाव आ गये हैं तो आश्चर्य नहीं हो सकता। सभीके अचैतन्य मानसमें कितने भाव छिपे रहते हैं और अभिव्यक्तिके समय अनजाने रूपमें निकल पड़ते हैं। ऐसे ही आँसूमें कहीं-कहीं हो जाना सम्भव है। किन्तु ऐसा एकाध स्थलपर ही हुआ है। इसे स्वीकार करनेमें प्रसादजीका गौरव कम नहीं होता किन्तु यह कहना कि सारा आँसू काव्य फ़ारसी भावोंसे प्रवाहित है भूल होगी। यही नहीं कि इस कविताके अलंकार, अभिव्यंजना, और बाहरी उपकरण सब संस्कृत परम्पराके हैं, भावनाएँ तथा मनोभाव भी सब अपनी परम्पराके हैं।

जिस शैलीमें 'आँसू' लिखा गया है उसे छायावाद कहा जाता है। उस शैलीकी विशेषता भावोंकी अभिव्यंजनामें है। आँसू छायावादी कविता क्यों है, आगे बताया जायगा। यहाँ इस कविताकी अभिव्यंजनामें क्या विशेषता है यही बतानेका प्रयत्न किया जायगा। आँसूके प्रत्येक छन्दमें अलङ्कार सुन्दरतासे सजाये गये हैं, विरोधाभास श्रेणीके जितने अलङ्कार हैं सब किसी न किसी छन्दमें मिलते हैं। असंगति, अर्थान्तरन्यास, विषम, व्याघात, समासोक्ति पद-पदपर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रुपकातिशयोक्तिके चित्ताकर्षक उदाहरण मिलते हैं। यदि प्रत्येक छन्दका अलङ्कार निरूपण किया जाय तो एक अलङ्कारका ग्रन्थ ही हो जाय। किन्तु दो चार उदाहरण दे देना अनुचित न होगा।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख,
क्यों भरा हुआ हीरों से॥

अथवा

विद्रुम सीपी संपुट में
मोती के दाने कैसे
— — —
बुलबुले सिन्धु के फूटे

किसी में उपमेय नहीं है उपमान हीं उपमान है। यह रूपकातिशयोक्तिके अच्छे उदाहरण हैं।

कितनी निर्जन रजनी मे
तारों के दीप जलाये।
स्वर्गंगा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये ॥

कहना है कि रात भर जागते रहे; उसे समासोक्ति अलंकार द्वारा कविने ' सुन्दरतासे व्यक्त किया है। रूपक और उपमाएँ बड़ी कलाकारीसे प्रयोग की गई है। जैसे उपमा :—

घन में सुन्दर बिजली सी
बिजली मे चपल चमक सी।
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक सी ॥

रूपक :—

परिरंभ कुंभ की मदिरा
नि-श्वास मलय के झोंके
× × ×
कामना-सिन्धु लहराता
छवि पूरनिमा थी छायी

विरोधी विचारों तथा शब्दोंको साथ लाकर घनानंदके समान अभिव्यंजनामें मार्मिक विदग्धता उत्पन्न की है .—

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जगके
× × ×
'लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी वलिहारी
× × ×

कोमल कपोल पालीमें
सीधी-सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौंमें बल देखा

× ×

जड़ताकी सब माया थी
चैतन्य समझकर मुझमें

× ×

दीनता दर्प बन बैठी
साहससे कहती पीड़ा

× ×

सुख मान लिया करता था
जिसका दुःख था जीवनमें

× ×

जीवनमें मृत्यु बसी है

श्लेषका प्रयोग बहुत कम किया गया है। एकाध स्थल स्वाभाविक जान पड़ता है यद्यपि कविने उसे चतुराईके साथ रत्नकी भाँति जड़ दिया है :—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तकमें स्मृति-सी छायी
दुर्दिनमें आँसू बनकर
वह आज बरसने आई

इसमें दुर्दिन शब्दमें श्लेष द्वारा चमत्कार उत्पन्न हो गया। छंदमें मुद्रा अलंकार भी अच्छा घटा है।

किन्तु आँसूकी महत्ता उसके अलंकारोंपर नहीं है। वियोग-जनित व्यथाकी ऐसी अभिव्यंजना खड़ी बोलीमें इसके पहले नहीं देखनेमें आती। रचना इतनी रंगीन है और इतनी स्वाभाविक है कि ऐसे काव्यका अच्छा उदाहरण है जिससे साधारणी करण होता है।

आँसूमें प्राय आरम्भसे लेकर अन्ततक वियोगीकी पीड़ाको अनेक रूपोंमें वर्णन किया गया है। केवल ३६ से ४८ छन्दोंमें प्रेमिकाकी सुन्दरताका वर्णन है, तथा ४९-५६ छन्दोंमें मिलनका वर्णन है। १३७ से १४६ छन्दोंमें कविने अपनी वेदना-ज्वालाको सम्बोधित किया है। और अन्तमें कविकी कल्पना है कि मेरे दुःखसे संसारको सुख प्राप्त हो।

प्रेमिकाकी सुन्दरताका वर्णन बहुत सजीव है। जैसे—

घनमें सुन्दर बिजली-सी
बिजलीमें चपल चमक-सी
आँखोंमे काली पुतली
पुतलीमें श्याम झलक-सी

या

बाँधा था विधुको किसने,
इन काली जन्जीरोंसे,
मणिवाले फणियोंका मुख,
क्यों भरा हुआ हीरोंसे

अधर, दाँत, नासिकाकी प्रशंसा किस रूपमें है—

विद्रुम सीपी सम्पुटमे
मोतीके दाने कैसे
है हँस न शुक यह, फिर क्यों
चुगनेको मुक्ता ऐसे

आँखोंका वर्णन देखिए—

तिर रही अतृप्ति जलधिमें
नीलमकी नाव निराली,
काला पानी वेलासी
है अंजन देखा काली

सूरदासकी उत्प्रेक्षायें हिन्दीमें विख्यात है। प्रसादजीने आँसूमें रूपक और रूपकातिशयोक्ति नवीन और समासोक्ति सुन्दर लिखे हैं।

पूर्व मिलनका भी मार्मिक वर्णन किया गया है। भावोंका शब्द चित्र इतना सुन्दर हिंदीमें कम मिलता है। शृंगारका उत्तानरूप है फिर भी चित्रका सौन्दर्य अद्वितीय है।

परिरंभ कुंभकी मदिरा,
निश्वास पवनके झोंके
मुख-चन्द्र चाँदनी जलसे
मैं उठता था मुँह धोके

वियोगमे पूर्व स्मृतिका आना स्वाभाविक होता है और इसलिए उस मिलनका सजीव वर्णन कविकी लेखनीसे हुआ है।

आँसूका आरम्भ जिस संदर्भमें हुआ हो, वह विश्वात्मक 'यूनिवर्सल' कविता हो गई है। स्थल-स्थलपर कवि अपनी पीड़ाको जगतीकी पीड़ा वना देता है। उसका दुख मानवका दुख हो जाता है। उसकी आशा-आकाँक्षायें भो विश्वकी हो जाती हैं.—

मानव जीवन वेदीपर
परिणय हो विरह-मिलनका
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँखका, मनका,

× ×

कल्पना अखिल जीवनकी,
किरणोंसे दृगताराकी
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धाराकी

रहस्यवादके लिये कहा जाता है कि वह ससीममें असीमको देखता है। पार्थिव प्रेमके रुपकमें प्रतीक है अखिल विश्वके स्रष्टा ईश्वरके प्रेमका। जहाँ तक पूरे काव्य-का सम्बन्ध है आँसू व्यक्तिके प्रेमसे धीरे-धीरे उठकर असीमके प्रेमकी अभिव्यक्ति करता है, इसमें सन्देह नहीं।

इस विषय पर विवाद है कि आँसू छायावादी रचना है कि रहस्यवादी। कविता की रचनाका ढंग तो छायावादी है इसमें दो मत नहीं हो सकते। इस बीसवीं

शतीके आरम्भमें हिंदीमें काव्यके अभिव्यजनाका जो नया ढंग चला जिसमें रोमांटिक क्रांतिके साथ-साथ भाषामें कुछ वक्रता, विदग्धता, शैलीमे रंगोनी, और कल्पनाका अधिक प्रयोग, अलंकारोंकी नये ढगसे सजावट हुई, वही छायावाद था। प्रसाद स्वयं इसके प्रवर्तक थे। और आँसू इस प्रकारकी रचनाका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

इस शैलीके होते हुए जहाँ जहाँ कवि लिखते-लिखते इस धरातलसे ऊँचा उठ गया है वहाँ रहस्यवादकी साफ झलक है। जैसे :—

ये सब स्फुलिंग है मेरी
उस ज्वालामयी जलनके
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महा मिलनके

इस संसारमें मनुष्य कुछ स्मृतियाँ लेकर आया है। परमात्माकी थोड़ी छाया जाग्रत रह गयी है। महा मिलनमें तो शान्ति ही रही होगी। फिर संसारमे मनुष्य फेंका गया जिसमे सन्ताप और जलन है। जो कुछ हृदयमे शेष है उसी महा मिलनकी स्मृतियाँ हैं जो वियोगके कारण जलन हैं और जिसमें ज्वाला भी है। अथवा—

छायानट छवि परदेमें
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या कुहुकिनि अंचलमें
कौतुक अपना कर जाता

इस प्रकारके भाव स्थल-स्थल पर आये हैं और इन छन्दोंमें रहस्यवादी झलक है। किन्तु प्रसादजीने जान-बूझकर इस काव्यमें रहस्यात्मकता प्रदानकी हो ऐसी बात नहीं है। दो एक उदाहरण इसे स्पष्ट कर देंगे—

पहले संस्करणमें प्रसादजीने लिखा—

सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुञ्जमें मेरे
चाँदनी शिथिल अलसाई
सम्भोग सुखोंसे तेरे

'सम्भोग सुखोंसे तेरे' स्पष्ट ही प्रियतमसे मिलनेकी स्मृति है। इसी संसारकी, इसी देहकी। यदि सम्भोगसे प्रसादजीका अभिप्राय परमात्मासे मिलनका होता तो दूसरे संस्करणमें इस शब्दको वदलकर 'सुखके सपनोंसे मेरे' न लिखते। सम्भोग शब्द उन्हें कुछ अशिष्टसा लगा इसलिए उसे वदल दिया। इसी प्रकार अनेक छंद ऐसे हैं जो स्पष्ट वताते हैं कि यह मानव प्रेमकी कहानी है।

इससे कविताकी महत्ता नहीं घटती न इसके गौरवमें किसी प्रकारकी कमी होती। शृङ्गारकी यह वहुतही मर्यादित, ऊँची, तथा कवित्वपूर्ण रचना है। यह न समझना चाहिये कि यह छिछले ढंगकी विलास और वासनाकी रचना है। यह दार्शनिक काव्य है। प्रेमकी मानसिक अवस्थाका दार्शनिक निरूपण है। कहींसे छंद उठा लिया जाय तो उसमें मनका दार्शनिक विश्लेपण मिलेगा जैसे—

इस यांत्रिक जीवनमें क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगतीसी ज्योति भरी थी
तेरी सजीवता ममता

अथवा—

कल्पना अखिल जीवनकी
किरनोंसे दृग ताराकी
अभिषेक करै प्रतिनिधि वन
आलोकमयी धाराकी

+ + +

निर्मोह कालके काले
पटपर कुछ अस्फुट लेखा
सव लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुखमय जीवन रेखा

इत्यादि

जीवनके एक महत्वपूर्ण अंगका कविने गहराईसे विश्लेषण किया है। अधिकांश मनुष्यके जीवनमें कभी-न-कभी यह तरंग उठती है साधारण प्राणी इसके

अपूर्व सागर हिल्लोलित रहता है और आत्माका कल्याण भी इसी आत्मानुभूतिमे निहित है।

हे आत्मन्! तुमने इतने दिन विवेकके विना ही विता दिये।

आजका मानव आत्म-दर्शन नही, पर-दर्शनके पीछे पडा हुआ है। उसकी विवेक-परिभाषा भी अपनी स्वतन्त्र है। ऐसी स्थितिमें कविवर के आत्म-दर्शनसे प्रेम रखनेवाले और उसे वास्तविक समझनेवाले कितने हैं? फिर भी इसमे दो मत नही हो सकते कि यदि हम यथार्थ आत्म-शान्ति चाहते है तो हमें एक दिन कविवरके द्वारा बतलाये गये मार्गपर चलना ही पडेगा। "नान्यः पन्थाः"

अहो, या उपदेश माँहीं खूब चित्त लगावना

रहित दूषन विश्वभूषन, देव जिनपति ध्यावना।
गगनवत् निर्मल अचल मुनि, तिनहिं शीश नवावना ॥
अहो, या उपदेश मांही, खूब चित्त लगावना।
होयगा कल्याण तेरा, सुख अनन्त बढ़ावना ॥"

हे आत्मन्! तुम इस उपदेशको बडी संलग्नताके साथ जीवनमें उतारना। इस उपदेशके आचरणसे तुम्हारा कल्याण होगा और इससे ही तुम्हारा अनन्त सुख बढेगा।

आत्मन्! तुम्हारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि तुम ऐसे जिनेन्द्रदेव का ध्यान करो—और उनके आदर्शको जीवनमे उतारनेका प्रयत्न करो, जिन्होने आत्माकी समस्त कालिमाको धोकर उसकी सम्पूर्ण शक्तियोंको विकसित कर लिया है, जो समस्त दोषोंसे रहित हो चुके हैं और विश्वके लिए मनोज्ञ आभूषणके समान जो सर्वप्रिय हैं। नमस्कार भक्ति भी तुम्हारी उन मुनियोके प्रति होनी चाहिए, जिनका चरित्र आकाशके समान निर्मल एव अविचल है।

हे आत्मन्! तुम इस उपदेशको वड़ी सलग्नताके साथ जीवनमें उतारना। इस उपदेशके आचरणसे तुम्हारा कल्याण होगा और इससे ही तुम्हारा अनन्त-सुख बढ़ेगा।

यहाँ कविवर आत्माको सम्यक् धर्मका परिचय देते हुए सम्यक् श्रद्धावान् होनेका उपदेश कर रहे है। वह कहते हैं:—

"धर्म अनुकम्पा-प्रधान, न जीव कोइ सतावना।
सप्त तत्व परीक्षना करि, हृदय श्रद्धा लावना ॥
अहो, या उपदेश मांही, खूब चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त बढ़ावना ॥'

आत्मन्! सच्चा धर्म वह है, जिसमे जीव-दयापर वल दिया गया हो और मनसा वाचा कर्मणा किसी भी जीवको सतानेका विधान न हो।

होते हैं जो कडवी दवाके पीनेमे तनिक भी संकोच नही करते और निर्विकार भावसे श्रद्धापूर्वक उसे गले उतार जाते हैं। अपने उपदेशके सदुपयोग करनेके सम्बन्धमें कविवरकी भी यही श्रद्धा दिखलाई देती है। वह कहते हैं:—

"रुचैं भव्यन को वचन जे, शठन को न सुहावना।
चन्द्र लखि ज्यों कुमुद विकसैं, उपल नहिं विकसावना॥
अहो, या उपदेश मांही, खूब चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त बढ़ावना॥"

यह हितोपदेश भव्य जीवोके लिए, जिनका संसार-वास बहुत निकट रह गया है, ही रुचिकर लगेगा, अभव्य आत्मा इसे सुनकर कभी भी उत्फुल्ल नही हो सकता। चन्द्रोदय होनेपर कुमुद ही तो विकसित होते हैं; पत्थर तो विकसित नही हो सकते।

हे आत्मन्! तुम इस उपदेशको बड़ी सलग्नताके साथ जीवनमें उतारो। इसके आचरणसे तुम्हारा कल्याण होगा और इससे ही तुम्हारा अनन्त सुख बढ़ेगा।

कविवर अपने उपदेशका उपसहार करते हैं:—

"'भागचन्द्र' विभाव तजि, अनुभव स्वभावित भावना।
या शरण न अन्य जगता—रन्य में कहुँ पावना॥
अहो, या उपदेश मांही, खूब चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त बढ़ावना॥"

आत्मन्! अब तुम वैभाविक परिणतिको छोड दो—पर-वस्तुसे ममत्व दूर करो और केवल अपने द्वारा अनुभूत शुद्ध आत्मानुभवमे ही रमण करो। इस भीषण संसार-काननमें इस जीवके लिए केवल आत्मानुभव ही शरण देनेवाला है।
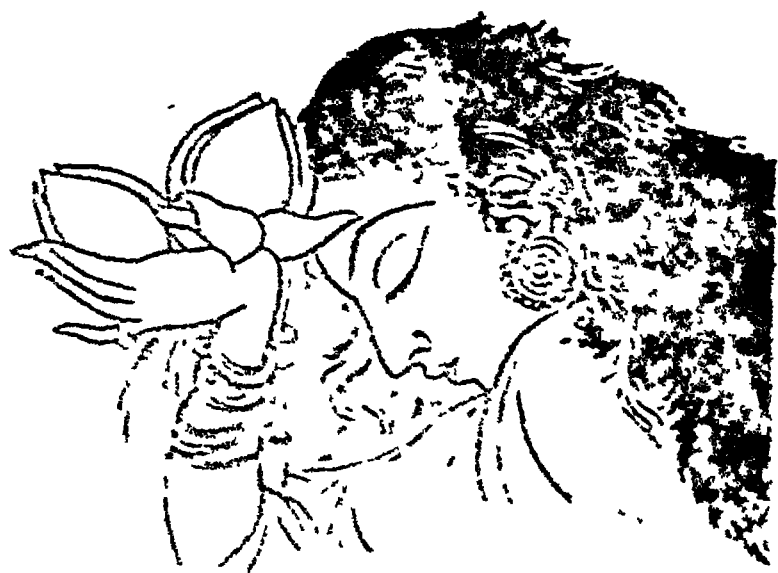
विपत्ति में धर धीर रे नर !

मानव-जीवन विपत्तियोसे भरा हुआ है। एक-न-एक विपत्ति उसके पीछे लगी ही रहती है। विपत्ति अपने आपमें इतनी भयंकर है कि उसकी कल्पनासे ही मनुष्यका हृदय धड़कने लगता है। जव विपत्ति इनके सिर ही आ पडती है तव वह एकदम कर्त्तव्यमूढ हो जाता है और उसकी व्यथा का पारावार मर्यादातीत हो जाता है। विपत्तिका सामना करनेका उसमे तनिक भी साहस नही होता और न इतना विवेक ही होता है, कि वह विपत्तिके यथार्थ स्रोत तक पहुँच सके। फल यह होता है कि विपत्तिकाल में उसका प्रत्येक क्षण रोने-धोने और दूसरोंको दोष देनेमे ही व्यतीत होता है। वहुत कम ऐसे व्यक्ति है, जिन्हे विपत्तिके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान है और ऐसे व्यक्ति उनसे भी कम है जो यह जानते हुए भी विपत्तिके आ पडने पर एक क्षणके लिए भी अपने हृदयमें विकार नही आने देते और साहसके साथ उसका सामना करते है।

कविवर द्यानतरायको विपत्तिके स्वरूप और स्रोतका वास्तविक परिज्ञान है। उन्हे मानवकी यह स्थिति सह्य नही है कि वह विपत्तिके आ पड़नेपर इस प्रकार विवेक-विकल होकर आर्तिमे पड़ा रहे। फलतः वह विपत्ति-ग्रस्त मानवको एक अपूर्व प्राणप्रद सन्देश देनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। वह कहते हैं:—

"विपतिमें धर धीर, रे नर! विपतिमें धर धीर॥
सम्पदा ज्यों आपदा रे! विनश जैहै वीर!
विपतिमें धर धीर, रे नर! विपतिमें धर धीर॥"

रे मानव ! तू विपत्तिके आ पडनेपर धैर्य धारण कर। धैर्य और समताके साथ विपत्तिका सामना कर।

हे भाई ! जिस प्रकार सम्पत्ति आती है और कुछ समयकी अतिथि बनकर प्रस्थान कर देती है, उसी प्रकार विपत्ति भी शाश्वत नही है— वह भी अपना फल-दानकर एक निश्चित अवधिमें चली जानेवाली है।

रे मानव ! तू विपत्तिके आ पडनेपर धैर्य धारण कर। धैर्य और समताके साथ विपत्तिका सामना कर।

कविवरका आशय है कि मनुष्यको विपत्तिकी वास्तविक जानकारी हो जाय तो वह निर्विकार होकर किसी भी सकटका वीरताके साथ सामना कर सकता है। वह कहते हैं —

"धूप-छाया घटत-बढ ज्यों, त्याहि सुख-दुख-पीर।
रे नर ! विपतिमें धर धीर ॥"

रे मानव ! जिस प्रकार धूप-छाया कभी बढती है और कभी घटती है उसी प्रकार ससारके सुख-दुख भी नित्य रहनेवाले नही है। फिर थोडे समयतक रहनेवाली वस्तुसे तुम इतने व्याकुल क्यों हो ?

रे मानव ! तू विपत्तिके आ पडनेपर धैर्य धारण कर। धैर्य और समताके साथ विपत्तिका सामना कर।

कविवर कहते है, विपत्तिके आ पडने पर दूसरोको कोसना और गाली देना अपनी अज्ञानता प्रकट करना है। इसके विपरीत विपत्तिकी तहतक पहुँचकर उसके समूल उच्छेदनमें ही सच्ची वीरता है। कविवर के शब्दोमें ही उनका उत्साहपूर्ण उद्बोधन सुनिए। वह कहते हैं —

अब हम अमर भये न मरेंगे

मृत्युका नाम सुनते ही मनुष्यके मनमें भय और दुखका संचार होने लगता है। यदि मनुष्यका वश चले तो वह कभी भी मरनेके लिए तैयार न हो। मृत्युकी वेला उपस्थित होते ही वह सोचता है—'हाय! अपने भुज-बलसे अर्जित इस विभूति और इस हरे-भरे प्राण-प्रिय परिवारको छोड़कर चल देना होगा। कैसे छोड़ूँ इन्हें? इनकी कौन देख-भाल करेगा और इस सम्पत्तिका भी पता नहीं कौन कैसा उपयोग करेगा? हाय! मैं मरा! क्या कोई भी ऐसी शक्ति, औषधि एवं सम्बन्धी नहीं जो मुझे कराल कालके द्वारा कवलित होनेसे बचा सके।' सारांश यह है कि मृत्युके क्षण उपस्थित होते ही मनुष्य उससे बचनेका वश भर प्रयत्न करता है। ममत्व और मोहका वह पिण्ड बन जाता है। प्रत्येक वस्तुसे उसका आत्म-भाव इतना तीव्र जागृत हो जाता है कि उसे छोड़ते हुए वह मर्मान्तिक वेदनाका अनुभव करता है।

परन्तु जिस व्यक्तिको आत्माका यथार्थ ज्ञान होता है, मृत्यु उसके मनमें भय और दुखका तनिक भी संचार नहीं कर पाती। वह आत्माके सिवाय अन्य समस्त वस्तुओंको समझता है और उनमें उसको लेशमात्र भी ममता नहीं होती। यही कारण है कि मौतके अवसर पर अपनी समस्त विभूति और समृद्ध परिवार छोड़ते हुए भी उसे किञ्चित् भी दुख नहीं होता। यतः जन्म-जन्मान्तरका मूल कारण आत्मा एवं पर-वस्तुओंमें सम्यक् श्रद्धाका अभाव है और इसी कारण मानव पर-वस्तुओंमें ममत्व रखता है और जन्म-मरणके चक्रमें फँसा रहता है, अतः सम्यक् श्रद्धा जागृत होते ही यथार्थ आत्म-बोधी अपनेको अमर मानने लगता है।

कविवर द्यानतराय भी ऐसे ही दृढ़ आत्म-श्रद्धानी मानव है, जिन्हें अपनी अमरतापर पूरा विश्वास है। देखिए, अपनी अमरतानुभूतिको कविवर कितनी सजीव शैलीमे व्यक्त कर रहे है। यह कहते है:—

"अब हम अमर भये न मरेंगे॥
तन-कारन मिथ्यात दियौ तज, क्यों करि देह धरेंगे?
अब हम अमर भये न मरेंगे॥"

अब हम अमर हो गये—हम कभी नही मरेंगे।

हमने आत्मा एवं पर-वस्तुओमे होनेवाली मिथ्या श्रद्धाको छोड़ दिया है। जन्मान्तर लेनेका प्रधान कारण यही मिथ्या श्रद्धा है। जब हमने इस मिथ्या-श्रद्धाको तिलाजलि देकर सम्यक् आत्म-श्रद्धा प्राप्त कर ली है तो दूसरे शरीर ग्रहण करनेका अब प्रश्न ही नही।

अब हम अमर हो गये—हम कभी नही मरेंगे।

कविवर जन्म और मरणके मूल कारणका विश्लेषण करते हुए संसार-वन्धके कारणोका मूलोच्छेद करनेके लिए प्रस्तुत हो रहे है:—

"उपजै-मरै कालतै प्रानी, तातै काल हरेंगे।
राग-दोष जग-वन्ध करत है, इनको नाश करेंगे॥
अब हम अमर भये न मरेंगे॥"

कालके कारण ही प्राणी मरता है और जन्म लेता है। इसलिए अब हम कालको ही दूर करेंगे। काल पर हम विजय प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त ससार-वन्धके कारण जो राग और द्वेष है, इनका भी नाश करेंगे—अर्थात् इन्हे भी अपनी आत्मासे सर्वथा पृथक् करेंगे।

अब हम अमर हो गये—हम कभी नही मरेंगे।

मनुष्यको अमरत्वकी ओर ले जानेमे भेद-विज्ञानका वडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भेद-विज्ञान होनेपर ही मनुष्य सम्पूर्ण आत्म-शुद्धि एव आत्म-साक्षात्कार करनेमे समर्थ हो पाता है। इसी तथ्यको कविवर कितने स्पष्ट शब्दोमें व्यक्त कर रहे है। वह कहते है:—

"देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेद-ज्ञान पकरेंगे ।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हों निखरेंगे ॥
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥"

शरीर नाशवान् है और आत्मा कभी नष्ट होनेवाली वस्तु नही है। इस प्रकार आत्मा और शरीर—आत्मा तथा पर-वस्तुका यथार्थ विवेक करके भेद-विज्ञानी बनेगे। इसके पश्चात् पर-वस्तुको नाशवान् और आत्म-स्वरूपको अविनश्वर समझते हुए हम आत्म-संशोधन करेंगे। अनादिकालसे सबद्ध कर्म-मलको दूर कर आत्माको सम्पूर्ण रूपसे उज्ज्वल करेंगे।

अब हम अमर हो गये—हम कभी नही मरेगे।

अज्ञानपूर्ण मृत्यु निरन्तर दुखद और भयप्रद रहती है और उससे जन्मान्तर-परम्परा एव दुःख-सन्तानके उच्छेदमे कोई सहायता प्राप्त नही होती। इसी आशयको लेते हुए कविवर अपनी आत्मानुभूतिका उपसहार करते है। वह कहते है:—

"मरे अनन्तवार, बिन समझें, अब सब दुख बिसरेंगे ।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरें सुमरेंगे ॥
अब हम अमर भये न मरेंगे ॥"

आत्मन् ! हमने अनन्तवार अज्ञानतापूर्वक मरण किया और असीम दुःखोको उठाया। अत: अब हमें यथार्थ आत्म-प्रतीति और भेद-विज्ञान हो चुका है, इसलिए मृत्युके अवसरपर दुःख अनुभव करनेका अब कोई काम नहीं रहा, क्योंकि हमने समझ लिया है कि मृत्युके आनेपर जो भी हमसे बिछुड़ जानेवाली वस्तु है वह पर है। उसका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अब हम समस्त दुःखोंको भूल जायगे और अन्य समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होकर केवल आत्मानुभव करते हुए ही मृत्युका सहर्ष आलिङ्गन करेंगे।

अब हम अमर हो गये—हम कभी नही मरेंगे।

क्या अपने भीतर हम भी वह आत्म-श्रद्धा जाग्रत् कर सकेंगे, जिससे हम भी दृढ़ताके साथ कह सकें.—

"अब हम अमर भये न मरेंगे।"

तू आतम-हित कर रे !

मनुष्यका यह स्वभाव है कि अपने कल्याणकी ओर वह बहुत कम प्रवृत्त होता है। उसे चिन्ता रहती है केवल अपने शरीर, स्त्री-पुत्र, माता-पिता एव धन-धान्यादिकी। अहर्निश वह इनके कल्याणमें ही निमग्न रहता है। वह सोच ही नही पाता है कि इन सबसे अतिरिक्त भी एक आत्म-वस्तु है, जो इसी शरीरके अन्दर विद्यमान है और उसकी हित-भावनाकी ओर भी कुछ ध्यान देना है। इसका मुख्य कारण है उसे आत्म-स्वरूपकी स्पष्ट एव यथार्थ प्रतीतिका अभाव। आत्म-स्वरूपकी यथार्थ प्रतीतिके लिए नीर-क्षीर-विवेकी भेद-विज्ञान आवश्यक है। भेद-विज्ञान होनेपर स्व-पर-पदार्थोका स्पष्ट बोध हो जाता है और इससे मानव की प्रवृत्ति आत्माभिमुखी हो जाती है। ऐसी दशामे न केवल वह अवाञ्छनीय कर्मास्रवोका निरोध करता है अपितु सचित कर्मोको निर्जीर्ण करनेका भी वह सुयोग प्राप्त करता है और एक दिन ऐसा आता है, जब वह पूर्ण साम्य भावको प्राप्तकर सर्वात्मना आत्म-साक्षात्कार करता है। परन्तु इस भेद-विज्ञान—स्व-परका विवेक करनेवाली सम्यक् दृष्टिकी प्राप्ति भी सरल नही है। इसके लिए सुगुरुका सदुपदेश चाहिए, जो उसकी दृष्टिको भेद-विज्ञानी बना दे।

कविवर द्यानतराय भी मानवको इस पद-द्वारा आत्म-हितसाधनकी ओर आकर्षित कर रहे है। उनकी कल्याणी वाणी सुनिए—

कर रे! कर रे! कर रे! तू आतम-हित कर रे!
काल अनन्त गयो जग भमतें, भव भवके दुख हर रे!
कर रे! कर रे! कर रे! तू आतम-हित कर रे!"

हे भव्य जीव ! मैं वार-वार कहता हूँ कि तू आत्म
कर ले ।

हे आत्मन् ! इस असार संसारमे भ्रमण करते हुए तुम्हें अनन्त काल व्यतीत हो गया । अव ऐसा काम करो जिससे ससारमें जन्म-मरण के समस्त दु.खोंसे छूट जाओ ।

हे भव्य जीव ! मैं वार-वार कहता हूँ कि तू आत्माका कल्याण कर ले ।

आत्म-वोध एवं आत्मानुभवका वड़ा माहात्म्य है । कोटि-कोटि जन्मोंकी तपस्या भी उतने कर्मोंको निर्जीर्ण नही कर पाती, जितना ज्ञान वान् आत्माकी एक क्षणकी साधना । कविवर इसी आशयको व्यक्त कर रहे हैं:—

"लाख कोटि भव-तपस्या कर तैं, जितो कर्म तेरी जर रे !
स्वास-उस्वास मांहि सो नासै, जव अनुभव चित धर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !"

हे आत्मन् । लाखो-करोड़ो भवोंकी तपस्यासे जितने कर्मोंकी निर्जरा हो पाती है, उतनी निर्जरा आत्मानुभवी व्यक्ति एक श्वासोच्छ्वास प्रमाण समयमें कर डालता है । आत्मानुभूति एवं आत्मज्ञानका वड़ा माहात्म्य है ।

हे भव्य जीव ! मैं वार-वार कहता हूँ कि तू आत्माका कल्याण कर ले ।

कठोर एवं घोर तपस्या तभी सफल कही जा सकती है, जव आत्मासे लिप्त राग-द्वेष दूर हो जायँ । कठिन तपस्या करने पर भी यदि राग-द्वेष दूर नही होते है तो यह तो केवल कष्ट-सहिष्णुता ही रही । यदि अन्तस् में समरस जाग्रत् नही होता है तो तपस्याके नामपर दु खोंको सहना व्यर्थ है । इसी भावको प्रकट करते हुए कविवर समभाव-लाभके लिए वल दे रहे हैं । वह कहते हैः—

"काहे कष्ट सहै वन मांही, राग-दोष परिहर रे !
काज होय समभाव बिना नहिं, भावौ पचि पचि मर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !"

आत्मन् ! वनमें शीत, वर्षा एव घामके अनन्त कष्ट सहन करनेसे लाभ नहीं है। तुम्हारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि तुम जिस प्रकार बने राग-द्वेषको दूर करनेका उपाय करो। जबतक आत्मामें समभाव की प्रतिष्ठा नही होती तपस्याके नामपर कष्ट सहन करने एव मरनेमें कोई लाभ नहीं है।

हे भव्य जीव ! मै बार-बार कहता हूँ कि तू आत्माका कल्याण कर ले।

मानव आत्म-कल्याणकी ओर तभी प्रवृत्त हो सकता है जब उसे आत्मा एव पर-पदार्थोका यथार्थ बोध एव सम्यक् श्रद्धा हो। जबतक उनका सम्मान जड-पदार्थोकी ओरसे हटकर आत्माकी ओर केन्द्रित नहीं होगा, आत्म-हित कोसो दूर रहेगा। देखिए, कविवर कितने स्पष्ट शब्दोमें इसी भावको व्यक्त कर रहे हैं—

"लाख सीखकी एक सीख यह, आतम निज, पर पर रे !
कोटि-ग्रन्थ को सार यही है, 'द्यानत' लख भव तर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !"

हे आत्मन् ! लाखो उपदेशोका यही सार है कि तू आत्माको अपना समझ और पर-वस्तुओको पराया। इस प्रकारकी सम्यक् श्रद्धासे ही तू आत्म-कल्याणके मार्गपर चलनेके लिए उत्साहित हो सकेगा। कोटि-कोटि आगम-ग्रन्थोंके स्वाध्यायका भी केवल यही फल है कि तू आत्म-साक्षात्कार कर ससार समुद्रसे पार हो जा।

हे भव्य जीव, मैं बार-बार कहता हूँ कि तू आत्माका कल्याण कर ले।

आजके इस युगमें, जबकि एक व्यक्ति दूसरेका उत्कर्ष नहीं देख सकता, कहाँ हैं वे सदुपदेशक जो ऐसी सम्यक् शिक्षा दे सके—

"कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !"

हम लागे आतमराम सौं

ससारी प्राणीकी प्रवृत्ति प्राय: बहिर्मुख रहा करती है । वह अपने आस-पासकी दुनियामे इतना व्यस्त रहता है कि उसे छोड़कर वह एक क्षण भरके लिए भी नही सोच पाता कि इसके अतिरिक्त भी उसकी कोई ऐसी वस्तु है, जिसे वास्तवमें उसीकी कह सकते है और जिसके सिवाय अन्य कोई भी चीज़ उसकी नहीं हो सकती । ऐसा व्यक्ति अपने क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास आदिके ममत्वमें ही अपने आत्मा-रामको भूला रहता है । एक क्षणके लिए भी उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख नही होती । उसे आत्म-स्वरूपकी झलक ही नही मिलती; क्योंकि इस दिशामें उसका कोई प्रयत्न नही रहता । ऐसी दशामे उसका आत्म-स्वरूपकी ओर आकर्षण और अन्तर्मुख प्रवृत्ति कैसे सभव है । परन्तु जिस व्यक्तिको वास्तविक आत्म-भान हो जाता है,उसका आत्मानुराग उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है और उसकी प्रवृत्ति निरन्तर अन्तर्मुख रहने लगती है । उसके अन्तस्मे समत्व भाव उदित हो जाता है और विशुद्ध आत्म-साक्षात्कार करता हुआ एक दिन वह भव-वन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

कविवर द्यानतरायजीकी परणति आज पूर्णतया आत्म-रमणकी ओर झुकी हुई है । भेद-विज्ञानके द्वारा उन्हे स्व-पर-स्वरूपका सम्यक् वोध हो चुका है और आत्म-स्वरूपाचरण ही उन्हें एकमात्र कल्याणकारी प्रतीत हो रहा है । अपनी विशुद्धात्म-रतिके उल्लासपूर्ण अतिरेकमें उनके मनोभाव सहज सगीतकी स्वर-लहरीमे फूट पड़ते है और वह गा उठते है:—

"हम लागे आतमराम सौं।
विनाशीक पुद्गलकी छाया, कौन रमै धन-मान सौं।
हम लागे आतमराम सौं॥"

हम तो अपने आत्मानुभवनकी ओर लगे हुए है।

पुद्गलकी जितनी भी पर्याये है, वे सब आत्म-स्वभावसे भिन्न है,अत. पर है और विनश्वर है। इसलिए नाशवान् धन-वैभव और मान-प्रतिष्ठा से किसे प्रेम हो सकता है। जो वस्तु अपनी है और अविनश्वर है, उसके प्रति ही हमारा आकर्षित होना उचित है।

हम तो अपने आत्मानुभवनकी ओर लगे हुए है।

आत्मानुभूति और आत्म-प्रवृत्ति ही समत्वकी साधक है। इसके विना अन्तर्में समता एव पूर्ण शान्तिका उदय हो नही सकता। पूर्ण समत्व एव शान्ति जाग्रत् होनेपर आत्मा अपने जीवन-लक्ष्यमें कृतार्थ हो जाता है और तब उसे किसी भी बाह्य प्रवृत्तिमें पडनेकी आवश्यकता नही रह जाती। कविवर अपनी आत्मानुभूतिकी ऐसी ही फलवती व्याख्या दिखला रहे है। वह कहते है:—

"समता-सुख घटमें परगास्यो, कौन काज है काम सौं।
दुविधाभाव जलाजलि दीनौं, मेल भयौ निज स्वाम सौं॥

हम लागे आतमराम सौं॥"

हमारी आत्मामें समता-सुख प्रकाशित हो चुका है। अब हमें किसी भी कार्यसे प्रयोजन नही है। हमें अपने आत्मानुभवकी दशामें कोई दुविधा नही रही है—इस दुविधाको हम दूर कर चुके है और हमे अपने आत्म-स्वरूपका यथार्थ निश्चय हो चुका है। हमारा समागम अब आत्माकी विशुद्ध परणतिसे हो चुका है और इस सत्सगको हम एक क्षणके लिए भी नही छोडना चाहते।

हम तो अपने आत्मानुभवनकी ओर लगे हुए है।

आत्म-रमणमे विचरनेवाला व्यक्ति वस्तु-दर्शनके लिए अपने चर्म-चक्षुओंका उपयोग नही करता। वह भेद-विज्ञानकी अन्तर्दृष्टिसे ही वस्तु-दर्शन करता है और स्व-पर-वस्तुओंका यथार्थ निरीक्षण करता हुआ स्व-स्वरूपकी ओर आचरण करता है। उसका मन आत्माके अनन्त गुणोंमें ही रमण करता है। अन्य कोई भी बात उसे रुचिकर प्रतीत नही होती। द्यानतरायजीको भी आज अपने आत्म-'गुण-ग्राम' से ही 'लौ' लगी हुई है। वह कहते हैं:—

"भेद-ज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौं।
उरै-परैकी बात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौं।।
हम लागे आतमराम सौं।।"

हमने भेद-विज्ञानके द्वारा स्व-पर-पदार्थोंका सम्यक् दर्शन कर लिया है और अपने आत्म-स्वरूपको समझकर हमारा झुकाव अब उसीकी ओर हो चुका है। अब इन चर्मकी आँखोंसे देखनेका हमारा कोई अर्थ नही रहा है। हमारी परिणति आत्म-रमणकी ओर इतनी झुकी हुई है कि अब उसे इधर-उधरकी पर-पदार्थोंकी कोई भी चर्चा—वार्ता अच्छी नही लगती है। अब तो केवल आत्माके अनन्त गुणोंकी ओर ही हमारी रुचि लगी हुई है।

हम तो अपने आत्मानुभवनकी ओर लगे हुए है।

आत्मानुभवकी दशामे अन्तस्के समस्त अनात्म-भाव उपशान्त हो जाते हैं। आत्मानुभूतिकी परम प्रकर्षता ही एक समय आत्माको भव-व्याधियोसे मुक्त कर मुक्ति-धाममे विराजमान कर देती है। कविवरकी अपनी आत्म-रुचिके उपसहारात्मक परिचयमे भी हम इसी तथ्यको ग्रथित देखते है। कविवर कहते हैं:—

"विकलप भाव रंक सब भाजें, झरि चेतन अभिराम सौं।
'द्यानत' आतम अनुभव करिकै, छूटे भव-दुख धाम सौं।।
हम लागे आतमराम सौं।।"

हे आत्मन् ! तुमने यह अज्ञानता कहासे प्राप्त की ? ससारके समस्त प्राणी स्वार्थ चाहते हे—ऐसा एक भी प्राणी नही है जिसे अपने स्वार्थ-साधनका ध्यान नही है। परन्तु आत्मन् ! तुम्हारा स्वभाव बिलकुल निराला है जो तुम्हें स्वार्थ—अपने आत्माका अर्थ अर्थात् आत्म-कल्याण तनिक भी नही रुचता है। आत्माका आत्म-कल्याणकी ओरसे विमुख होना सबसे बढकर मूढता—अज्ञानता है।

हे आत्मन् ! तुमने यह अज्ञानता कहाँसे प्राप्त की ?

अज्ञानताकी अवस्थामें मनुष्य पता नही, कहाँसे कहाँ भूल-भटक जाता हैं। जीवात्माने भी अपनी अविवेकपूर्ण दशामें अनेकानेक भूलो और दोषोकी पुनरावृत्तियाँ की। कविवर जीवात्माकी मूढताके एक महत्त्वपूर्ण रूपको रेखाकित कर रहे हैं। देखिए—

"अशुचि अचेत दुष्ट तन माही, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरिकै, विषय-रोग लपटायो ॥
जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?"

हे आत्मन् ! यह शरीर अत्यन्त अपवित्र, चैतन्यशून्य एव दुष्ट है। तुम्हारा स्वरूप परमपवित्र, चैतन्यमय एव सौम्य है। फिर क्या कारण है जो तुम अपने स्वरूपको भूलकर इस मलिन, अचेतन और दुर्जन शरीरमें रम रहे हो ? क्या कारण है जो तुम्हारा अपने परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुखकी ओर तनिक भी आकर्षण नही है और पराधीन एव दुखमय विषय-सुखके भोगमें तन्मय हुए जा रहे हो ? तुम्हारी अज्ञानता और विपरीताभिनिवेशकी यह पराकाष्ठा है। जब तुम्हारा स्वरूप अनन्त ज्ञानमय है तब—

हे आत्मन् ! तुमने यह अज्ञानता कहाँसे प्राप्त की ?

कविवर दिखलाते है कि इस अज्ञानताके कारण-जीवात्माकी किस प्रकार दुर्गति हुई:—

"चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो ?
तीन लोकको राज छांड़ि कैं, भीख मांग न लजाओ ।।
जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?"

हे आत्मन् ! तुम्हारा चैतन्य नाम जड क्यो हो गया और क्या कारण है जो तुमने अपने शाश्वत नामको बिलकुल ही भुला दिया ? आत्मन् ! तुम तो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र एव तीनो लोकके स्वामी हो । आज इस भिखारी-जैसी परतन्त्र एव दयनीय अवस्थाको अङ्गीकार करते हुए तुम्हें लज्जा नही आती ? जब तुम्हारा स्वरूप अनन्त ज्ञानमय है, तब—

हे आत्मन् ! तुमने यह अज्ञानता कहाँसे प्राप्त की ?

अज्ञानतासे छुटकारा मिलनेपर ही आत्माको सम्यक् सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है । मढ़तासे मुक्ति मिलनेपर आत्माका जो शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है, कविवर उसकी एक बहुत सुन्दर झाँकी दे रहे है । देखिए:—

"मूढ़पना मिथ्या जब छूटे, तब तू सन्त कहायो ।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव बिलसो, यों सद्गुरु बतलायो ।।
जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?"

हे आत्मन् ! जब तुम्हे इस मिथ्या अज्ञानसे मुक्ति मिल जाती है, तब तुम समस्त कर्म-मल कलकसे मुक्त होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा हो जाते हो और सदाके लिए मोक्षके अनन्त सुखका भोग तुम्हे प्राप्त रहता है । अत. जब तुम्हारा स्वरूप अनन्तज्ञानमय है, तब—

हे आत्मन् ! तुमने यह अज्ञानता कहाँसे प्राप्त की ?

आज प्रत्येक जीवात्माको अपनेसे यह प्रश्न पूछना है—

"जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?"

आशा है, आत्म-हितैषी मानव अपनी मूढताका गंभीर समाधान खोजकर सुपथका पथिक बनेगा ।

काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !

ससारमे ऐसा एक भी प्राणी नही है, जो चिन्ताके चक्रमे न फसा हो। जीवात्मा प्रतिक्षण किसी न किसी चिन्तामे निमग्न बना रहता है। कोई अपने प्रिय स्त्री-पुत्रादिके वियोगमें चिन्तित है तो किसीको अप्रिय जन एव वस्तुओका सयोग झुलसा रहा है। कोई अपनी बीमारीकी वेदनाकी चिन्तामे व्यथित है तो कोई भविष्यकी सुख-चिन्तासे उत्पीडित है। इस प्रकार आजका जीवात्मा चिन्ताके जालमें बुरी तरह आबद्ध है। रकसे लेकर राजा और लघुसे लेकर महान्—कोई भी चिन्तासे मुक्त नही है। चिन्ताकी इस दशा मे जीवात्माको एक क्षणके लिए भी शान्ति और सुख प्राप्त नही होता है। अभाव और दैन्यजन्य हाय-हायकी सासें उसे निरन्तर व्याकुल और उत्तप्त किये रहती हैं। चिन्ता उसे ऐसा आर्त्तध्यानी बनाये रहती है कि आत्म-कल्याणकी ओर इसका तनिक भी ध्यान नही जाता। वस्तुत ऐसा व्यक्ति आत्म-स्वरूपको यथावत् न समझनेके कारण ही चिन्ताके जालमे फसता है और अनन्त दु ख उठाता है। वह नही समझता है कि जिन वस्तुओ या परिस्थितियोकी मैं चिन्ता कर रहा हूँ उनका मेरी आत्मासे कोई सम्बन्ध नही है। दूसरे शब्दोमें, वे पर-पदार्थ ह और उनकी चिन्ता हम क्यो करें? प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी पूर्व जन्मोपार्जित अशभ कर्मोका परिणाम ह, जिन्हे साधना द्वारा ही अन्यथा किया जा सकता है, चिन्ता द्वारा नही। फिर चिन्ता करनेसे बुद्धि कलुषित हो जाती है और अशुभ कर्मोंके आस्रव एव बन्धके सिवाय अन्य कुछ भी लाभ नही। कविवर द्यानतरायजी चिन्ताके इस स्वरूपसे पूर्णत अभिज्ञ है। फलत वे चिन्ताशील आत्माको सबोधते हुए कहते है—

"काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !
पूरब करमनकी थिति बांधी, सो तो टरत न टारी।
काहेको सोचत अतिभारी ॥"

हे आत्मन् ! तुम इतना अधिक शोक क्यो करते हो ?

तुमने पूर्व जन्ममे जिन कर्मोका जितने समयके लिए वन्ध किया है, वे उदयमे आकर अवश्य फल देगे। उन्हे किसी प्रकार भी अन्यथा नही किया जा सकता। अत ऐसा निश्चय समझकर तुम्हारा चिन्ता करना विल्कुल व्यर्थ है, क्योकि चिन्तासे वर्तमान उद्वेगकारी परिस्थितिको वदला नहीं जा सकता। इस तरह तो अन्यान्य ऐसे अशुभ कर्मोका वन्ध होता है जो भविष्यमें ऐसी और इससे भी अधिक भयकर परिस्थिति उत्पन्न कर सकते है।

हे आत्मन् ! तुम इतना अधिक शोक क्यो करते हो ?

ससारमे जितने पदार्थ है, उनका अपने-अपने ढगका पृथक्-पृथक् परिणमन होता रहता है। केवलज्ञानीके ज्ञानमे इन वस्तुओका अतीत, अनागत एव भविष्यत्कालीन परिणमन हस्तामलकवत् प्रतिविम्वित होता रहता है। पर संसारी आत्मा उन वस्तुओंके स्वाभाविक परिणमनको अपनी रुचिके अनुसार परिणत करना चाहता है और ऐसा न कर सकनेसे खिन्न एवं दुखी होता है। दूसरे शब्दोंमे यदि इन वस्तुओंका परिणमन इस आत्माकी रुचिके अनुरूप हो जाता है तो उसमे राग करने लगता है और यदि रुचिके विपरीत जा पडता है तो उसमें द्वेष-बुद्धि करने लगता है। इसे यह वोध नही है कि किसी भी वस्तुके अनुरूप एव प्रतिरूप परिणमन करानेमे किसीकी किञ्चित् भी क्षमता नही है।

कविवर इसी वस्तु-दर्शनके सिद्धान्तको प्रतिपादित करते हुए दार्शनिक शैलीमें आत्माको चिन्ता-मुक्त होनेका संदेश दे रहे है। वह कहते है:—

"सब दरवनिकी तीन कालकी, विधि न्यारी की न्यारी।
केवलज्ञान विषै प्रतिभासी, सो सो ह्वै है सारी॥
काहेको सोचत अतिभारी ॥"

हे आत्मन् ! समस्त द्रव्योका भूत, भविष्यत् एव वर्तमानकालीन जो कुछ भी पृथक्-पृथक् परिणमन है, वह केवलज्ञानमें ज्योका त्यो प्रतिभासित हो रहा है और वह सब उसी ढगसे होकर रहेगा। ऐसी स्थितिमें प्रतिकूल दशामें सतोष ही—समभाव ही धारण करना चाहिये।

हे आत्मन् ! तुम इतना अधिक शोक क्यो करते हो ?

देखिए, कविवरने चिन्ताके अमाङ्गलिक स्वरूपका कैसा यथार्थ विश्लेषण किया है। वह कहते है—

"सोच किये बहु बन्ध बढ़त है, उपजत है दुख-ख्वारी।
चिंता चिता समान बखानी, बुद्धि करत है कारी॥"
काहेको सोचत अतिभारी॥"

हे आत्मन् ! शोक करनेसे अशुभ कर्मोका आस्रव और बन्ध बढता है और इस प्रकार जिस दु ख-परम्पराका प्रादुर्भाव होता है, उसकी समाप्ति होनी कठिन हो जाती है। चिन्ता और चितामें केवल बिन्दुमात्रका अन्तर है। वैसे जिस प्रकार चिता शरीरको भस्मसात् कर डालती है, उसी प्रकार चिन्ता भी देहको खोखला कर देती है और आत्माको कर्म-भारसे बोझिल। इसके अतिरिक्त चिन्तासे बुद्धि भी मलिन हो जाती है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विवेक जाता रहता है।

हे आत्मन् ! तुम इतना अधिक शोक क्यो करते हो ?

चिन्ता समस्त अनर्थोकी मूल है। जिन्होने ऐसी चिन्ताको सर्वथा निर्मूल कर दिया है, वस्तुत उन्हे ही सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकी है। देखिए, कविवरने इसी भावको कितनी स्पष्टतासे रेखाङ्कित किया है—

"रोग-शोक उपजत चिन्ता तें, कहो कौन गुनवारी।
'द्यानत' अनुभव करि शिव पहुँचे, जिन चिन्ता सब जारी॥
काहेको सोचत अतिभारी॥"

आत्मन्। चिन्ता करनेसे रोग और शोक उत्पन्न होते हैं और तुम सदाके लिए दुखी बने रहते हो। चिन्तामे ऐसा एक भी गुण नही है, जिससे इसे आकर्षणकी वस्तु माना जा सके। इसके विपरीत जिन आत्माओंने चिन्ताको दूर कर दिया, वे आत्मानुभवी होकर मोक्षमें पहुँच गये और शाश्वत सुखके भोक्ता हो चुके।

हे आत्मन्! चिन्तासे अपने मनको इतना भारी क्यों कर रहे हो?

तू तो समझ समझ रे भाई !

ससारी मानवकी मनोगति वडी स्वच्छन्द होती है। वह किसी प्रकारके भी अकुश एव नियन्त्रणको स्वीकार नही कर सकती। धर्म, ज्ञान एव विरागकी वातें उसे निरर्थक जान पडती है और तन्मयताके साथ अपनी भाव-धाराम‌े वहते जानेमें ही उसे रस आता है। कदाचित् सुयोगसे धर्माचरणकी ओर प्रवृत्त भी होता है तो उसमें हृदयका योग न होनेसे उस दिशामे भी वह सफल नही हो पाता है। वह अन्तस्में समत्व-भाव जाग्रत् करनेके लिए हाथमें माला लेता है, परन्तु आत्म-स्वरूपका यथार्थ वोध न होने एव उस ओर आकर्षण न होनेके कारण उसका चित्त वहाँ नही रम पाता और उन्ही पर-पदार्थोंमें रमण करने लगता है,जिनसे उसे समत्व का लाभ न होकर अशान्ति एवं आकुलताकी ही वृद्धि होती है। फलत. आत्म-शान्ति लाभकी दृष्टिसे किया गया यह वाह्य धर्माचरण भी केवल प्रदर्शनकी वस्तु वनकर रह जाता है। वह महीने-महीनेके उपवास कर कठिनतम कायक्लेश भी करता है; परन्तु अन्तस्की कपायपर विजय प्राप्त न कर सकनेके कारण उससे भी उसे आत्म-सुख प्राप्त नही होता है। इस प्रकार स्व-परका विवेक तथा स्वात्म-रुचि न होनेके-कारण संसारी मानव निरन्तर पर-वस्तुओमें रमण करता हुआ अशान्त वना रहता है।

कविवर द्यानतरायजीको संसारी मानवकी इस प्रवृत्तिकी सम्यक् जानकारी है। उन्हें इस वातका यथार्थ वोध है कि मनुष्य इस स्थलपर मलमें भूल कर रहा है और इसी कारण उसे यथार्थ आत्म-शान्ति नही प्राप्त हो रही है। ससारी आत्माकी दुर्दशासे उनका हृदय दया-द्रवित हो जाता है और उसे सन्मार्गपर आरूढ करनेकी दृष्टिसे उनका लोकमङ्गल-

कारी कवित्व जागृत हो उठता है। वह गुनगुनाते लगते है।

"तू तो समझ समझ रे भाई।

निशि-दिन विषय-भोग लपटाना, धरम-वचन न सुहाई।।

तू तो समझ समझ रे भाई।।"

हे भाई! तुम इस वातको अच्छीं तरहसे समझ लो।

हे आत्मन्! तुम निरन्तर विषय-भोगमें उलझे रहे और एक क्षणके लिए भी तुम्हें धर्मकी बात अच्छी न लगी।

हे भाई! तुम इस वातको अच्छी तरह समझ लो।

संसारी मानव किसी शुभयोगसे धर्माचरणकी-ओर प्रवृत्त भी होता है तो लक्ष्यके प्रति मन स्थिर न रहनेके कारण और आत्म-स्वरूपका यथार्थ बोध न होनेसे वह लक्ष्यमे कृतकार्य नही हो पाता—सम्यक् शान्ति-लाभ नही कर पाता। कविवरने अपनी कुशल-लेखनीसे इसी तत्त्वको बड़ी सुन्दरताके साथ अंकित किया है। वह कहते है:—

"कर मनका लै आसन मारचो, वाहिज लोक रिझाई।

कहा भयो बक-ध्यान धरे तै, जो मन थिर न रहाई।।

तू तो समझ समझ रे भाई।।"

हे आत्मन्! तुमने आत्म-शान्ति प्राप्त करनेके लिए हाथमे माला लेकर आसन लगाया और यह दिखलाकर लोगोको अनुरंजित करनेका प्रयत्न किया कि तुम कैसे धर्मात्मा हो। परन्तु मानसिक स्थिरता के अभावमें यह आत्म-ध्यान वक-ध्यान जैसा ही है, जिसमे आत्म-पर-वंचना के सिवाय तनिक भी आत्म-शान्ति उपलब्ध नही होती।

हे भाई! तुम इस बातको अच्छी तरहसे समझ लो।

जिन व्यक्तियोंको स्व-परका तनिक भी विवेक नही है और क्षणभरके लिए भी जिन्हे स्वानुभूतिका रस नही मिला है, वे महीनों तक उपवास कर डालते है और घोरतम कायक्लेशके आचरणसे स्वयको दीर्घ तपस्वी सिद्ध करना चाहते है। परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभपर ये तनिक भी

नियन्त्रण नही कर पाते है। परिणाम यह होता है कि लोक-दृष्टि भले ही इन्हें उग्र तपस्वी मान ले, परन्तु आन्तरिक शान्ति न मिलनेके कारण इनका यह कायक्लेश निरर्थक ही रहता है। कविवरकी काव्य-वाणीमें यही तथ्य बडी सुन्दरतासे ग्रथित दिखलाई देता है। देखिए—

"मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध, मान, छल, लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई?
तू तो समझ समझ रे भाई॥"

हे आत्मन्! तुमने महीनो उपवास करके शरीरको एकदम सुखा डाला, परन्तु अन्तरङ्ग शत्रु क्रोध, मान, माया और लोभपर तुम विजय प्राप्त नही कर सके। अत तुम्हारे इस घोर कायक्लेशसे क्या अर्थ निकला? इससे तो तुम्हे तनिक भी आत्म-शान्ति नही मिली।

हे भाई! तुम इस बातको अच्छी तरहसे समझ लो।

सम्पूर्ण आत्म-सुख एव शान्ति प्राप्त करनेका केवल एक ही मार्ग है—और वह यह है कि मनुष्य मन, वचन, काय रूपी योगोका निरोध कर विषय-कषायोकी ओरसे अपनी रुचिको हटा ले और शुद्धात्म-स्वरूप के अनुभवनमे तन्मय हो जाय। कविवर कहते है—

"मन, वच, काय जोग थिर कर कैं, त्यागो विषय कषाई।
'द्यानत' सुरग-मोख-सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई॥
तू तो समझ समझ रे भाई॥"

हे आत्मन्! तुम मन, वचन कायको स्थिर करके विषय-कषायोकी ओरसे अपनी परणतिको हटा लो। सद्गुरुओने भी इसी मार्गको स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला बतलाया है।

हे भाई! तुम इस बातको अच्छी तरहसे समझ लो।

रे जिय ! क्रोध काहे करै ?

आत्माका क्रोध-भाव अनेक अनर्थोकी जड़ है। क्रोधके आवेशमें मनुष्य कितने अनर्थ नही करता। दूसरेकी धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्रादिका अपहरण आत्मघात एव परघात आदि बडी-बडी दुर्घटनाएँ मानव क्रोधावेश-मे आकर कर डालता ह। मानवात्मामे क्रोधका उदय प्राय. दूसरोकी प्रतिकूल-प्रवृत्तिको देखकर होता है। मनुष्यको दूसरोका विपरीत व्यवहार अच्छा नहीं लगता और वह उनपर, प्रतिफलमे, अगार बनकर बरस पड़ता है। मनुष्य क्रोधका प्रयोग प्रायः दो दृष्टियोसे करता ह—एक आत्म-तोषकी दृष्टिसे और दूसरे दूसरेको शिक्षा देनेकी दृष्टिसे। परन्तु क्रोधसे आत्म-हनन ही होता है। उससे आत्म-तोष कभी भी प्राप्त नही होता। आत्मामे क्रोधोदय होनेसे उसकी विशुद्ध आत्म-शान्ति भग हो जाती है और इस प्रकार आत्म-तोषका स्वप्न धूलमे मिल जाता है। क्रोधके द्वारा दूसरेको शिक्षा देनेका प्रयोग भी सफल नही देखा जाता। इस समय दूसरेके मनपर क्रोधीके क्रोधकी छाया ही मुख्यतया अकित रह जाती है, उसका सदुद्देश्य क्रोधकी छायामे तिरोहित हो जाता है। शास्त्रीय भाषामे क्रोधको कषाय कहा गया है। कषायका अर्थ है आत्माका हनन करनेवाला भाव। अतः क्रोधका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी आत्माका ही घात करता है। दूसरेका घात भी क्रोध द्वारा होता है; परन्तु ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि जिसपर क्रोध किया जाता है उसका उस क्रोधके द्वारा किसी प्रकार घात न हो, लेकिन क्रोध करने-वाला किसी भी स्थितिमे आत्म-घातके अवसरसे नही बच सकता। क्रोध से जो कुछ बाह्य हानिया होती है वे लोकमे बहुत स्पष्ट है। इस प्रकार

आत्म-घाती क्रोधसे दूर रहना प्रत्येक आत्म-हितैषीका कर्त्तव्य है।

कविवर द्यानतरायजी क्रोध-भावके पूर्ण विशेषज्ञ है। वह इसे आत्मा का सबसे बढकर शत्रु समझते है और आत्माको क्रोध-भाव परित्याग करनेकी कैसी पवित्र प्रेरणा देते है। वह कहते है —

"रे जिय! क्रोध काहे करै?
देखकै अविवेक प्रानी, क्यों विवेक न धरै?
रे जिय! क्रोध काहे करै?"

हे आत्मन्! क्रोध क्यो करते हो?

प्राणी क्रोधके आवेशमें कितनी अविवेकपूर्ण प्रवृत्तियाँ कर डालता है, यह समझकर आत्मन्! क्रोध न लाकर आत्म-विवेकसे उसे उपशान्त ही कर देना चाहिए।

हे आत्मन्! क्रोध क्यो करते हो?

मानव दूसरोकी मिथ्या प्रवृत्ति देखकर उनपर खीजता है और रुष्ट होता है, परन्तु मानवका यह रोष उसे स्वय अशान्त कर देनेके सिवाय अन्य कुछ भी लाभकारी नही होता है। इसी भावको व्यक्त करते हुए कविवर क्रोधकी हेयताका चित्रण कर रहे है। सुनिए—

"जिसे जैसी उदय आवै, सो क्रिया आचरै।
सहज तू अपनौ बिगारै, जाय दुर्गति परै॥
रे जिय! क्रोध काहे करै?"

हे आत्मन्! मानव जो कुछ भी क्रिया या आचरण करता है, वह अपने-अपने कर्मोंके उदयानुसार ही करता है। विना अशुभ कर्मोंके उदय के मानवसे अवाछनीय आचरण नही हो सकता। परन्तु इस अवाछनीय प्रवृत्तिपर रोष प्रकट करके केवल तुम आत्म-शान्ति ही भग करते हो। तुम्हारे रोषका मानवकी अवाछनीय प्रवृत्तिपर किंचित् भी प्रभाव नही पडता है, इसके विपरीत रोष-जन्य अशांतिके कारण तुम्हे ही दुर्गतिके कटु परिणाम भोगने पड़ते है।

हे आत्मन् ! क्रोध क्यो करते हो ?

मनुष्यकी अच्छाई और बुराईका दूसरेके मनपर अवश्य प्रभाव पड़ता है । इसलिए गुणी व्यक्तिका यही कर्त्तव्य है कि दूसरे व्यक्तिकी अवाछनीय प्रवृत्तिको रोकनेके लिए वह क्रोध न करके अपने सद्‌गुणोके द्वारा ही उसे सुमार्गपर लावे । देखिए, कविवरने इसी भावको कितनी सरल भाषामे व्यक्त किया है ।' वह कहते है —

"होय संगति गुन सबनिकौं, सरब जग उच्चरै ।
तुम भले कर भल सबको, बुरे लखि मत जरै ।।
रे जिय! क्रोध काहे करै ?"

समस्त ससार जानता है कि सगतिके अनुसार ही एक दूसरेमे गुण-अवगुण आते है । इसलिए हे आत्मन् ! यदि तुम्हारे अन्दर अच्छाई है तो तुम अच्छाईका व्यवहार करके दूसरोको भी अच्छा बनानेका ही प्रयत्न करो । दूसरोकी बुराई देखकर तुम्हे रुष्ट होनेकी आवश्यकता नही है ।

हे आत्मन् ! क्रोध क्यो करते हो ?

शान्ति और क्षमासे ही दूसरेकी अवाछनीय प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त की जा सकती है । क्रोधसे स्वयके अन्दर ही एक नई बुराई उत्पन्न होती है और यह ध्रुव सत्य है कि बुराईसे बुराई दूर नही की जा सकती । इसी तथ्यको ध्यानमे रखते हुए कविवर क्रोधको छोडने एव क्षमा-भाव को अङ्गीकार करनेका मार्मिक सदेश देते है । सुनिए —

"वैद्य पर-विष हर सकत नहिं, आप भखिको मरै ।
बहुकषाय निगोदवासा, छिमा 'द्यानत' तरै ।।
रे जिय! क्रोध काहे करै ?"

जिस प्रकार वैद्य स्वय विष-भक्षण करके दूसरेका विष दूर नही कर सकता । यदि वह एसा करनेकी चेष्टा करता है तो इससे दूसरेका विष तो दूर नही होगा, हाँ स्वय वैद्यराजजी अवश्य स्वर्गवासी हो जायँगे ।

उसी प्रकार क्रोधके द्वारा भी, हे आत्मन् ! दूसरेके प्रतिकूल आचरण एव व्यवहारमें हम सुधार नही कर सकते । इसलिए क्रोधको निगोदवास का परिणाम जानकर हमें क्षमाभावके द्वारा ही दूसरोंकी अवाछनीय प्रवृत्तियोपर विजय प्राप्त करनी चाहिए ।

हे आत्मन् ! क्रोध क्यो करते हो ?

झूठ है जगका व्योहारा !

संसारी मानवकी दृष्टि मोह-प्रधान होती है और इस कारण वह सासारिक व्यवहारोसे पूर्णतया सश्लिष्ट रहता है। जगत्के व्यवहारोंसे उसका इतना निजत्व रहता है कि वह निरन्तर उनके भिन्न-भिन्न परिणमनो में अपने स्वार्थको ध्यानमे रखते हुए इष्ट-अनिष्टकी कल्पना किया करता हैं। वस्तुओके जो परिणमन उसका स्वार्थ साधते हैं उनमे वह रागभाव से निजत्व कल्पना करता है और जो उसके स्वार्थमे वाधक होते है उनमें वह द्वेष-वुद्धि रखकर परकीय कल्पना करता है। इस प्रकार हम देखते है कि जितने भी इसके स्वार्थ-साधक पदार्थ हैं उनमे इसका इतना तीव्र ममत्व रहता है कि वह इन्हें एक क्षणके लिए भी परकीय नही मान सकता।

भेद-विज्ञान—आत्म-पर-विवेक होने पर ही मनुष्यकी यह प्रगाढ़ मोह-निद्रा भग होती है। भेद-विज्ञान मनुष्यको आत्मा और इतर पदार्थों का वहुत स्पष्ट वोध कराता है, जिससे भेदविज्ञानी आत्माके सिवाय अन्य समस्त वस्तुओको परकीय मानता है और उनमें कभी भी आत्मीय वुद्धि नही करता। उसे ससारके जितने भी रिश्ते-नाते है वे सव मिथ्या मालूम होते है और आत्माकी आत्मीयतापर ही उसकी अडिग-अडोल श्रद्धा जागृत हो जाती है।

कविवर वनारसीदास भी अपूर्व भेद-विज्ञानी है। प्रस्तुत पद-द्वारा उन्होने भेद-विज्ञानीकी अनुभूतिका वड़ा ही जीवित चित्र उपस्थित किया है। वह कहते है:—

"हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा।
तनसम्बन्धी सब परवारा, सो तन हमने जाना न्यारा॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा॥"

हम किसीके नही हैं और हमारा कोई नही है। जगत्का समस्त व्यवहार झूठा है।

हे आत्मन्! जितना भी माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि रूप, परिवार है, वह सब शरीराश्रित है और उस शरीरका हम निश्चय कर चुके हैं कि इससे हमारी आत्माका कोई सम्बन्ध नही है।

हम किसीके नही हैं और हमारा कोई नही है। जगत्का समस्त व्यवहार झूठा है।

ससारी जीवको पुण्योदय होनेपर जो सुख-सामग्री प्राप्त होती है, इसमें वह राग करता है और पाप कर्मके उदयसे जो दुख-सामग्री प्राप्त होती है उसमे वह द्वेष करता है। दूसरे शब्दोमे पुण्योदयजन्य पुण्य-सामग्री को यह अपनी मानता है और पापोदय-जन्य दु.ख-सामग्रीको यह परकीय समझता है, परन्तु ये दोनो सामग्रियाँ ही परकीय है। इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नही है। वास्तवमें तो आत्मा इनका केवल ज्ञाता और द्रष्टा है। यही भाव कविवरने अपनी अध्यात्म वाणी द्वारा बडी सुन्दरता से व्यक्त किया है। सुनिए, कवि कहते है—

"पुण्य उदय सुखका वढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पाप-पुण्य-दोऊ संसारा, मैं सब देखनहारा॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा॥"

शुभ कर्मके उदयसे सुख-सामग्रीमें वृद्धि होती है जिससे आत्मामें सुखका अनुभव होता है और अशुभ कर्मके उदयसे दुख देनेवाली सामग्री मिलती है, जिससे आत्मा दुखका अनुभव करता है। वास्तवमें देखा जाय तो पुण्य और पाप तथा इन दोनोंसे प्राप्त होनेवाली सामग्री ससार-

वन्धका कारण है और इनका आत्मासे कोई सम्वन्ध नही हैं। आत्मा केवल पुण्य-पापजन्य अनुभूतियोका ज्ञाता द्रष्टा मात्र है। इनमेसे किसी भी एक वस्तुसे उसकी आत्मीयता नही है।

हम किसीके नही है और हमारा कोई नही है। जगत्का सम्पूर्ण व्यवहार झूठा है।

जगत्के जितने पदार्थ है, वे सब अपनी-अपनी अतीत, अनागत एवं वर्तमानकालीन भिन्न-भिन्न पर्यायोके साथ पृथक्-पृथक् है। किसी भी द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ स्वरूपत कुछ भी साम्य नही है। आत्म द्रव्य भी इसी प्रकार सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य है। कर्म-सयोगके कारण इसका शरीरसे सम्बन्ध जुडता है और जगत्के व्यवहारोका निर्माण होता है; परन्तु शरीरके नाश होते ही सारे व्यवहार समाप्त हो जाते है। ज्ञानी आत्माकी यही दृष्टि रहती है। फलस्वरूप वह ससारके किसी भी अनात्मीय व्यवहारमे हर्ष-विषाद नही करता है। कविवरने प्रस्तुत जगत् एवं आत्म-दृष्टिका बडी कुशलतासे चित्राकन किया है। देखिये:—

"मै तिहुं जग तिहुं काल अकेला, पर-संजोग भया बहुमेला !
थिति पूरी कर खिर खिर जाहीं, मेरे हर्ष-शोक कछु नाहीं ॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ॥"

हे आत्मन् ! मै तीनो ससार तथा तीनो कालमे एकदम अकेला हूँ—मेरा स्वरूप बिलकुल स्वतत्र है और दूसरेसे उसका कोई सम्बन्ध नही है। पर-वस्तुके संयोग होनेसे ही अनेक व्यवहारो एव रिश्तोका हमसे नाता जुडा। परन्तु जिन वस्तुओका मेरी आत्मासे सम्वन्ध जुडा है वह अस्थायी है। अपने अपने समयपर इन सभी अनात्मीय पदार्थोका आत्मासे सम्वन्ध-विच्छेद हो जायगा और तब यह स्वतन्त्र द्रव्य समस्त वन्धनोसे शून्य शुद्ध-चैतन्य-पुञ्ज रह जायगा। इसलिए इन क्षणिक सम्वन्धोके प्रति मेरा कदाचित् भी हर्ष-विषाद नही होता है।

हम किसीके नही है और हमारा कोई नही है। जगत्का सम्पूर्ण व्यवहार झूठा है।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि जो इससे राग-स्नेह करता है, उसे यह सज्जन मानता है और जो इससे द्वेष रखता है उसे यह दुर्जन समझता है। परन्तु निश्चय-नयकी दृष्टिसे राग और द्वेष—दोनो ही आत्माकी वस्तु नही है, क्योकि वह तो अखण्ड चैतन्य-पिण्ड है और राग-द्वेष अचेतन कर्मकृत विकृत भाव है। इसलिए विवेकी आत्मा राग-द्वेषकी परणतिसे सदैव दूर रहता है और इन्हें सदैव आत्मासे पृथक् समझता है। कविवरने ज्ञानी आत्माकी इस दृष्टिका बड़ा हृदयग्राही विवेचन किया है। वह कहते है:—

"राग भाव तैं सज्जन मानै, दोष भाव तैं दुर्जन जानै।
राग-दोष-दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मैं चेतन पद मांही।।
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा।।"

आत्माके प्रति जो राग प्रदर्शित करता है, उसके कारण यह उसे सज्जन समझता है और जो द्वेष-व्यवहार करता है, उसे यह दुर्जन समझता ह। परन्तु ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि राग-द्वेषमेंसे जब एक भी आत्मीय वस्तु नही है तब मैं इनमें आत्म-बुद्धि रखकर क्यो हर्ष-विषाद करूँ? मेरा तो चैतन्य-पुञ्ज स्वभाव है और मैं अब उसीमें मग्न हूँ।

हम किसीके नही हैं और हमारा कोई नही है। जगत्का सम्पूर्ण व्यवहार मिथ्या है।

विशुद्ध आत्म-शान्तिकी अभिलाषा रखनेवाले मानवको एक दिन यह दृढ निश्चय करना होगा कि—

"हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा।।"

तब ही वह आत्म-शान्ति प्राप्त करनेका यथार्थ मार्ग प्राप्त कर सकेगा।

मोहि कब ऐसा दिन आयहै ?

संसारका प्रत्येक मानव जीवनमे एक साध रखता है। उसका एक लक्ष्य होता है और उसमे सफलता प्राप्त करनेके लिए निरन्तर उत्कठित रहता है। उत्कठित ही नही रहता है, उसमें सिद्धि पानेके लिए वह इतना तन्मय हो जाता है कि प्रतिक्षण उसे अपने लक्ष्यके सिवाय अन्य कुछ भी दिखलाई नही देता। चाहे उसका लक्ष्य प्रशस्त हो या अप्रशस्त, वह निरन्तर चिन्ताशील रहता है कि "वह दिन कब मिलेगा, जब मुझे अपनी साधमे पूर्ण सफलता मिलेगी।"

कविवर द्यानतरायके जीवनकी भी एक साध है; परन्तु वह बडी अद्भुत और अलौकिक है। उनकी साध ससारके किसी भी उच्चतम ऐश्वर्य एव समृद्धिके उपभोगकी नही है। उनकी एकमात्र आकाक्षा है—संसारके समस्त वैभाविक विकल्पोको दूरकर विशुद्ध आत्मस्थ हो जानेकी। वह निरन्तर केवल शुद्ध-बुद्ध, अखण्ड सच्चिदानन्दमय आत्मानुभूतिकी पावन धारामे ही निमग्न रहना चाहते है। उसमे आत्मा एव परमात्मा जैसे विकल्पोको भी वह किंचित् भी स्थान नही देना चाहते।

आइए, तनिक द्यानतरायजीकी साधको उन्हीकी वाणीमे सुने। वह कहते है:—

"मोहि कब ऐसो दिन आयहै।
सकल विभाव अभाव होंहिगे, विकलपता मिट जायहै।"
मोहि कब ऐसा दिन आयहै॥"

भगवन्! मुझे वह सुयोग्य कब प्राप्त होगा, जब मेरी आत्माकी समस्त वभाविक परणतियाँ और विकल्प सब प्रकारसे निर्मूल हो जावेंगे

तथा आत्माकी शुद्ध स्वाभाविक एव निराकुल अवस्था प्रकट हो जायगी।

भगवन्! मुझे वह सुयोग कव प्राप्त होगा?

जव तक आत्मामें राग और द्वेप विद्यमान रहते है उसकी वैभाविक परणति विभाव रूपसे परिणमन करती है, परन्तु ज्योही इसके विभाव रूपसे परिणमन करानेके हेतु निर्मूल हो जाते है, आत्मा अपनी विशुद्ध स्वाभाविक ज्योतिसे आलोकित हो उठती है। उस समय आत्मामें जिस प्रकारकी अडिग एव अकम्प अनुभूति उदित होती है, कविवर उसी आत्मानुभूतिका अलख जगा रहे है। देखिए, वह अपनी साधमे कहाँ तक उडान भर चुके है—

"यह परमातम, यह मम आतम, भेद-वुद्धि न रहायहै।
औरनि की का बात चलावै, भेद-विज्ञान पलायहै॥
मोहि कव ऐसा दिन आयहै॥"

विशुद्ध आत्मानुभूतिकी स्थितिमे "यह परमात्मा है और यह मेरी आत्मा है" इस प्रकारकी कोई भी भेद-वुद्धि शेष नही रह जाती है। और वस्तुओकी कौन चर्चा करे, यहा तक कि—उस समय आत्म-परका विवेक करनेवाला भेद-विज्ञान भी अपनी उपयोगात्मक अवस्थामें नही रहता।

भगवन्! मुझे ऐसा सुयोग कव प्राप्त होगा?

शुद्धात्मानुभूतिकी चरम कक्षामें ध्यान, ध्याता, ध्येयका किंचित् भी विकल्प शेष नही रह जाता है। कर्ता, कर्म, क्रियाकी पृथक् पृथक् तनिक भी अनुभूति नही होती। उस समय चैतन्य-ईश्वर कर्ताको चैतन्य भाव ही कर्म होता है और चेतना ही क्रिया होती है। तीनोका ही एक इस प्रकारका अभिन्न एव अखण्ड तादात्म्य होता है, जिसका विवेचन वाणी द्वारा नही किया जा सकता। कविवर 'द्यानतराय' इसी प्रकारकी अद्भुत आत्मानुभूतिके लिए उत्कठित दिखलाई दे रहे है। देखिए, वह अपनी अखड आत्मानुभूतिके समय किस प्रकार आत्म-सम्वन्धी विकल्प को भी तनिक भी स्थान नही दे रहे है —

"जानै आप आप में आपा, सो व्यवहार विलायहैं।
नय परमान निखेपन मांही, एक न औसर आयहैं।।
मोहि कब ऐसा दिन आयहैं।।"

विशुद्ध आत्मानुभूतिके समय यह व्यवहार तक विलीन हो जाता है कि आत्मा, अपनेमें अपनेको जानता है। यहा तक कि उस समय नय-प्रमाण और निक्षेप सम्वन्धी विकल्पोंके लिए भी किञ्चित् भी अवसर नही रह जाता है।

भगवन्! मुझे ऐसा सुयोग कब प्राप्त होगा?

अखण्ड आत्मानुभूतिकी वेलामे शुद्धात्म-स्वरूपका व्याख्यान करने-वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्रके विकल्प भी शेष नही रहते है। उस समय एकमात्र जिस अखण्ड-चैतन्य ज्योतिका प्रकाश देदीप्य-मान रहता है, कविवर केवल उसी चतन्य ज्योतिकी अनुभूतिमे सदाके लिए निमग्न रहना चाहते हैं। देखिए, कविने अपनी अभिलापाकी तीव्रता कितनी स्पष्ट पदावलीमे प्रस्तुत की है—

"दरसन ज्ञान चरनके विकलप, कहो कहाँ ठहरायहैं।
'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै, पुद्गल पुद्गल थायहैं।।
मोहि कब ऐसा दिन आयहैं।।"

विशुद्ध आत्मानुभूतिके क्षणोमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र जैसे आत्म-विकल्प भी शेष नही रह जाते है। उस समय तो चैतन्य अपनी विशुद्ध चैतन्य अवस्थामे विद्यमान रहता है और पुद्गल अपने विशुद्ध पौद्गलिक स्वरूपमे।

भगवन्! मुझे कब इस प्रकारका सुयोग प्राप्त होगा?

मानवके सम्पूर्ण त्रासका आधार उसकी अपनी भूलभरी वहिर्मुख प्रवृत्ति है। अपनेको सुखी वनानेके लिए उसे कविवर 'द्यानतराय' जैसी ही शुद्धात्मानुभूतिकी साध सामने रखकर ही अग्रसर होना चाहिए इसीमें उसका कल्याण है।

मेरी बेर कहा ढील करीजी !

मानवका जीवनाकाश जव सकटकी घन-घटाग्रोसे ग्राच्छन्न हो जाता है तव वह कर्त्तव्य-विमूढ होकर भगवान्‌की शरणमें जाता है। उसे इस वातकी दृढ श्रद्धा रहती है कि भगवान्‌की सातिशय शरण उसे निश्चय ही सकट-मुक्त कर देगी। उसकी सुदृढ श्रद्धाके ग्राधारविन्दु होते है वे पौराणिक भक्तजन जो घोरातिघोर सकटमें पडकर ग्रनन्त शक्तिशाली भगवान्‌की शरणमें पहुँचे और समीचीन भक्तिके कारण घोरतम संकटों से मुक्त हो गये।

कविवर 'द्यानतराय' भी इस पदमें वडे सकटग्रस्त दिखलाई दे रहे है। वह ग्रनेकानेक पौराणिक महापुरुपोके उद्धारका उदाहरण प्रस्तुत करते है और भगवान्‌से निवेदन करते है कि भगवन्! मैं एक भयकर सकटमें पडा हुग्रा हूँ। मुझे शीघ्र ही इस सकटसे वचाइए। मेरी वार क्यो देर कर रहे है।" यह वात स्मरणीय है कि द्यानतरायजीका सकट साधारण लौकिक सकट नही है। ग्रपनी ग्रवैराग्यपूर्ण दशा ही उन्हें भयकर सकट दिखलाई दे रही है और इस सकटसे मुक्त होनेके लिए ही वह भगवान्‌की पवित्र शरणमें विनम्र प्रार्थी है।

द्यानतरायजी पहले सुदर्शन सेठको संकटसे मुक्त करनेका ग्राख्यान भगवान्‌के सामने रखते है और देखिए, किस प्रकार स्वयके सकटको यथा-शीघ्र दूर करनेकी भगवान्‌से प्रार्थना करते है। वे कहते है.—

"मेरी बेर कहा ढील करीजी।
सूली सों सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरीजी,
मेरी बेर कहा ढील करीजी॥"

भगवन्! मेरी बार आप क्यो देर कर रहे है ?

जब सुदर्शन सेठ विपत्तिमे पड़े हुए थे—उन्हे शूलीपर चढ़ाया जाने वाला था तव तुमने शूलीका सिंहासन बना दिया और एक महान् संकटसे उनका उद्धार कर दिया।

भगवन्! मेरी बार आप क्यो देर कर रहे है ?

कविवर स्वयंको संकट-मुक्त करनेके लिए सीता और वारिषेणके उदाहरण प्रस्तुत करते है और भगवान्से विनय करते है कि इनके समान मुझे भी संकटसे वचाइए। कविका निवेदन सुनिए:—

"सीता सती अगनिमें बैठी, पावक नीर करी सगरीजी।
वारिषेण पै खड्ग चलायो, फूलमाल कीनी सुथरीजी॥"
मेरी बेर कहा ढील करीजी॥"

भगवन्! तुमने सती सीताकी अग्नि-परीक्षाके समय धधकते हुए अग्निकुण्डको पानी-पानी कर दिया और जब वारिषेणपर खड्ग चलाया गया तो उसे सुन्दर पुष्पमालाके रूपमे परिणत कर दिया।

भगवन्! मरी वार आप क्यो देर कर रहे है ?

इसके पश्चात् कविवर धन्यकुमार तथा श्रीपालके उदाहरण प्रस्तुत करते है और कहते है कि जिस प्रकार इन लोगोंको असीम सकटो एवं कष्टोसे मुक्त कर दिया गया उसी प्रकार भगवन्! मुझे भी कष्टोंसे छुड़ाइए। कविवरका आत्म-निवेदन सुनिए:—

"धन्या वापी परचो निकाल्यो, ता घर रिद्ध अनेक भरीजी।
सिरीपालसागर तैं तारचो, राजभोग कै मुकति वरीजी॥
मेरी बेर कहा ढील करीजी॥"

भगवन्! धन्यकुमार जब बावड़ीमे गिर पड़े तो उन्हे उससे निकाला और उनका घर अनेक प्रकारकी ऋद्धियोसे भर दिया। समुद्रमे पड़े हुए श्रीपाल राजाको संकटसे मुक्त किया और इसके पश्चात् उन्होंने राज्य का भोग कर मुक्तिश्रीका वरण किया।

भगवन् ! मेरी वार आप क्यो देर कर रहे हैं ?

अन्तमें कविवर सोमाके साथ घटित होनेवाली दुर्घटना और उससे मुक्ति-लाभकी कहानी प्रस्तुत करते हैं और अपनी अनासक्त परणतिको प्रकट करते हुए भगवान्से अपनी विराग-दशा करनेकी प्रार्थना करते हैं। कवि कहते हैं —

"साँप कियो फूलनकी माला, सोमा पर तुम, दया धरीजी।
'द्यानत' मैं कछु जांचत नाहीं, कर वैराग्य-दशा हमरीजी ॥
मेरी वेर कहा ढील करीजी ॥"

भगवन् ! सोमाके ऊपर दयाकर तुमने उसे काटनेके लिए भेजे गये साँपकी फूल-माला वना दी। कविवर निवेदन करते हैं कि—भगवन् ! मुझे संसारके किसी भी पदार्थकी आकाक्षा नही है। वस, हमारे ऊपर तो ऐसी कृपा कीजिए, जिससे हम शीघ्र ही सम्पूर्ण विराग-दशा प्राप्त कर लें।

भगवन् ! मेरी वार आप क्यो देर कर रहे है ?
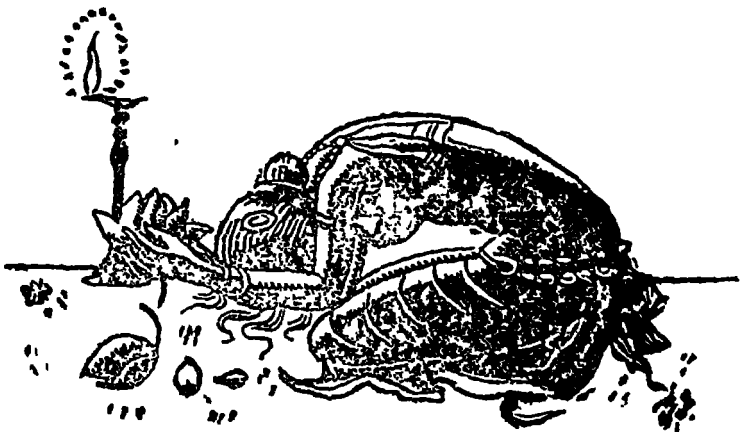
तुम प्रभु ! कहियत दीनदयाल

ससारका यह नियम है कि मानवका यदि कोई निकटतम स्वजन सब प्रकारसे समर्थ होकर अपने छोटे बन्धुका ध्यान नही रखता ह और उसे इस कारण कष्टमय जीवन यापन करना पड़ता है तो उसे बडी निराशा होती है और वह अवसर पाकर अपने समर्थ स्वजनको उसकी इस उपेक्षापूर्ण प्रवृत्तिपर विनम्र उपालभ देता है ।

कविवर द्यानतरायजी भी आज ऐसी ही मनोदशामे है । ससारके बन्धन और उत्पीड़नोसे वह व्याकुल और दुःखी है । जिनेन्द्र भगवान् ही उन्हे अपने अशरण-शरण दिखलाई देते है । उनके सिवाय अन्य कोई उन्हे ऐसा समर्थ दिखलाई नही देता जो सासारिक दुःख-निवृत्तिकी इस जटिलतम समस्याके समाधानमें उनका अनन्य सहायक हो सके । परन्तु भगवान्की शरणमे जाते ही उन्हे प्रतीत होता है कि वे तो मुक्तिमे विराजमान है और उन्हे अपने भक्तकी दयनीय दशाका तनिक भी ध्यान नहीं है तो कविवरके मनमे रोषकी एक क्षीण रेखा दौड जाती है और वह बडी विनयके साथ भगवान्को उपालभ देने लग जाते है । देखिए, उनके उपालंभका ढग कितना विनम्र एवं तर्कसगत है । वह कहते हैं.—

"तुम प्रभु ! कहियत दीन-दयाल ।
आपन जाय मुकतिमे बैठे, हम जु रुलत जग जाल ।।
तुम प्रभु ! कहियत दीन-दयाल ।।"

हे भगवन् ! आप दीन-वन्धु एवं दीन-कृपालु कहलाते है । परन्तु यह कैसी विचित्र वात है कि आप तो मुक्तिमें जाकर विराजमान हो गये

और हम ससार-सागरमें ही परिभ्रमण कर रहे हैं। दीन-दयालु होकर भी आपने हमारे ऊपर तनिक भी कृपा नही की।

भगवन्! आप तो दीन-दयालु कहलाते हैं।

मन-वचन-कायपूर्वक निरन्तर भगवान्‌का पुण्यस्मरण करने पर भी भगवान्‌की ओरसे जब भक्तको कुछ प्राप्त नही होता है तो उसका मन निराशा और चिन्तासे भर जाता है। एक ओर उसे प्रभुकी अनन्त प्रभुता एव कृपालुता ध्यानमें आती है तो दूसरी ओर अपनी अनन्य निष्ठा एव विफलता। कविवर द्यानतरायजी ऐसी ही स्थितिमें पडकर भगवानसे विनम्र निवेदन कर रहे है। उनकी अभ्यर्थना उन्हींके गीतिमय शब्दोंमें सुनिए —

"तुमरो नाम जपै हम नीके, मन-वच तीनो काल।
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल॥
तुम प्रभु! कहियत दीन-दयाल॥"

भगवन्! हम बडी श्रद्धा एव भक्तिसे तीनो काल, मन-वचनसे आपके पवित्र नामका जाप करते हैं। परन्तु आप सर्वशक्ति-सम्पन्न होकर भी हमको कुछ भी नही देते हैं। जब आपका हमारे ऊपर इस प्रकार उपेक्षाभाव है तब कह नही सकता हमारा क्या हाल होगा?

भगवन्! आप तो दीनदयालु कहलाते है।

भक्तको इस बातकी अविचल श्रद्धा होती है कि भगवान् उसकी अच्छाई और बुराईकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर निश्चय ही उसे पूर्णकाम कर देते हैं। कविवर द्यानतरायजीकी भी अपने भगवान्‌पर ऐसी ही असामान्य श्रद्धा है। परन्तु भगवान्‌से वह किसी लौकिक कामनाकी पूर्ति के लिए प्रार्थी नही दिखलाई देते। अपितु अन्तर्में रमे हुए रागद्वषको विच्छिन्न कर देना ही उनकी कामनाका केन्द्रबिन्दु हैं। कविवरका हार्दिक निवेदन सुनिए.—

"भले-बुरे हम भगत तिहारे, जानत हो हम-चाल।
और कछू नहिं यह चाहत हैं, राग-दोष कौं टाल॥
तुम प्रभु! कहियत दीन-दयाल॥"

भगवन्! चाहे हम भले हों, चाहे बुरे। भक्त तो आपके ही है। फिर आप हमारी प्रवृत्तिसे भी पूर्णतया परिचित है। कविवर कहते है—भगवन्! हमारी अन्य कुछ भी आकाक्षा–अभिलाषा नही है। हम केवल यही चाहते है कि हमारा राग-द्वेष आत्मासे दूर हो जाय और हम सहजानन्द मय स्वरूपको प्राप्त कर सकें।

भगवन्! आप तो दीन-दयालु कहलाते है।

कविवरका भगवान्के प्रति किया गया अन्तिम आत्म-निवेदन देखिए। इसमें कितनी नम्रता एव श्रद्धासे वह निवेदन कर रहे है। वह कहते है:—

"हम सौं चकपरी सो वक सो, तुम तो कृपा-विसाल।
'द्यानत' एक वार प्रभु, जगतं, हमको लेहु निकाल॥
तुम, प्रभु! कहियत दीन-दयाल॥"

भगवन्! हम कितने ही पतित एव असमर्थ क्यो न हो, आप तो करुणाके समुद्र है। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि कमसे कम एक वार तो इस संसार-वन्धनसे हमे मुक्त कर दे।

भगवन्! आप तो दीन-दयालु कहलाते है।

कहा है, आज वह भक्त जो ससारकी माया एवं बन्धनसे मुक्त होने के लिए भगवान्की शरणमे विनम्र प्रार्थी हो और कह रहे हों:—

"...... एकवार प्रभु, जगतं, हमको लेहु निकाल।"

—o—

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई!

विशुद्ध आत्म-साक्षात्कारके लिए ध्यानका वडा ही महत्त्व है। और यह ध्यान मनोनिग्रह एव मनोगुप्तिके विना कदापि सभव नही है। मनको जवतक विविध विकल्पो एव चिन्ताओसे अवरुद्ध कर आत्माभिमुख नही किया जाता, आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार असभव वना रहता है। अत' विशुद्ध आत्मदर्शन एव शुद्ध आत्म-स्वरूपकी उपलब्धिके लिए मनका निग्रह नितान्त आवश्यक है।

कविवर द्यानतरायजी ऐसे ही मनोनिग्रहके हेतु विशुद्ध आत्म-स्मरण के लिए वल दे रहे हैं। वह कहते हैं —

"ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई। पवन थंभै मन कितहुँ न जाई॥
परमेसुरसौं साँच रहीजै, लोक-रंजनाको तज दीजै॥
ऐसो सुमिरनकर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहुँ न जाई॥"

हे भाई! तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राण-वायु स्तभित हो जाय और यह मन किञ्चित् भी चलित न हो।

हे भाई! तुम भगवान्‌के प्रति सत्य रहो और लोकोको रजायमान करनेवाले किसी भी कार्यको मत करो।

हे भाई! तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राणवायु स्तभित हो जाय और यह मन किञ्चित् भी चलित न हो।

विशुद्ध आत्मस्वरूपकी उपलब्धिके लिए अन्य साधन भी आवश्यक है। जप, तप, आसन और प्राणायामका भी अपना स्वतन्त्र एव अद्भुत स्थान है। प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधिकी भी अपनी निराली

महत्ता है। कविवर द्यानतराय इसी ओर अपनी कवित्वपूर्ण शैली द्वारा सकेत कर रहे है। उन्हींके शब्दोमें सुनिए:—

"जप अरु नेम दोउ विधि धारै, आसन प्राणायाम संभारै।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै॥
ऐसौ सुमिरन कर मेरे भाई। पवन थंभै मन कितहुँ न जाई॥"

हे भाई! तुम अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग-दोनो प्रकारसे जप और नियमों का पालन करो। आसन और प्राणायामको संभालो। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास करो तथा ध्यान और समाधिके महान् रसका पान करो।

हे भाई! तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राणवायु स्तंभित हो जाय और यह मन किञ्चित् भी चलित न हो।

जप-तप और नियम-पालन करनेकी सार्थकता इसमे है कि इनके आचरणसे मानव सदाके लिए भव-बाधासे मुक्त हो जाय। यदि उसे जन्मान्तरमें भी जप-तप-व्रतोंके पालनकी आवश्यकता पड़ती है तो इसका अर्थ है कि इनके पालन करनेमें कही त्रुटि रही है और फलत. यह निष्फल है।

कविवरने इसी तथ्यको कितनी स्पष्टतासे वर्णित किया है, देखिए:—

"सो तप तपो वहुरि नहिं तपना, सो जप जपो वहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो वहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो वहुरि नहिं मरना॥
ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई! पवन थंभै मन कितहुं न जाई॥"

हे भाई! ऐसी तपस्या करो, जिससे सदाके लिए इस भव-भ्रमणसे मुक्ति मिल जाय। ऐसा जाप करो, जिससे पुन. जन्मान्तरमे जापकी आवश्यकता न पड़े। ऐसे व्रतोका पालन करो, जिससे दूसरे जन्ममे व्रत पालन न करने पड़ें और मरण भी इस प्रकार समाधि पूर्वक होना चाहिए, जिससे सदाके लिए जन्म एवं मरणके चक्रसे छुटकारा मिल जाय।

हे भाई! तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राण-वायु स्तंभित हो जाय और मन किञ्चित् भी चलित न हो।

शाश्वत आत्म-सुख प्राप्त करनेके लिए मानवको गभीर आत्म-साधना के साथ निरन्तर जागरूक एवं अप्रमत्त रहना वाछनीय है। साधना-में किया गया तनिक-सा प्रमाद भी उसे लक्ष्य-भ्रष्ट कर पतनके गर्त्तमें गिरा सकता है। अत मानवका कर्त्तव्य है कि वह अनादिकालीन भव-भ्रमण की परम्पराका सिंहावलोकन करता हुआ अप्रमत्त होकर संयमके पथपर अग्रसर रहे।

कविवर द्यानतरायजी अपने साधक बन्धुको ऐसा ही सत्परामर्श दे रहे हैं। उनका सुचिन्तित परामर्श सुनिये। वह कहते हैं—

"पंच परावर्तन लखि लीजै, पांचों इन्द्रीको न पतीजै।
'द्यानत' पाँचो लच्छि लहीजै, पंच-परम-गुरु शरन गहीजै॥
ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै, मन कितहुँ न जाई॥"

हे भाई! पहले पच परिवर्तनोपर एक दृष्टि डालो, जिससे तुम्हें अपनी अनादिकालीन ससार-भ्रमणकी कथाका कुछ बोध हो सके। पाँचो इन्द्रियोका निग्रह करो और इस प्रकार पाँच ऋद्धियाँ प्राप्त करो। मान-सिक निग्रह एव विशुद्ध आत्म-स्वरूपके लाभके लिए यह आवश्यक है कि हे भाई! तुम निरन्तर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एव सर्व-साधुओकी माङ्गलिक शरण न छोडो।

हे भाई! तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राणवायु स्तभित हो जाय और मन तनिक भी चचल न हो।

चेतन, तू कतिहुँाल अकेला

ससारी आत्मा सदासे ममत्वशील अतएव सग्रही रहा है। उसकी अविवेकपूर्ण प्रवृत्तिमे भी मोह ही प्रधान निमित्त है। यही कारण है कि यह आत्मा निरन्तर परकीय वस्तुओको अपनाता है एव उनमे तीव्र निजत्व तथा रागवुद्धि रखता है। माता-पिता, स्त्री-पुत्र, स्वजन-परिजन, धरा-धाम, धन-धान्य—सव कुछ, जिससे उसकी तनिक भी आत्मीयता नही है, अपना मानता है। परन्तु इसे इस वातका तनिक भी विवेक नही है कि वह अपने आपमे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र द्रव्य है और अन्य वस्तुओसे उसका कुछ भी नाता नही है। वह सदासे अकेला है और सदा अकेला रहेगा। शरीर भी उसका नही है और यहा तक कि उसकी आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाही-कार्मिक वर्गणाओसे भी उसका कोई सम्वन्ध नही है।

कविवर वनारसीदास अपने आत्म-स्वरूपसे पूर्णतया परिचित है। वह इस पदमे ससारके मोही जीवको वस्तु-स्वरूप तथा आत्म-स्वभावकी यथार्थ जानकारी दे रहे है। देखिए, उन्हे ससार-भाव एवं आत्म-रूपकी कितनी सम्यक् अनुभूति है और किस स्पष्टता तथा दृढताके साथ वह ससारी चेतनको उससे अवगत करा रहे है। वह कहते है:—

"चेतन, तू तिहुँकाल अकेला।
नदी-नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला॥
चेतन, तू तिहुँकाल अकेला॥"

हे आत्मन्! तू तीनो कालमें अकेला है—अपने स्वरूपको छोड़कर तेरा पर-वस्तुसे किञ्चित् भी सम्वन्ध नही है, न हुआ है और न होगा।

कुटुम्वका सम्वन्ध तो नदी-नावके संयोगकी तरह है। न वह शाश्वत है और न उसमें अपनापन है।

हे आत्मन् ! तू तीनो कालमें अकेला है ।

आत्म-स्वरूप नित्य शुद्ध वुद्ध सच्चिदानन्दमय है । इसके विपरीत ससार और शरीर—सब कुछ अशाश्वत और आत्मरूपसे भिन्न है। ससारके नाते भी अखण्ड आत्मरूपकी तरह सदा रहनेवाले नही है । इसी तथ्यको कविवरने वडी सजीव शैलीमे प्रतिपादित किया है । कविका सवोधन सुनिए —

"यह संसार असार रूप सव, ज्यों पटपेखन खेला ।
सुख-संपति शरीर जल-वुदवुद, विनशत नाहीं वेला ॥
चेतन, तू तिहुँकाल अकेला ॥"

जिस प्रकार पटवीजनेकी क्रीडा असार और अनित्य है उसी प्रकार ससारका रूप भी अनित्य और असार है । ससारका सुख, वैभव और शरीर उसी प्रकार नाशवान है, जिस प्रकार जलका ववूला आँखोंके देखते-देखते ही विलीन हो जाता है । आत्मन् ! तेरी इन वस्तुओसे तनिक भी आत्मीयता नही है ।

हे आत्मन् ! तू तीनो कालमे अकेला है ।

मोहका स्वभाव है आत्म-स्वभावको आच्छन्न कर उसमें राग-द्वेष विकारोको जन्म देना । इसके कारण ही आत्मा ससारकी विभिन्न वस्तुओ मे ममत्व-वुद्धि रखता है । इस ममत्व-वुद्धिके कारण पर-वस्तुओमें भी इसकी इतनी उग्र आसक्ति एव तीव्र राग रहता है कि वह निरन्तर आत्मभान एव कल्याणसे रहितकर इन वस्तुओके सग्रह करनेमे ही सलग्न वना रहता है और ससारकी विभिन्न योनियोमें परिभ्रमण करता हुआ दुख उठाता रहता है। कविवरने यहाँ प्रस्तुत वस्तु-दर्शनका वड़ी सुन्दरतासे समावेश किया है । वह कहते है —

"मोह-मगन आतम-गुन भूलत, परी तोहि गल-जेला ।
मैं मैं करत चहूँगति डोलत, वोलत जैसें छेला ॥
चेतन, तू तिहुँकाल अकेला ॥"

हे आत्मन्। तुम मोहमे मग्न होकर आत्म-गुणोको भूल रहे हो—पर-वस्तुओंको अपनाकर उनमे तीव्रानुराग और आत्म-भाव कर रहे हो। इस भूलके कारण जो तुम भव-कारागृहमे वन्दी हो, तुम्हे इसका तनिक भी वोध नही है। मोहके कारण आत्मन्! तुम इसी प्रकार में-में करते हुए चतुर्गतिके दुख उठा रहे हो, जिस प्रकार वकरा 'मे मे' करता हुआ मिमयाता रहता है।

हे आत्मन्! तू तीनो कालमे अकेला है।

विशिष्ट ज्ञानीजनके सत्संगसे ही मनुष्यको अपनी भूलका पता चलता है और उससे सवोधना पाकर ही वह अपनी मिथ्या वुद्धि एव मान्यता का परित्याग कर सुपथ पर अग्रसर होता है। देखिए, कविवर यहाँ मोही प्राणीको सुगुरु-पथानुगामी वननेका कितना तर्कपूर्ण सदेश दे रहे हैं। उनका सदेश है—

"कहत 'वनारसि' मिथ्यामत तज, होय सुगुरुका चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझला॥
चेतन, तू तिहुँकाल अकेला॥"

हे आत्मन्! तुम मिथ्या-वुद्धि छोड़ दो और सद्गुरुकी शरणमें पहुँचो। अन्तस्‌में सुगुरुकी वाणीपर ही प्रतीति करो। यही एक मार्ग है, जिसका अनुसरणकर सरलता पूर्वक भव-वाधासे मुक्ति मिल सकती है।

हे आत्मन्! तू तीनो कालमें अकेला है।

विश्व-विभूतिका सग्रहकामी आजका मानव समझ ही नही पाता है कि— "चेतन, तू तिहुँ काल अकेला।"

फिर उन महात्माओका सत्सङ्ग भी दुर्लभ है जिनका शिष्यत्व उन्हें उल्लिखित तथ्यसे अवगत करा सके। परन्तु चेतनका सत्य कल्याण इस सम्यक् प्रतीतिके विना कदापि सभव नही है.—

"चेतन, तू तिहुँ काल अकेला।"

—— ——

देखो भाई, महाविकल संसार

मोह और अज्ञान–दोनो ही आत्माके वडे विघातक और अहित-कारक है। इनके कारण यह जीव न मालूम कवसे व्याकुल और दुखी हो रहा है। मोहके कारण यह अनात्म वस्तुओमे ममत्व वुद्धि और राग करता है तथा अज्ञानके कारण अकल्याणकारिणी प्रवृत्तिको भी कल्याण-कारिणी समझता है। यह अज्ञानका ही विशद विलास है, जिसके कारण व्यक्ति हिंसा करता हुआ भी आनन्दका अनुभव करता है और असत्य भाषणसे कार्य सिद्ध करनेसे चातुर्य समझता है। दूसरेके द्रव्यको अपहरण करनेमें अपनी सामर्थ्यशीलता और परिग्रहकी अभिवृद्धिमें प्रतिष्ठाशालिता का अभिमान करता है। परन्तु इतनेसे इसे वास्तविक शान्ति नही मिलती। आत्म-शान्तिकी कामनासे कभी यह विविध प्रकारके योगासन लगाता है, शरीरको वशवर्ती करनेके प्रयत्न करता है और आगम-वेद आदिका स्वाध्याय करता है, पर हृदयमें एक ऐसा अहभाव रहता है, जिसके कारण यह अपने प्रभुत्व-निरूपणमें एव अपनी प्रभुत्व-प्रसारणामे ही तन्मय रहनेके कारण निरन्तर चिन्ताशील वना रहता है और लेशमात्र भी शान्ति प्राप्त नही कर पाता। अज्ञानके कारण इसे सम्यक् आत्म-भान नही हो पाता। फलत यह जडमे आत्म-बुद्धि करने लग जाता है और लक्ष्यभ्रष्ट होकर ससारमे परिभ्रमण करता रहता है।

कविवर वनारसीदास इस पदमे इसी प्रकारके महान् व्याकुल ससारी मानवकी करुण दशाका चित्रण कर रहे है। वह कहते है —

"देखो भाई, महाविकल संसारी।
दुखित अनादि मोहके कारण, राग–द्वेष भ्रम भारी।
देखो भाई, महाविकल संसारी॥"

हे भाई! देखो तो यह संसारी मानव कितना अधिक दुखी है!

यह मानव अनादिकालसे आत्माके साथ सम्बद्ध मोहके कारण दुखी है और राग-द्वेष तथा अज्ञानके दुःसह भारको ढो रहा है।

हे भाई! देखो तो यह संसारी मानव कितना अधिक दुखी है।

संसारी मानव विश्वविश्रुत पाँच महापापोंका सेवन करता हुआ भी किस गर्वके साथ अपनेको महान् एवं धन्य समझता है। कविवरने इसका बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन किया है। कविकी कवित्वपूर्ण वाणी सुनिए:—

"हिंसारंभ करत सुख समुझै, मृषा बोलि चतुराई।
परधन हरत समर्थ कहावै, परिग्रह बढ़त बड़ाई॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥"

संसारका यह मानव दूसरे प्राणियोंको पीड़ाकारक घोरतम हिंसासे पूर्ण आरंभ-कार्य करता है, परन्तु उसमें भी वह सुखका ही अनुभव करता है। असत्य भाषण करके दूसरे प्राणीके अन्तस्‌मे ठेस पहुँचाता है, परन्तु अपना स्वार्थसिद्ध होनेसे उसमे एक गंभीर चातुरी मानता है। दूसरेके द्रव्यका अपहरण करके भी समर्थ और शक्तिशाली समझता है। और अनेक चिन्ताओंके मूलकारण परिग्रहकी वृद्धि होनेपर भी आत्म-संमानकी वृद्धिका अनुभव करता है।

हे भाई! देखो तो यह संसारी मानव कितना अधिक दुखी है।

अन्तःशान्ति प्राप्त करनेके लिए संसारी मानवका प्रयास निरन्तर चलता रहता है। इसके लिए वह अपने वचन तथा कर्मको भी नियन्त्रणमें रखता है परन्तु मनके अनियन्त्रित रहनेसे वह अशान्तका अशान्त ही बना रहता है।

कविवर इसी तथ्यको अपनी वैज्ञानिक विवेचना द्वारा प्रस्तुत कर रहे है। सुनिए:—

"वचन राख काया दृढ़ राखे, मिटै न मन चपलाई।
यातैं होत औरकी औरैं, शुभ करनी दुखदाई॥
देखो भाई, महाविकल ससारी॥"

ससारी मानव सम्यक् सुख प्राप्त करनेके ध्येयसे अपने वचनकी अनर्गल प्रवृत्तिपर नियन्त्रण रखता है और शरीरका भी दृढतासे सगोपन करता है, पर मनकी चपलता शान्त नही हो पाती। परिणाम यह होता है कि मानवकी प्रशस्त साधना भी अमङ्गलकारिणी और दुखद ही सिद्ध होती है।

हे भाई! देखो तो ससारी मानव कितना अधिक दुखी है।

आत्म-शान्तिकी यात्रामें मानव योग और कर्म-निरोधका भी आश्रय लेता है, परन्तु अन्तर्दृष्टि जाग्रत् न होनेसे इसे तनिक भी शान्ति नही मिल पाती। देखिए, कविवरने वस्तुस्थितिका कितना सजीव विवेचन किया है —

"जोगासन करि कर्म निरोधै, आतमदृष्टि न जागै।
कथनी करत महन्त कहावै, ममता मूल न त्यागै॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥"

यह मानव अनेक प्रकारके योगके आसनोका अवलम्ब लेकर अशुभ प्रवृत्तियोको रोकता है, परन्तु आत्म-दृष्टि जागृत नही हो पाती और उसके अभावमें शान्ति-लाभ सर्वथा दुष्कर हो जाता है। इतना ही नही, यह अनेक दिव्य उपदेशोका दान करता हुआ 'महन्त' जैसी दुर्लभ उपाधियोको भी प्राप्त कर लेता है, परन्तु अन्तस्से ममता नही निकल पाती और वह दुखीका दुखी ही वना रहता है।

हे भाई! देखो तो ससारी मानव कितना अधिक दुखी है।

शान्तिकामी मनुष्य सोचता है, वेद, आगम और सिद्धान्तग्रन्थोके चिन्तन-मनन एव श्रवणसे शान्ति मिलेगी, पर परिणाम विपरीत ही निकलता है। इतने पर भी मानवका 'अह' सुप्त नही हो पाता और

उसकी मायामे निमग्न रहनेसे उसे शुद्धात्मस्वरूपकी क्षणिक भी उपलब्धि एव दर्शन नही हो पाता। कविवर इसी बातको बड़ी स्पष्टताके साथ दिखला रहे हैं:—

"आगम वेद सिद्धान्त पाठ सुनि, हिये आठ मद आनै।
जाति-लाभ-कुल-बल-तप-विद्या—प्रभुता रूप बखानै॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥"

यह मानव आगम, वेद और सिद्धान्तशास्त्रोंका पाठ सुनता है, फिर भी इसके हृदयसे जाति, लाभ, कुल, बल, तप, विद्या एव प्रभुताका मद दूर नही हो पाता, जिसके कारण यह उन्मत्तकी भाँति निरन्तर अपने 'अह' मे चूर रहता है और व्याकुल बना रहता है।

हे मानव! देखो तो ससारी मानव कितना दुखी है!

जिस प्रकार बालूसे तेल नही निकाला जा सकता, उसी प्रकार जड़-वस्तुको अपनाकर और उससे ममत्व जोडकर यथार्थ आत्म-सुख नही प्राप्त किया जा सकता। आत्म-सुख प्राप्त करनेके लिए आत्म-बोध एव रुचि होना नितान्त वाञ्छनीय है। देखिए, कविवरने यहाँ इसी आत्म-विवेककी उपयोगिताका कितने सुन्दर शब्दोमे चित्राकन किया है:—

"जड़सौं राचि परमपद साधै, आतम शक्ति न सूझै।
बिना विवेक-विचार दरब के, गुण-परजाय न बूझै॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥"

ससारी मानव जडवस्तुसे रुचि रखकर परमपदको सिद्ध करना चाहता है; परन्तु उसे आत्म-बोध एव आत्म-दर्शन नही हो पाता। जब तक वह उनकी विवेक-शक्तिको जागृत नही करता, उसे द्रव्योंके गुण-पर्यायका ज्ञान नही हो सकता। वह नही समझ सकता कि अमुक पर्याय किस द्रव्यकी है और अमुक गुणोका किस द्रव्यके साथ सम्बन्ध है। फलतः वह यथार्थ वस्तु-ज्ञानसे बिछुड़ जाने और पर-वस्तुके गुण-पर्यायमें लिप्त हो जानेके कारण वास्तविक आत्म-सुख नही प्राप्त कर पाता।

हे भाई ! देखो तो संसारी मानव कितना अधिक दुखी है ।

विवेक-विकल मानव किस प्रकार अपनी-अपनी रुचिके राग-रगमें रगा हुआ है और प्रयत्न करनेकी शाश्वत शान्ति नही प्राप्त कर पाता, देखिए कविवरने इसका कैसा मार्मिक वर्णन किया है । वह लिखते है –

"जसवाले जस सुनि संतोषै, तपवाले तन सोषै ।
गुनवाले परगुन को दोषै, मतवाले मत पोषै ।।
देखो भाई, महाविकल संसारी ।।"

संसारमे कोई यश कामी अपनी कीर्ति-गाथा सुननेमे ही परम सतोष लाभ करते हैं तो कोई तपस्वी अपने शरीरका शोषण करनेमें ही प्रसन्न है। कतिपय गुणी दूसरोके गुणोमें दोषोद्भावनसे ही आनन्दित होते है, तो कुछ अपनी मान्यताओके पोषणमे ही प्रमोद-लाभ अनुभव करते है । परन्तु इनमेंसे एक भी निराकुल सुखका अनुभव नही कर पाता ।

हे भाई ! देखो तो ससारी मानव कितना अधिक दुखी है !

कविवर स्वय मानवको उसकी मोह-विकलतासे मुक्ति दिलानेका मार्ग वतला रहे है । वह कहते है —

"गुरु-उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटै ।
कहत 'बनारसि' है करुनारसि, अलख अखय निधि लूटै ।।
देखो भाई, महाविकल संसारी ।।"

सद्‌गुरुके उपदेशसे ही मानवकी उदयमे आई हुई मोहकी व्याकुलता छूटती है । उसी समय यह सच्चा अहिंसक वनता है और निराकुलता-पूर्वक अक्षय निधिका लाभ करता है ।

हे भाई, देखो तो ससारी मानव कितना दुखी है !

—:•:—

वा दिनको कर सोच जिय, मनमें

मनुष्यकी यह प्रकृति ह कि वह इस ससारको नित्य एव जीवनको शाश्वत मानकर उसमे रहता है और निरन्तर पर-पदार्थोके एकान्त सग्रह मे निमग्न रहता है । एक दिन उसे इस ससारसे विदा लेनी होगी, इस बातका वह स्वप्नमे भी ध्यान नही रखता । एक साधारण व्यापारी भी इस बातका पूर्ण ध्यान रखता है कि व्यापारके प्रारभकालमे उसके पास कितनी पूंजी थी और उसने अपने सम्पूर्ण व्यापारिक जीवनमे कितना हानि-लाभ उठाया । दैनिक, मासिक एव वार्षिक आँकडोसे वह अपने हिसाबमे बहुत सावधान रहता है और जीवनव्यापिनी सफलताके लिए निरन्तर जागरूक भी । अन्तत. सफलता भी उसके चरण चूमती ही है । परन्तु इस संसारी-मानवकी कथा ही निराली है । वह कदापि इस बात का चिन्तन नही करता कि उसने कितनी साधनाकी पूंजी लगाकर यह मानवता प्राप्त किया और फिर उसे कहाँ तक सफल बनाया । वह पर-वस्तुओसे मिथ्या ममत्व करता है और उन्हें निरन्तर पकडे रहने एव परलोक तकमे ले जानेके प्रयत्नमे रहता है ।

कविवर बनारसीदासजी यहाँ ऐसे ही व्यक्तिको सबोधन दे रहे है । वह कहते है.—

"वा दिनको कर सोच जिय, मनमें ।
बनज किया व्यापारी तूने, टांड़ा लादा भारी रे ।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ।।
आखिर बाजी हारी, करले चलनेकी तैयारी,
इक दिन डेरा होयगा बनमें; वा दिनको कर सोच जिय, मनंम ।।"

आत्मन् ! तुम अपने मनमे उस दिनकी कल्पना तो करो । तुमने व्यापारीके रूपमे व्यापार किया और एक बहुत बड़ा खाडू लादा; पर

थोडी-सी पूंजी होनेपर भी जुआ जैसे दुर्व्यसनके शिकार हुए और अन्तमें दाव हार गये। अन्तमें जव दाव हार गये तो आत्मन्! अब प्रस्थान की तैयारी करना है। यहाँसे प्रस्थानकर तुम्हें वनमें डेरा डालना होगा अर्थात् मरकर स्मशानभूमिमें जाना होगा।

हे आत्मन्! तुम अपने मनमें उस दिनकी कल्पना तो करो।

धन एव कुटुम्ब-परिवारसे आत्माका कोई नाता नही है, परन्तु आज कुटुम्ब परिवार एव आर्थिक विभूति ही आत्माका सर्वस्व हो रही है। कविवरने इसी तथ्यको वडे प्रभावपूर्ण ढगसे चित्रित किया है। देखिए —

"झूठे नैना उलफत वाधी, किसका सोना, किसकी चाँदी।
इक दिन पवन चलैगी आँधी, किसकी बीवी, किसकी बांदी॥
नाहक चित्त लगावै धनमें, वा दिनको कर सोच जिय, मनमें॥"

आत्मन्! तुमने अपने नेत्रोसे व्यर्थ तथा मिथ्या ही प्रेम वाधा। ससारमे सोना और चाँदी किसका रहा है? आत्माके परलोकवासी होते ही सव कुछ यहाँ ही रह जाता है उसके साथ कुछ भी नही जाता। कुटुम्बीजन तथा स्त्री-पुत्रादि और परिजन भी—सव यहाँ ही रह जाते है। आत्मन्! तुम इन परकीय पदार्थो तथा धनमे व्यर्थ ही अपना मन डुलाते हो।

हे आत्मन्! तुम अपने मनमें उस दिनकी कल्पना तो करो।

ससारी आत्मा जव जन्मान्तर लेनेके लिए अपने द्वारा अधिवसित एक देहका परित्याग करता है तव वह केवल अपने आत्म-द्रव्यको लेकर प्रस्थान करता है। पर वस्तु शरीर तक उसके साथ नही जाता। उस समय शरीर निर्माण करनेवाले तत्त्व भी अपने-अपने मूल तत्त्वोमे जा मिलते हैं। कविवर यहा इसी रहस्यका उद्घाटन कर रहे है। देखिए, उन्होने एक गहन दार्शनिक सिद्धान्तका किस कवित्वपूर्ण प्राञ्जल भाषामें स्पष्टीकरण किया है —

"मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो, पानी से पानी।
मूरख सेती मूरख मिलियो, ज्ञानी से ज्ञानी॥

यह मिट्टी है तेरे तन में, वा दिनको कर सोच जिय, मनमें ।।"

हे आत्मन् ! जिस प्रकार मूर्खसे मूर्ख मिल जाता है और ज्ञानीसे ज्ञानी पुरुष मिल जाता है, उसी प्रकार मृत्युके बाद इस शरीरका पार्थिव अंश पृथिवीमे मिल जाता है और जलांश जलमें। आत्मन् ! तुम्हारा शरीर तो मिट्टीका बना हुआ है—फिर वह तुम्हारे साथ कैसे जायेगा ? वह तो मिट्टीमे मिलकर रहेगा।

हे आत्मन् ! तुम अपने मनमें उस दिनकी कल्पना तो करो।

आत्माका गौरव इसमे है कि वह जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध आत्म-रूपको प्राप्त करे। कविवर इसी विशुद्ध आत्म-स्वरूपके लाभके लिए संसारी मानवको संबोधन कर रहे हैं। वह कहते हैं –

"कहत 'बनारसि' सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सो नाहीं, सर पर काला निशाना रे।।
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में; वा दिन को कर सोच जिय, मनमें ।।"

हे भव्य आत्मन् ! तुम्हारा गौरव एवं प्रतिष्ठा इसमे है कि तुम अपने शाश्वत एवं निष्कलंक निर्वाण पदको प्राप्त करो। यह पद भी तुम्हारी सम्पूर्ण विशुद्ध चिन्मय दशाके सिवाय अन्य कुछ नही है। जन्म और मरण—यह तुम्हारा स्वरूप नही है। यह तो तुम्हारे सिरपर कलंक है और इसे धोकर ही तुम्हारी तेजोमय गौरवश्रीका प्रकाश होगा। आत्मन् ! यदि तुमने सर्वत: समर्थ अपनी यौवनावस्थामे अपने परमपद-निर्वाण लाभके लिए कोई प्रयत्न नही किया तो वृद्धावस्थामें अपनी अकर्मण्यता पर तुम्हे गहरा पश्चात्ताप करना पडेगा। उस समय तुम्हे रह-रहकर याद आवेगी कि—"मैंने आत्म-स्वरूपके लाभके लिए कुछ नही किया। खेद !"

हे आत्मन् ! तुम अपने मनमे उस दिनकी कल्पना तो करो, जब तुम आत्म-कल्याणकी दिशामे कुछ भी प्रयत्न न करके भवान्तरमें जानेके लिए जीवनकी अन्तिम घडियाँ गिन रहे होगे।

चेतन, तोहि न नेक संभार

ससारी मानवात्मा अज्ञानसे आच्छन्न है—वह सम्पूर्ण रूपसे अज्ञान के प्रभावसे प्रभावित है। सही कारण है कि वह अब तक सम्यग्ज्ञान अथवा भेद-विज्ञान नही प्राप्त कर सका है। विवेक न होनेसे वह वस्तु का सम्यग्दर्शन नही कर पाता, फलत उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति अज्ञानमूलक ही होती है, पर अविवेकी मानव समझता है कि वह सत्य-मार्गपर है और उसकी प्रवृत्ति भी सन्मार्गानुगामिनी है। यह अनुभव नही कर पाता कि वह जिन प्रवृत्तियोका स्वय सृष्टा है एव जिन्हे वह आत्म-कल्याण-कारक समझता है, वे ही उसे अनन्त बन्धन-पाश में बाधनेवाली है।

कविवर बनारसीदास इस पदमें ऐसे ही अविवेकी मानवकी प्रवृत्तिका दिग्दर्शन कराते हुए उसे सम्यक् सबोधि प्राप्त करनेके लिए सबोधना-दान कर रहे है। देखिए, वह कितनी स्पष्टता एव आत्मीयताके साथ सबोधते है—

"चेतन, तोहि न नेक संभार।
नख सिख लो दिढबन्धन वेढे, कौन करै निरवार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥"

आत्मन्! तुम्हे तनिक भी विवेक नही है। तुम नखसे लेकर शिखातक किस प्रकार दृढ बन्धनसे वेष्टित हो, इसकी तुम्हें किञ्चित् भी जानकारी नही है। आत्मन्! पता नही, इस अविवेकपूर्ण अवस्था में पडे हुए तुम्हारा कैसे उद्धार होगा?

आत्मन्! तुम्हें तनिक भी विवेक नही है।

अविवेकी प्राणीकी प्रवृत्ति ऐसी ही अज्ञानपूर्ण होती है जैसे आग तथा मदिरा पीनेवालेका। निम्नांकित पदमे कविवरने इसी तथ्यको आलंकारिक शैलीमे सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किया है। वह कहते है:—

"जैसे आग पषान काठमें, लखिय न परत लगार।
मदिरापान करत मतवारो, ताहि न कछू विचार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥"

आत्मन्! जिस प्रकार आग, पत्थर और काठको जलानेमे कुछ भी विवेक नही करती तथा मदिरा पीनेवाला भी उन्मत्त अवस्थामे उचित-अनुचित एव कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका तनिक भी विवेक नही रखता, उसी भाँति आत्मन्, अज्ञानावस्थामे तुम्हारी प्रवृत्तिकी दशा है।

आत्मन्! तुम्हे तनिक भी विवेक नही है।

अविवेकी प्राणीका आचार निरन्तर मूर्खतापूर्ण एव आत्म-घातक रहता है। कविवर गजराज तथा रेशमके कीडेके दृष्टान्त द्वारा इसी वात का और अधिक स्पष्टीकरण कर रहे है.—

"ज्यों गजराज पखार आप तन, आपहि डारत छार।
आपहि उगल पाटको कीरा, तनहिं लपेटत तार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥"

आत्मन्! जिस प्रकार हाथी स्नान करने पर भी अपने शरीर पर धूल डाल लेता है। यह नही सोचता कि स्नान करनेके वाद धूल डालने से स्नान करना निरर्थक हो जाता है और जिस प्रकार रेशमका कीड़ा तन्तुओको उगलकर स्वंय उनके वन्धनमे वधता है, उसी प्रकार आत्मन्! तुम्हारी अविवेकमय प्रवृत्तियाँ ही तुम्हे वन्धनमे डालती है।

आत्मन्! तुम्हे तनिक भी विवेक नही है।

अन्तमें कविवर कवूतरके दृष्टान्तका उल्लेख करते हुए आत्माकी असहाय वद्ध दशाका चित्रण करते है और भगवद्गुण-स्मरणको ही वन्धन-मुक्त होनेका आधार प्रतिपादित करते हुए कहते है:—

"सहज कबूतर लोटन को सो, खुलै न पेच अपार।
और उपाय न बनै 'बनारसि', सुमरन भजन अधार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥"

आत्मन्! जिस प्रकार अदूरदर्शी कपोत विश्राम करनेके लिए पिंजडेके अन्दर चला जाता है और पुन: कीली वन्द होते ही उसमेंसे निकलना कठिन हो जाता है। उस समय उसके उद्धारका मार्ग केवल एक यही शेष रहता है कि वह भगवान्के माङ्गलिक गुणोका स्मरण कर अपने अशुभ कर्मोको उपशान्त करे और इस प्रकार दुखद वन्धनसे मुक्ति प्राप्त करे। उसी भांति आत्मन्! जव अपनी अविवेकपूर्ण प्रवृत्तियोसे तुम कर्म-वन्धन से आवद्ध हो तव तुम्हारा उससे मुक्त होनेका केवल एक ही उपाय है कि तुम निष्कलक भगवान्के गुणोका स्मरण और भजन करो और इस प्रकार वन्धन-मुक्त होकर शाश्वत सुख प्राप्त करो।

आत्मन्! तुम्हें तनिक भी विवेक नही है।

ससारका मानव जवतक अपनी अज्ञानमयी प्रवृत्तिसे विरत होकर विवेक-पथपर अग्रसर नही होता, कविवर वनारसीदासका उक्त उद्वोधन उसे निरन्तर प्रेरणादान करता रहेगा —

"चेतन, तोहि न नेक संभार।
नख सिख लों दिढ बन्धन बेढे, कौन करे निरवार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥"

भोर भयो उठ जागो, मनुवा !

ससारी मानवका जीवन नितान्त व्यस्त, आकुल एव अशान्त है। वह अपनी सासारिक प्रवृत्तियोमे इतना उलझा रहता है कि उसे अपनी इस एकान्त-ससारी जीवन-धाराको मोडनेका तनिक भी विचार नही आता। वह सोच ही नही पाता कि जिन प्रवृत्तियोमे उसका अबतकका अनादिकालीन जीवन प्रवाहित होता रहा वे कितनी अनात्मीय, परकीय एव अवास्तविक है और शाश्वत आत्म-हितकी दृष्टिसे उसका इस प्रकारकी वहिर्वृत्तियोसे विरत होनेमे ही उसके विपरीत अबोध मानव दिन और रातको अनात्मीय क्रिया-कलापोमे ही अपने अमूल्य जीवनकी इतिश्री कर डालता है। उसका दिन दैनिक व्यापार एवं गार्हिक कार्योमे चला जाता है और रात सोनेमे चली जाती है। फिर दिन आता है और वह अपने व्यापारमे प्रवृत्त हो जाता है और रात आती है और वह सो जाता है। इस प्रकार दिन और रातके प्रवृत्ति-चक्रमे ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। आत्म-कल्याणके लिए उसे समय ही नही मिलता। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु तो आत्म-बोध एव आत्म-दृष्टि है। बिना आत्म-बोध एव आत्म-दृष्टिके वह अनात्मीय क्रिया-कलापोको किस प्रकार परकीय तथा हेय मान सकता है और किस प्रकार इनसे विरत होनेका सकल्प एव चेष्टा कर सकता है।

सुयोगसे कुछ आत्म-प्रबुद्ध महात्मा इस मानवको सबुद्ध करते है और इसे सम्यक् आत्म-कल्याणके मार्गका निर्देशन करते है। कलाकार ज्ञानानन्द ऐसे ही आत्मज्ञानी महात्मा है। ससारी मानवकी बहिर्मुख प्रवृत्तिसे उनका

मन दयार्द्र है। देखिए, कितनी सहृदयताके साथ वह मानव-मनको प्रबुद्ध कर रहे है। वह कहते है –

"भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहव नाम संभारो ॥
सूता सूतां रैन विहानी, अब तुम नींद निवरो ।
मंगलकारी अमृतवेला, थिर चित काज सुधारो ॥
भोर भयो, उ जागो, मनुवा, साहव नाम सभारो ॥"

हे मन! प्रात काल हो गया। उठो, जागो। भगवान्‌के नामका स्मरण करो—विशुद्ध आत्मस्वरूपका चिन्तन करो।

हे मन! सोते-सोते रात्रि व्यतीत हो गई। प्रात काल हो गया। अब तो तुम नींद—भ्रम-नींद छोडो। यह वेला अमृतमयी एव मगलकारिणी है, अत स्थिरचित्त होकर आत्म-हित-साधन करो।

हे मन! प्रात काल हो गया। उठो, जागो। भगवान्‌के नामका स्मरण करो—विशुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तन करो।

आत्म-वोध एव आत्म-स्वरूपके लाभके लिए वर्षोंकी आवश्यकता नहीं है। काल-लब्धि आनेपर एक क्षण उसके लिए पर्याप्त है। परन्तु इस क्षणिक आत्म-वोधका भी मानव-जीवनमें वड़ा महत्त्व है और यह शाश्वत शान्तिका अनुपम साधन है। देखिए, कलाकार ज्ञानानन्द इस तथ्यका कितनी स्पष्टताके साथ प्रतिपादन कर रहे है। वह कहते है –

"खिनभर जो तूं याद करैगो, सुख निपजैगो सारो ।
वेला वीत्या है, पछतावै, क्यू कर काज सुधारो ॥
भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहब-नाम सभारो ॥"

हे मन! यदि तूने क्षण भरके लिए भी भगवान्‌के नामका आत्म-स्वरूप स्मरण किया तो तुझे वास्तविक अनुपम सुखकी उपलब्धि होगी। समय वीत जाने पर पश्चात्ताप ही हाथ रह जाता है। तव फिर किस प्रकार आत्महित-साधन किया जा सकता है?

हे मन! प्रात काल हो गया। उठो, जागो। भगवान्‌के नामका स्मरण करो—विशुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तन करो।

मनुष्यने दिन-रातके प्रवृत्ति-चक्रोमे अनन्त समय व्यतीत कर दिया; परन्तु क्षणभरके लिए भी आत्म-शान्ति नही मिली। अध्यात्मरसिक ज्ञानानन्द कह रहे है कि अरे मानव! इस जागरणकी माङ्गलिक वेलामे तो आत्म-कल्याणकी ओर प्रवृत्त होओ। कविवरकी कल्याण-मयी वाणी सुनिए—

"घर व्यापारे दिवस बितायो, राते नींद गमायो।
इन वेला निधिचारित आदर, ज्ञानानन्द रमायो॥
भोर भयो, उठ जागो मनुवा, साहब-नाम संभारो॥"

रे मानव! घर और व्यापारके क्रिया-कलापोमे तो तुमने दिन व्यतीत कर दिया और रात सोते-सोते निकाल दी—दिन और रातके समयका तनिक भी सदुपयोग नही किया। अब इस माङ्गलिक वेलामे तो तुम चारित्रनिधि एव ज्ञानानन्दमय आत्म-स्वरूपमे रमण करो।

हे मन! प्रात काल हो गया। उठो, जागो। भगवान्‌के नामका स्मरण करो—विशुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तन करो।

अवधू सूतां, क्या इस मठ में !

जिस प्रकार मदिरा पीकर प्राणी अपनी सुधि-बुधि भूल जाता है, वही दशा मोह-मदिरासे उन्मत्त हुए ससारी मानवकी है। यह ससारी मानव भी अनादिकालसे मोहकी मदिराको पीकर अपने स्वरूपको भूल रहा है और जो चीजें इसकी अपनी नही हैं उन्हे रागभावसे अपनी मान रहा है। धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादिके साथ ही शरीरमे भी इसकी वैसी ही आत्म-बुद्धि है। इतना ही नही, इस मोहके कारण वह इस शरीरको ऐसा स्थिर एव शाश्वत समझता है कि वह सोच ही नही पाता कि आयुकर्मके समाप्त होते ही यह शरीर भी विनसने वाला है, नित्य रहने वाला नही है। अत जब तक यह नीरोग है, सावधानीके साथ इसका सदुपयोग करते हुए आत्म-हित साधन कर ले। अन्यथा यह शरीर एक ऐसा मठ है जो पानीके किनारे बसा हुआ है और पानीके तेज प्रवाहके आघातमे पता नही कब ढह जा सकता है। इसी प्रकार शरीर भी आयुकर्मके क्षीण होते ही कभी भी नष्ट हो सकता है।

अध्यात्म-रसिक ज्ञानानन्द आज ऐसे ही आत्म-विस्मृत मानवको सबोधित कर रहे हैं। वह कहते है—

"अवधू, सूता, क्या इस मठमें !
इस मठका है कवन भरोसा, पड जावे चटपटमें।
अवधू, सूतां क्या इस मठ में ॥"

हे अवधूत ! तू इस मठमे क्यो सो रहे हो ?—इस शरीरके प्रति क्यों तुम इस प्रकार की आसक्त बुद्धि बनाये हुए हो ?

हे अवधूत ! इस मठका क्या विश्वास है? पता नही, किस क्षण बातकी बातमें यह धराशायी हो जाय।

हे अवधूत ! तुम इस मठमे क्यों सो रहे हो ?

यह शरीर अनेक प्रकारकी आधि-व्याधियोंका मन्दिर है । शीत, उष्ण एव रोग आदिकी बाधा इसे एक क्षणमे विकृत एव व्याकुल कर डालती है । ज्ञानानन्दजी उन्मत्त मानवके सामने शरीरकी यही वास्तविक स्थिति उपस्थित कर रहे है । वह कहते है –

"छिन में ताता, छिनमें शीतल, रोग-शोक बहु घटमें ।
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमें ।।"

हे अवधूत ! यह शरीर उष्णकी वाधाके कारण क्षणभरमे गरम हो जाता है और शीतकी वाधाके कारण क्षणभरमें ठडा पड जाता है । इसके अतिरिक्त अनेक प्रकारके रोग-शोक भी इस शरीरको व्याकुल किये रहते है ।

हे अवधूत ! तुम इस मठमे क्यो सो रहे हो ?

मनुष्य पर्याय शाश्वत नही है । आयुकर्मके क्षीण होते ही यह शरीर क्षीण हो जाता है । देखिए, कविवरने इस शरीरकी एक तटवर्ती मठके साथ तुलना करते हुए शरीरकी अनित्यताका कितनी सुन्दर रूपकालकृत शैलीमे चित्रण किया है । कविका चित्रण देखिए –

"पानी किनारे मठका वासा, कवन विश्वास ये तटमें ।
अवधू, सूतां, क्या इस मठमें ।।"

हे अवधूत ! यह शरीर एक ऐसा मठ है, जो पानीके किनारे खडा हुआ है । जिस प्रकार पानीके किनारेवाले तटका कोई भरोसा नही होता है और किसी भी समय उसके खिसकनेकी सभावनासे मठके ढह जानेकी भी पूर्ण आशंका वनी रहती है, उसी प्रकार इस शरीरका हाल है । उस मठके समान यह शरीर भी आयुकर्मकी समाप्तिके साथ कभी भी नष्ट हो सकता है ।

हे अवधूत ! तुम इस मठको मे क्यो सो रहे हो ?

यह अज्ञानी मानव अनादिकालसे इस शरीरमे आत्म-बुद्धि रखकर

मूढ हो रहा है। देखिए, कविवर उसको इस मूढ बुद्धिको दूर करनके लिए किस प्रकार उसे आत्म-प्रबुद्ध होनेका दिव्य संदेश दे रहे हैं। वह कहते है –

"सूता सूता काल गमायो, अजहुँ न जाग्यो तू घटमें।
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमें ॥"

हे अवधूत ! तुमने इस शरीर-मठमे सोते-सोते अनन्त काल बिता दिया—अब तक तुम इसे अपना मानकर इसके साथ गठबन्धन किये रहे- और अनन्त परिभ्रमणके कारण परिश्रान्त रहे। अरे ! तुमने अब भी अपनी आत्म-ज्योतिको नही पहचाना ? अब भी आत्म-दर्शन करके शाश्वत कल्याण-मार्गके पथिक बनो।

हे अवधूत ! तुम इस मठमें क्यो सो रहे हो ?

स्थानान्तर जानेके पूर्व प्रत्येक व्यक्ति मार्ग-व्ययके लिए कुछ-न-कुछ साथमे रखता है। जो नही रखता, उसे अनेक कठिनाइयोका सामना करना पडता है। इसी प्रकार परलोकगामी व्यक्ति यदि सुकृतकी पूँजी साथ नही ले जाता है तो उसे भी अनेक प्रकारके दु खोका सामना करना पडता है। देखिए, कविवर इसी तथ्यको कितनी सजीव व्यावहारिक शैलीमे उपस्थित कर रहे हैं –

"घरटी फेरी आटो खायो, खरची न बाधी वटमें।
अवधू, सूता, क्या इस मठम ॥"

हे अवधूत ! तुमने चक्की पीसकर आटा तो खा लिया अर्थात् इस जीवनमे तो तुमने जिस किसी प्रकार अपना निर्वाह कर लिया, परन्तु यदि परलोकमे सुख प्राप्त करनेके लिए कुछ सुकृत नही कमाया तो वहाँ अनन्त यातनाओंके भोगके सिवाय और क्या मिलेगा ?

हे अवधूत ! तुम इस मठमें क्यो सो रहे हो ?

देखिए, अन्तमें कविवरका सबोधन किस प्रकार अबोध मानवको आत्म-बोध करानेमें सफल सिद्ध होता है। कविवर कहते है –

"इतनी सुनि निधिचारित मिलकर, 'ज्ञानानन्द' आये घटमें ।
अवधू, सूतां, क्या इस मठमें ।।"

कविवरकी प्रस्तुत सबोधना सफल होती है और अवोध मानव अपने अनादिकालीन अज्ञानान्धकाराच्छन्न आत्मामे प्रबुद्ध होता है और अपन् अनन्त ज्ञानानन्दमय स्वरूपमें स्थिर रूपसे प्रतिष्ठित रहनेको ही अपना चरम लक्ष्य मान्य कर लेता है । वह अपने वर्तमान लक्ष्यहीन जीवनसे विकल हो कह उठता है.—

"हे अवधूत ! तुम इस मठमे क्यों सो रहे हो ?

क्योंकर महल बनावे पियारे !

मानव स्वप्न-दर्शी है। ससारमें रहते हुए वह भाँति-भाँतिके स्वप्न देखता है, कल्पनाएँ करता है और उनकी पूर्तिके लिए ही निरन्तर सलग्न रहकर जीवनकी इतिश्री कर डालता है। एक मनोरथ पूर्ण होते ही दूसरे मनोरथकी पूर्ति उसे चिन्तित एव व्यथित कर देती है और दूसरेकी पूर्ति होनेपर तीसरे मनोरथको सफल करनेके लिए वह लालायित हो उठता है। इस प्रकार मानव-मनमे मनोरथोंके ये बीज निरन्तर अकुरित एव पल्लवित होते रहते है। मानवका महल बनानेका मनोरथ भी इन्ही मनोरथोमेंसे एक है। भवन-निर्माण मनुष्यकी रागात्मकता एव आत्म-विमुखताका चरम उदाहरण है। वह अपनी कल्पनाके अनुरूप भवन-निर्माण कराकर चाहता है कि सदाके लिए इस भवनमे उपलब्ध सुखोका उपभोग करता हुआ जीवन-यापन करता रहूँ। इस भावनासे प्रेरित होकर वह अपने भवनको सुन्दरसे सुन्दर और सर्वाधिक सुविधाजनक बनानेका प्रयत्न करता है। परन्तु खेद! इतना दर्शनीय एव अनन्त सुविधा-सम्पन्न भवन बनानेपर भी वह उसमे नही रह पाता है और समय आनेपर कुछ ही क्षणोमे इच्छा न होते हुए भी उसे इसे छोड देनेके लिए विवश होना पडता है। उस समय उसकी 'अपनी' प्रिय वस्तु भी 'अपनी' नही रह पाती है। परन्तु वह उसे मानता रहता अन्ततक 'अपनी' ही है। भले ही वह वस्तु अपने स्वभावसे चलित न हो। मनुष्यकी अज्ञानता एव दुर्मतिकी यह पराकाष्ठा है। अचेतन पदार्थ अचेतन होने पर भी अपने स्वभावसे चलित नही होते है—वह 'स्व' से भिन्न 'पर' होनेपर अपने 'पर' रूपमे ही स्थिर

रहते है; पर यह ससारी मानव 'स्व-प्रधान' एव सचेतन होकर भी कितना 'पर' मय हो जाता है ! !

अध्यात्म-रसिक ज्ञानानन्दका हृदय भवन-निर्माता मानवकी मूर्खता देखकर दयार्द्र हो रहा है और वह भवन-निर्माणकी नि सारता दिखलाते हुए उससे कहते है—

"क्योंकर महल बनावे, पियारे।
पॉच भूमिका महल बनाया, चित्रित रंग रंगावे पियारे ।।
क्योंकर महल बनावे पियारे ।।"

प्रिय मानव ! तुम यह महल किसलिए बनाते हो ?

प्रियवर ! तुम तीव्र रागभावसे प्रेरित होकर पाँच खण्डका महल बनाते हो और उसमे चित्र-विचित्र रगोकी रगाई कराते हो।

प्रिय मानव ! तुम यह महल किसलिए बनाते हो ?

ससारी मानव अपनेको स्थिर मानकर ही सासारिक प्रवृत्तियोमे सलग्न रहता है। उसे अपने जीवनकी अस्थिरताका भान ही नही रहता है। ज्ञानानन्द ऐसे आत्म-मूढ मानवात्माको वस्तु-स्थितिसे अभिज्ञ कराते हुए कह रहे है—

"गोखें बैठो, नाटक निरखै, तरुणी-रस ललचावै।
एक दिन जंगल होगा डेरा, नहिं तुझ संग कछु जावै, पियारे ।।
क्योंकर महल बनावै, पियारे ।।"

प्रियवर ! तुम अपने नव-निर्मापित भवनकी खिडकीमे बैठकर नाटक देखते हो और तरुण पत्नीके साथ विषयोपभोगमे आसक्त रहते हो। परन्तु तुम्हे पता नही है कि एक दिन तुम्हे यह सब छोडकर जगलमे डेरा डालना होगा। तुम्हारी आयुष्यकी समाप्तिपर सब चीजे यही रह जायँगी और लोग तुम्हे जगलमे ले जाकर जला आयेगे। तुम्हारे साथ अणुमात्र भी चीज नही जायगी।

प्रिय मानव ! तुम यह महल किसलिए बनाते हो ?

इस पृथ्वी पर महान्से महान् व्यक्ति जन्म लेते आये हैं, पर उनमेंसे आज एक भी दृष्टिगोचर नही है। उनकी कलापूर्ण कृतियोका सग्रह भी उनके साथ ही समाप्त हो गया। कविवर इसी तथ्यको लेकर अवोध मानवको स्वय वुद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वह कहते हैं —

"तीर्थंकर गणधर वल चक्री, जंगल वास रहावैं।
तेहना पण मदिर नहिं दीसे, थारी कवन चलावैं।।
क्योंकर महल वनावै, पियारे।।"

प्रिय वन्धु! तीर्थंकर, गणधर, वलदेव और चक्रवर्ती भी महलको ममत्वजनक मानते हुए छोड गये और जगलमें जाकर आत्म-साधनामें लीन रहे। प्रियवर! इन महापुरुषोमेंसे किसी एकका भी महल आज शेष नही है। फिर तुम क्यो अपने महलको चिरस्थायी वनानेकी दृष्टिसे इस प्रकार मोहाकुल हो रहे हो? तुम्हारी हस्ती ही क्या है?

प्रिय मानव! तुम यह महल किसलिए वनाते हो?

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली द्रव्य पर्यायका विनाश अवश्यभावी है। यह मानव-पर्याय भी शाश्वत नही है। परन्तु अज्ञानी मानव ऐसा समझता है कि मै तो युग-युगान्तर तक अमर ही रहूँगा। कविवर मानवका यह चिरन्तन भ्रम दूर करते हुए कहते हैं —

"हरि हर नारद परमुख चल गये, तू क्यो काल वितावै।
तिनतें नवनिधि चारित आदर, ज्ञानानन्द रमावै, पियारे।।
क्योंकर महल वनावै, पियारे।।"

प्रियवर! हरि, हर और नारद भी यहाँ जन्मे और अपने-अपने समय पर यहाँसे चले गये। ऐसे महापुरुष भी ससारमे शाश्वत होकर नही रह सके। फिर तुम क्यो अपना समय व्यर्थ व्यतीत कर रहे हो? प्रियवर, तुम नवनिधिमय आत्मचारित्रको प्राप्त करो और ज्ञानान्दमय आत्म-स्वभावमे रमण करो।

प्रिय मानव! तुम यह महल किसलिए वनाते हो?

प्यारे काहे कूँ ललचाय ?

संसारमे मनुष्यकी मूल अशान्तिका कारण उसकी पर-वस्तुओंकी चाह एव प्रतिक्षण वर्धमान तृष्णा है। प्रथम तो पर-वस्तुओकी प्राप्तिके लिए ही मानवको अथक परिश्रम करना पडता है, फिर प्राप्त होनेपर ही वह उनसे आनन्द-लाभ नही कर पाता है। प्राप्त हुई इच्छित वस्तुओं से अधिकाधिक मात्रामे उन्हे प्राप्त करनेकी तृष्णा उसे सुखानुभूति नही होने देती। अधिकतर मात्रामे सकल्पित वस्तु उपलब्ध होनेपर भी अधिकतम मात्रामे उपलब्ध करनेकी चाह सजग हो उठती है। उस आकुलतामें ही वह इतना डूब जाता है कि उसे जिस किसी परिमाणमे प्राप्त हुई वस्तुसे भी तोष-लाभ करनेका विचार तक नही आता। अधिकतमकी तृष्णामें यह हस्तगत अल्प इस प्रकार विलीन हो जाता है मानो उसका कोई अस्तित्व ही नही है। अन्तमे ससारका अधिकतम भाग प्राप्त होनेपर भी तृष्णाको विराम नही मिलता और वह सुख-शान्ति नही मिलती जो जीवनका चरम लक्ष्य है। मिले भी कहाँसे ? सुख और शान्ति आत्माका स्वभाव है। वह तो आत्म-रमणमे ही मिल सकता है। उसे पर-वस्तुओंमें खोजना आत्म-जडताके सिवाय कुछ नही है। फिर इन पर-वस्तुओकी मात्रा चाहे अल्प हो, चाहे अधिकतम।

फिर भी मानव तृष्णासे विरत नही होता और उसका मन इन पर-पदार्थोंमें ललचाता ही रहता है। अध्यात्म-रसिक विनयविजय यहाँ ऐसे ही तृष्णाकुल मानवका सबोधन कर रहे हैं। वह कहते हैं—

"प्यारे, काहे कू ललचाय ॥
या दुनियाँ का देख तमासा, देखत ही सकुचाय ।
प्यारे, काहे कू ललचाय ॥"

प्रिय ! तुम ललचाते क्यो हो ?

ससारी प्राणियोकी मनोवृत्ति देखकर मनमें बडा सकोच होता हैं ।

प्रिय ! तुम ललचाते क्यो हो ?

मानव अपने ममत्वभावसे प्रेरित होकर जिन पर-पदार्थोका सग्रह करता है, उन्हे वह केवल अपना ही नही, किन्तु शाश्वत भी समझता हैं । परन्तु अशुभ कर्मके उदय आनेपर वह अनन्त पदार्थोका संग्रह भी जल-बुद्बुदकी तरह एक पलमें विलीन हो जाता है और सग्रही मानव सिर धुनता हुआ रह जाता है । विनयविजय इसी तथ्यको बड़ी हृदयग्राही शैलीमे उपस्थित कर रहे है :—

"मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय ।
पलक एकमें बहुरि न देखे, जल बुंद की न्याय ॥
प्यारे, काहे कूं ललचाय ॥"

ओ मूर्ख ! तू 'मेरो-मेरी' करता है और अपनी आत्माको आकुल करता हुआ भ्रमण करता है। जिस प्रकार जलबबूला देखते-देखते ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार हे मूर्ख ! यह तेरा सग्रह भी क्षण भरमे ही नष्ट हो जाता है ।

प्रिय ! तुम ललचाते क्यो हो ?

मनुष्यकी सग्रही वृत्तिका मूल कारण उसका अविवेक है । इस स्वपर-विवेकके न होनेसे ही मानव पर-पदार्थोके सग्रहके लिए अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प करता है और फिर भी अन्तमें शान्ति-लाभ नही कर पाता । कविवरकी लेखनीसे चित्रित ससारी मानवका यह भाव-चित्र देखिए :—

"कोटि विकल्प व्याधिकी वेदन, लही शुद्ध लपटाय ।
ज्ञान-कुसुमकी सेज न पाई, रहे अघाय अघाय ।।
प्यारे, काहे कूं ललचाय ।।"

आत्मन् ! सासारिक मायाके करोडो विकल्प तुम्हारे शुद्ध स्वभाव को मलिन कर रहे है और तुम्हे अशान्त कर रहे है । तुम अब तक ज्ञान रूपी फूलोकी शय्या नही प्राप्त कर सके । यही कारण है कि तुम ससारकी सीमातीत विभूति पाकर भी अतृप्तके अतृप्त ही दिखलाई दे रहे हो ।

प्रिय ! तुम ललचाते क्यो हो ?

सुख और शान्ति आत्माका स्वभाव है, पर यह अबोध मानव उसे पर-पदार्थोमे खोजता है । प्रयत्न करनेपर भी जब सुख-शान्ति नही मिलती है तो वह निराश हो जाता है और ऐसे ही निष्फल प्रयासोमे जीवन-लीला समाप्त कर देता है । कविवरकी भाव-पूर्ण वाणीका रसास्वाद लीजिए । वह कहते है :—

"किया दौर चहुँ ओर जोरसे, मृगतृष्णा चित लाय ।
प्यास बुझावन बूंद न पाई, यों ही जनम गमाय ।।
प्यारे, काहे कूं ललचाय ।।"

आत्मन् ! तुम मृगतृष्णाकी भाँति तीव्र लालसासे प्रिय पदार्थोमे सुख प्राप्त करनेका पूरा प्रयत्न करते हो—अविराम दौड लगाते हो; परन्तु जिस प्रकार उस मृगको कोसो दूर दौड लगाने पर भी एक बूँद पानी नही मिलता, उसी प्रकार तुम्हे भी लेशमात्र सुख-शान्ति नही मिल पाती और यह दुर्लभ मानुष भव व्यर्थ ही चला जाता है ।

प्रिय ! तुम ललचाते क्यो हो ?

विनयविजयका अन्तिम सबोधन सुनिए :—

"सुधा-सरोवर है या घटमें, जिसतें सब दुख जाय ।
'विनय' कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय ।।
प्यारे, काहे कूं ललचाय ।।"

आत्मन्! तुम्हारे अन्दर ही सुधाका सरोवर लहरा रहा है। उसे बाहर खोजनेकी आवश्यकता नही है। इस सरोवरमें स्नान करनेसे सब दुख दूर हो जाते है और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। गुरुदेव भी इसी मार्गकी ओर संकेत कर रहे हैं। आवश्यकता है केवल मनको आत्मस्वरूप में स्थिर करनेकी।

प्रिय! तुम ललचाते क्यो हो?

चेतन, अब मोहि दर्शन दीजे

मानव जीवनका चरम लक्ष्य है आत्म-दर्शन-विशुद्ध आत्म-साक्षात्कार। आत्म-दर्शनमे ही सम्पूर्ण शान्ति निहित है। परन्तु इसके लिए लक्ष्यकी एकता अत्यन्त आवश्यक है। विना लक्ष्यके मनुष्य दिग्भ्रान्त बना रहता है और जीवनमे पूर्ण शान्तिकी अनुभूति नही ले पाता। ममत्व, तृष्णा, संग्रह-वृद्धि लक्ष्यशून्यताके चिह्न है।

आत्म-दर्शन भी सहज साधनका परिणाम नही है। मनुष्य इसके लिए अनेक प्रकारके सयम करता है, तप करता है और सदाचारके नियमो का परिपालन करता है। घर छोडता है और स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिसे निर्ममत्व होनेका प्रयत्न करता है। काल-लब्धि आती है और मानवकी दीर्घकालीन साधना सफल होती है। उसे आत्म-दर्शन होता है—सम्यग् दर्शन होता है और वह अपनेमे अत्यन्त शान्तिका अनुभव करता है।

अध्यात्मरसिक यशोविजय भी अन्तर्दृष्टिके साधु है। देखिए, किस उत्कटताके साथ उनके अन्तस्‌मे आत्म-दर्शनकी उत्कण्ठा जागृत हो रही है। उनकी सगीतमय सरस वाणी सुनिए.—

"चेतन! अब मोहि दर्शन दीजे।
तुम दर्शन शिव-सुख पामीजे, तुम दर्शन भव दीजे॥
चेतन! अब मोहि दर्शन दीजे॥"

हे आत्मन्! अव मुझे अपना दर्शन दो।

आत्मन्! तुम्हारे सम्यग्दर्शनसे ही शिव-सुख मिलता है और तुम्हारे दर्शनसे ही यह भव-बन्धन छूटता है।

हे आत्मन्! अव मुझे अपना दर्शन दो।

सयम, तप एव सदाचारका आचरण आत्म-दर्शनके लिए ही किया जाता है। यदि इतने पर भी यथार्थ आत्म-दर्शन नही हो पाता है तो यह आचरण एकदम निरर्थक है। देखिए, कविवर यही बात कह रहे है –

"तुम कारन संयम तप किरिया, कहो, कहाँ लौं कीजे ।
तुम दर्शन बिनु सब या झूठी, अन्तरचित्त न भीजे ।।
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ।।"

आत्मन् ! तुम्हारे दर्शनके लिए ही यह मानव अनेक प्रकारके यम-नियम, तप एव चारित्रका पालन करता है और पता नही कब तक करता रहता है। परन्तु यदि चित्तमें तुम्हारे दर्शनकी उत्कट अभिलाषा नही ह और तुम्हारा दर्शन उसे नही हो पाता तो यह सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड सर्वथा नि सार है।

हे आत्मन् ! अब मुझे अपना दर्शन दो।

आत्म-दर्शनके लिए विभिन्न मनीषियोने विभिन्न मार्ग निर्धारित किये है। कोई सदाचारको आत्म-दर्शनका मूल मानते है और कोई ज्ञानको। परन्तु एकान्त रूपसे दोनो ही आत्म-दर्शनकी उपलब्धिमें सहायक नही है। यशोविजयजी इसी तथ्यको यहाँ उपस्थित कर रहे है। वह कहते है –

"क्रिया मूढमति कहे जन कोई, ज्ञान और को प्यारो ।
मिलत भावरस दोउ न भाखें, तू दोनो तें न्यारो ।।
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ।।"

कतिपय मूढजन केवल क्रियासे आत्म-दर्शनकी उपलब्धि मानते है और कुछ ज्ञानमात्रसे। सम्यग्ज्ञानपूर्ण सम्यक् चरणसे आत्मदर्शन होता है, ऐसा कोई नही मानते। परन्तु आत्मन् ! तेरा स्वभाव तो वस्तुत सम्यग्दर्शन, ज्ञान एव चारित्रात्मक है।'

हे आत्मन् ! अब मुझे अपना दर्शन दो।

ससारके समस्त प्राणियोमें एक जैसे अनन्तगुणसम्पन्न आत्माका वास है। आत्म-स्वभावकी योग्यताकी दृष्टिसे किसी भी आत्मामे अणुमात्रका

भी अन्तर नही है। हा, गुणोंको आवृत करनेवाले बन्धन अवश्य उसमें अन्तर डाल देते हैं। कविवर शुद्धात्म स्वरूपके लाभके लिए सबोधित कर रहे हैं —

"सबमें है और सबमें नाहीं, पूरनरूप अकेलो।
आप स्वभावे वे किम रमतो, तूं गुरु अरु तूं चेलो॥
चेतन! अब मोहि दर्शन दीजे॥"

आत्मन्! तुम अपने चैतन्य स्वरूपसे समस्त प्राणियोंमे विद्यमान हो और निष्कलक विशुद्ध स्वभावसे सबमें नही हो। तुम अपनेमे सम्पूर्ण रूप होकर भी अन्य द्रव्योकी अपेक्षा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हो। हे आत्म-स्वभावमें रमण करनेवाले आत्मन्! अपनी कर्म-निर्मुक्त परणतिसे तुम गुरु हो और अपनी कर्म-परतन्त्र अवस्थाके कारण तुम शिष्य भी हो।

हे आत्मन्! अब तो मुझे अपना दर्शन दो।

अन्तमे यशोविजयजी कितनी परिमित पदावलीमे आत्मस्वरूपका चित्राकन कर रहे हैं। देखिए —

"अकल अलख तू प्रभु सबरूपी, तू अपनी गति जाने।
अगमरूप आगम अनुसारे, सेवक 'सुजस' बखाने॥
चेतन! अब मोहि दर्शन दीजे॥"

आत्मन्! तुम निष्कलक हो, अलक्ष्य हो। प्रभुरूप हो और समस्त आत्मधर्मा हो। अपने स्वरूपको तुम ही यथार्थत. जान सकते हो। आत्मन्! तुम्हारा रूप अगम्य है, फिर भी आगमके द्वारा ही उसका कुछ वर्णन किया जा सकता है।

हे आत्मन्! अब तो मुझे अपना दर्शन दो।

राम कहो रहमान कहो कोऊ

विश्वका मानव-समाज अपनेको भिन्न-भिन्न आग्रहोंके जालमें जकडे हुए है। कोई रामका उपासक है तो कोई रहमानका। कोई कृष्णका उपासक है तो कोई महादेवका। कोई पार्श्वनाथकी उपासना करता है तो कोई ब्रह्माकी। कोई ईसाका पुजारी है तो कोई बुद्धका। गरज यह कि संसारमें प्रत्येक मानव प्राय किसी न किसी अभीष्ट आग्रहको अपने हृदयकी कोरमें छिपाये है। इतना ही नही, अपने अभीष्ट आराध्यके प्रति ही उसकी निष्ठा होती है, पूज्य बुद्धि होती है, राग होता है और शेष आराध्योका नाम तक उसे रुचिकर प्रतीत नही होता। अपनी इस मान्यता एव आग्रहके कारण मानव बडे-बडे अमानवीय अनर्थ कर चुका है और कर भी रहा है। मनुष्यके अज्ञान-विलासकी यह पराकाष्ठा है।° ऐसा आग्रही मानव सचमुच मे अन्यदीय आराध्योकी यथार्थ जानकारी तो कर ही नही पाता, वह अपने श्रद्धेय आराध्यके स्वरूप-विज्ञानसे भी कोसो दूर रहता है। वह नही सोच पाता कि सर्व-कर्म-मल-निष्कलक परम पवित्र सर्वशक्तिमान विशुद्ध आत्म-स्वरूप ही एक मात्र हमारा उपास्य है, आराध्य है, भले ही उसे हम राम, ब्रह्मा, महादेव, बुद्ध एव पार्श्वनाथ आदि किसी भी नामसे कहें। नाम-भेदसे शुद्धात्मस्वरूपमें भेद नही होना चाहिए। परन्तु जड जगत् नामको ही पकड कर उसकी आराधनामे एकान्तनिष्ठ हो तन्मय हो रहा है।

समदर्शी घनानन्दने इस मानवीय जडताका गभीर सवेदन किया और मानव-समाजने वाछनीय एकरसताका सचार करनेके लिए अद्भुत समाधान खोज निकाला। कविवरकी अनुभूतिपूर्ण सगीतमय वाणीका रसास्वाद लीजिये। वह कहते है.—

"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री ।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।।"

हे आत्मन् ! तुम्हे कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्मा कहे, तुम ही स्वय समस्त ब्रह्मात्मक हो। अर्थात् आत्मन् ! तुम्हारे विशुद्ध रूपके ही यह सब नामान्तर है ।

देखिए, कविवर इसी गभीरतम तथ्यको कैसी सजीव एव सुबोधशील शैलीमे प्रतिपादित कर रहे हैं—

"भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
तैसे खंड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री ।।
राम कहो, रहमान कहो कोऊ..।।"

जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेदसे अनेक नामों द्वारा कही जाती ह, उसी प्रकार अखण्डरूप इस आत्मामे भी विभिन्न कल्पनाओके कारण अनेक नामोकी कल्पना कर ली जाती है । अत. यह सब नाम केवल बाह्य कल्पनामूलक हैं । वास्तवमे मानवीय आराधनाका आदर्श तो विशुद्ध आत्मस्वभाव ही है ।

आत्मन् ! तुम्हे कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्मा कहे, तुम ही समस्त ब्रह्मात्मक हो । अर्थात् आत्मन् ! तुम्हारे विशुद्ध रूपके ही यह सब नामान्तर हैं ।

कविवर राम, रहमान, कृष्ण और महादेवकी कैसी अपूर्व सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं । वह कहते है —

"निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री ।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ।।
राम कहो, रहिमान कहो कोऊ...।।"

जो विशुद्ध आत्मपदमे रमण करे वह राम है । जो सबपर दया करे वह रहमान है । जो कर्मोको आत्मासे खीचकर पृथक् कर दे वह कृष्ण है और जिसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है वह महादेव है ।

आत्मन् ! तुम्हें कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्मा कहे, तुम ही समस्त ब्रह्मात्मक हो । अर्थात् आत्मन् ! तुम्हारे विशुद्ध रूपके ही यह नामान्तर हैं ।

कविवरकी पार्श्वनाथ और ब्रह्माकी व्याख्या भी सुनिए —

"परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्ने सो ब्रह्म री ।
इहविधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री ।।
राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो, महादेव री ।।"

जिसने शुद्धात्म रूपको प्राप्त कर लिया है वह पार्श्वनाथ है और जिसने शुद्ध ब्रह्मको पहिचान लिया है वह ब्रह्मा है । इस प्रकार यह आनन्द घन, चैतन्यपूर्ण, निष्कर्म आत्मा ही विभिन्न नाम-रूपोंमें ग्रहण की जाती है ।

आत्मन् ! तुम्हें कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्मा कहे, तुम ही समस्त ब्रह्मरूप हो । आत्मन् ! तुम्हारे विशुद्ध रूपके ही यह नामान्तर हैं ।

विरथा जनम गमायो

जीवनकी सार्थकता उसके लक्ष्यकी सफलतामें है। मनुष्यका जीवन भी तब सार्थक कहा जा सकता है जब वह लक्ष्यमे पूर्णतया सफल रहे। परन्तु मानव इतना अबोध एवं मोह-विकल है कि वह अपने अमूल्य जीवन का लक्ष्य ही निर्धारित नही कर पाता है। कनक-कामिनीका मोह उसे आत्म-भान नही होने देता है। वह निरन्तर पर-पदार्थोंको अपनानेकी चेष्टामे सलग्न रहता है और पर-परणतियोमे ही आनन्द-लाभ लेनेका प्रयत्न करता है। सम्यक् आत्मदर्शनमे ही मानव जीवनका कल्याण है, सार्थकता है, सफलता है; परन्तु मानवकी मिथ्या बुद्धि उसे निरन्तर दिङमूढ बनाये रहती है और उसके अनर्घ जीवनको व्यर्थ कर देती है।

कविवर चिदानन्द यहाँ ऐसे ही अबोध मानवका मार्गदर्शन करते हुए उसे आत्म-दर्शनके लिए सबोधित कर रहे हैं। वह कहते हैं:—

"विरथा जनम गमायो, मूरख !
रंचक सुखरस वश होय चेतन, अपनो मूल नसायो।
पाँच मिथ्यात धार तू अजहूँ, साँच भेद नहिं पायो।।
विरथा जनम गमायो, मूरख।।"

हे मूर्ख ! तुमने व्यर्थ ही अपना जन्म खो दिया।

मानव ! तुमने क्षणिक ऐन्द्रिय सुखके वशवर्त्ती होकर अपना मूलोच्छेदन ही कर डाला। पाँच प्रकारकी मिथ्याबुद्धियोके कारण तुम अब तक यथार्थ आत्म-दर्शन नही कर सके।

हे मूर्ख ! तुमने व्यर्थ ही अपना जन्म खो दिया।

सासारिक माया मनुष्यके आत्म-दर्शनमे निरन्तर बाधक रहती है और इसके कारण वह उन्मत्त-सा आत्म-विस्मृत बना रहता है। कविवर ने अपनी निपुणतूलिकासे यहाँ इसी तथ्यको रेखाकित किया है। देखिए –

"कनक-कामिनी अस एहथी, नेह निरन्तर लायो।
ताहू थी तूं फिरत सुरानो, कनक बीज मनु खायो॥
विरथा जनम गमायो, मूरख॥"

आत्मन्! तुम निरन्तर कनक-कामिनीकी मायामें भूले रहे और इसमें इस प्रकार पागल हो गये जैसे कोई व्यक्ति धतूरेके बीज खाकर मतवाला और आत्म-विस्मृत हो जाता है।

हे मूर्ख! तुमने व्यर्थ ही अपना जन्म खो दिया।

मोह-वारुणी पीकर मानव अनादिकालसे जन्म, जरा, मृत्युके दुखों का भोग कर रहा है। पता नही, मानव कब इन दुखोंसे मुक्त होगा? देखिए, चिदानन्द किस प्रकार मानवके शाश्वत कल्याणके लिए चिन्तित है। वह कहते है —

"जनम जरा मरणादिक दुखमें, काल अनन्त गमायो।
अरहट घटिका जिम, कहो याको, अत अजहुँ नवि आयो॥
विरथा जनम गमायो, मूरख॥"

आत्मन्! तुमने जन्म, जरा एव मृत्युके दुखोमे अनन्तकाल व्यतीत कर दिया, फिर भी रहटकी घरियोके समान आज भी तुम इनके चक्रसे मुक्त नही हो सके—इन दुखोका अन्त नही आ सका।

हे मूर्ख! तुमने व्यर्थ ही अपने जन्मको खो दिया।

आत्माने चौरासी लाख योनियोमे अनन्तवार जन्म-मरण किया, फिर भी आत्म-शान्तिकी उपलब्धि नही हुई। आत्म-शान्तिका मूल कारण सम्यग्दर्शन है—सच्ची आत्मश्रद्धा है। इसके बिना ससारका उच्छेद नही हो सकता। कविवर अपनी मङ्गल-वाणी द्वारा इसी सत्यके दर्शन करा रहे है। देखिए —

"लख चौरासी पहेर्या चोलना, नव नव रूप बनायो।
बिन समकित सुधारस चाख्या, गिणती कोउ न गिणायो॥
विरथा जनम गमायो, मूरख॥"

आत्मन्! तुमने चौरासी लाख योनियोमे अनन्तवार नवीन-नवीन शरीरको धारण किया; परन्तु सम्यक्त्व—सम्यक् आत्मदर्शन-रूपी सुधारसका आस्वाद न ले सकनेके कारण तुम अपनेको मूल्यवान् नही बना सके—आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि नही कर सके।

हे मूर्ख! तुमने व्यर्थ ही अपने जन्मको खो दिया।

मानव अनादि-कालसे असीम कष्टोंको उठाता हुआ भी सचेत नहीं होता है। कविवर मानवकी इस जडता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं और प्रभु-भक्तोंकी भक्तिका अभिनन्दन करते हैं। वह कहते हैं :—

"एते पर नवि मानत मूरख, ए अचरजि चित आयो।
'चिदानन्द' ते धन्य जगत्में, जिण प्रभू सूं मन लायो॥
विरथा जनम गमायो, मूरख॥"

मानव! आश्चर्य इस बातका है कि इन अनन्त कष्टोंको भोगते हुए भी तुम सावधान नहीं होते—अपनी मिथ्या प्रवृत्तिसे विरत नही होते। वे प्राणी वास्तवमे सौभाग्यशाली है जो अपने मनको प्रभु-पदमे लगाकर आत्म-कल्याणके पथिक बनते हैं।

हे मूर्ख! तुमने व्यर्थ ही अपने जन्मको खो दिया!!

---

[१]

'रे मन तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।
इनही के वश तू अनादि तैं, निज स्वरूप न लखावै है॥
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति-विपति चखावै है।
रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है॥
फरस विषयके कारन वारन, गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झष जलमें, कंटक कंठ छिदावै है॥
रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है॥
गंध-लोल पंकज मुद्रितमें, अलि निज प्रान खपावै है।
नयन-विषयवश दीप-शिखामें, अंग पतंग जरावै है॥
रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है॥
करन-विषयवश हिरन अरनमें, खलकर प्रान लुभावै है।
'दौलत' तज इनको,-जिनको भज, यह गुरु-सीख सुनावै है॥
रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है॥
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुर्गति विपति चखावै है।
रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।

[२]

अब मेरे समकित सावन आओ।
बीति कुरीति-मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो॥
अब मेरे समकित सावन आयो।
अनुभव-दामिनि दमकन लागी, सुरति-घटा घन छायो।
बोलै विमल विवेक-पपीहा, सुमति-सुहागिन भायो॥
अब मेरे समकित सावन आयो।
गुरु-धुनि गरज सुनत सुख उपजत, मोर-सुमन विहसायो।
साधक-भाव अकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो॥
अब मेरे समकित सावन आयो।

भूल-धूल कहिं भूल न सूझत, समरस-जल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, जिन निरचू घर पायो॥
अब मेरे समकित सावन आयो।

[३]

मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी॥
भोग भुजंग-भोग सम जानौ, जिन इनसे रति जोरी।
ते अनन्त भव-भीम भरे दुख, परे अधोगति पोरी।
बंधे दृढ़पातक डोरी॥
मान ले या सिख मोरी। झुकै मत भोगन ओरी॥"

इनको त्याग विरागी जे जन, भये ज्ञान-वृष धोरी।
तिन सुख लह्यो अचल अविनासी, भव-फाँसी दई तोरी,
रमै तिन संग शिव-गोरी॥
मान ले या सिख मोरी। झुकै मत भोगन ओरी॥

भोगनकी अभिलाप हरन को, त्रिजग-संपदा थोरी।
यातैं ज्ञानानन्द 'दौल' अब पियो पियूष-कटोरी,
मिटै भव-व्याधि कठोरी॥
मान ले या सिख मोरी। झुकै मत भोगन ओरी॥

[४]

छाँड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी।
यह पर है, न रहै थिर पोपत, सकल कुमलकी झोरी॥
यासौं ममता कर अनादि तैं, बंधौ करमकी डोरी।
सहै दुख जलधि-हिलोरी।
छांड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी॥

यह जड़ है, तू चेतन, यों ही अपनावत बरजोरी।
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरन निधि ये हैं संपति तोरी॥
सदा विलसो शिव-गोरी।
छाँड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी॥
सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासों ममता तोरी।
'दौल' सीख यह लीजे, पीजे ज्ञान-पियूप कटोरी॥
मिटे पर-चाह कठोरी।
छाँड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी॥

[५]

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ॥
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ॥
चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध,
तजि जड़ रस फरस रूप, पुद्गल अपनायौ।
अपनी सुधि भूल आप आप दुख उपायौ॥
इन्द्रिय सुख दुखमें नित्त, पाग राग-रुखमें चित्त,
दायक भव-विपतिवृन्द, बंधको बढ़ायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ॥
चाह-दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै,
समता-सुधा न गाहै, जिन-निकट जो बतायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ॥
मानुप भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय,
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभ-चाल विसरि, नलिनी लटकायौ॥

[६]

हम तो कबहूँ न निज घर आये।

पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
हम तो कबहुँ न निज घर आये॥

पर पद निजपद मानि मगन ह्वै, परपरनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये॥

नर, पशु, देव, नरक निज जान्यौ, परजय बुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड, अतुल, अविनाशी आतमगुन नहिं गाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये॥

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये॥
हम तो कबहुं न निज घर आये॥

[७]

मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी।

तन बिन वसन असन बिन वनमें निवसौं नासा दृष्टि धरी।
मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी।

पुण्य पाप-परसौं कब विरचौं, परचौं निजनिधि चिर-विसरी।
तज उपाधि, सज सहज समाधी, सहौं घाम-हिम-मेघ झरी॥
मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी॥

कब थिर-जोग धरो ऐसौ मोहि उपल जान मृग खाज हरी।
ध्यान-कमान तान अनुभवशर, छेदौं किहि दिन मोह अरी॥
मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी॥

कब तन-कंचन एक गनो अरु, मनिजड़ितालय शैल दरी।
'दौलत' सतगुरुचरनन सेऊँ जो पुरवौ आश यहै हमरी॥
मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी॥

[८]

जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा।
मोह मद-वार पियौ, स्वपद विसार दियौ,
पर अपनाय लियौ, इन्द्रिय सुखमें रचियौ,
भवतैं न भियौ, तजियौ मन-मैलवा
जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा॥
मिथ्या ज्ञान आचरन, धरिकर कुमरन,
तीन लोक की धरन, तामें कियौ है फिरन,
पायौ न शरन, न लहायौ सुख-शैलवा।
जीव तू अनादि ही तै भूल्यौ शिव-गैलवा॥
अब नरभव पायौ, सुथल सुकुल आयौ,
जिन उपदेश भायौ, 'दौल' झट छिटकायौ।
पर - परनति दुखदायिनी चुरैलवा,
जीव तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा॥

[९]

आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे।
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिव-मग-चारी रे,
आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे॥
निज-निवेद विन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे।
आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे॥
शिव चाहे तो द्विविध कर्म तैं, कर निज परनति न्यारी रे।
आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे॥
'दौलत' जिन निज भाव पिछान्यौ, तिन भवविपति विदारी रे।
आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे॥

[१०]

जम आन अचानक दावैगा।
छिन-छिन कटत घटत थित ज्यों जल, अंजुलिको झर जावेगा।
जम आन अचानक दावैगा॥

जन्म-ताल-तरु तैं पर जिय-फल, कों लग बीच रहावैगा।
क्यों न विचार करै नर आखिर, मरन मही में आवैगा॥
जम आन अचानक दावैगा॥

सोवत मृत जागत जीवन ही श्वासा जो थिर थावैगा।
जैसे कोऊ छिपे सदा सों, कवहूँ -अवसि पलावैगा॥
जम आन अचानक दावैगा॥

कहूँ कवहुँ कैसे हूं कोई, अंतक से न वचावेगा।
सम्यग्ज्ञान-पियूष पिये सों "दौल" अमरपद पावैगा।
जम आन अचानक दावैगा॥

[११]

कवधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।
कवधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर
भोग उदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह-भारा हो।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो।
कवधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करि है भव-दधि पारा हो॥
कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मन वच तन कर धारा हो।
कवधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भव-दधि पारा हो॥
ग्रीषम गिरि हिम सरिता-तीरें, पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा भीन, चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो॥
कवधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भव-दधि पारा हो॥

मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो॥
कबधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भव-दधि पारा हो॥

आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो॥
कबधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भव-दधि पारा हो॥

आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
'दौलत' ऐसे जैन जतिनको, नित प्रति धोक हमारा हो।
कबधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो॥

[१२]

तोहि समझायौ सौ सौ बार, जिया तोहि समझायौ सौ सौ बार।
देख सुगुरुकी पर-हितमें रति हित-उपदेश सुनायो सौ सौ बार।
जिया तोहि समझायौ सौ सौ बार॥

विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनसों लपटायो।
स्वपद विसार रच्यो पर पदमें, मदरत ज्यों बौरायो॥
तोहि समझायौ सौ सौ बार, जिया तोहि समझायौ सौ सौ बार।

तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो॥
तोहि समझायौ सौ सौ बार, जिया, तोहि समझायौ सौ सौ बार॥

अबहूँ समुझि कठिन यह नरभव, जिनवृष बिना गमायो।
ते विलखें मनि डार उदधिमें, 'दौलत' को पछतायो॥
तोहि समझायौ सौ सौ बार, जिया तोहि समझायौ सौ सौ बार॥

[१३]

हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई।
सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई॥
हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई॥
मूरख अघकर्म कहा, भेद नहिं मर्म लहा।
लागै दुखज्वालाकी न देह कै तताई॥
हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई।
सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई॥
जम के रव बाजते, सुभैरव अति गाजते।
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई।
हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई॥
परको अपनाय आप--रूपको भुलाय हाय।
करन-विषय-दारु जार. चाह-दौ बढ़ाई॥
हे नर, भ्रम-नींद क्यो न छाँड़त दुखदाई॥
अब सुन जिन-वानि, रागद्वेषकी जघान।
मोक्षरूप निज पिछान, 'दौल' भज विरागताई॥
हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई।
सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई॥

[१४]

सुधि लीजौ जी म्हारी, मोहि भवदुखदुखिया जानके।
सुधि लीजौ जी म्हारी॥
तीन--लोक--स्वामी नामी तुम, त्रिभुवनके दुखहारी।
गनधरादि तुव सरन लई लख, लीनी सरन तिहारी॥
सुधि लीजौ जी म्हारी, मोहि भव-दुख-दुखिया जानके।
सुधि लीजौ जी म्हारी॥

जो विधि अरी करी हमरी गति, सो तुम जानत सारी।
याद किए दुख होय हिए ज्यों, लागत कोटि कटारी।
सुधि लीजौ जी म्हारी ॥

लब्धि-अपर्यापत निगोदमें, एक उसास मंझारी।
जन-मन-मरन नवदुगुन विथाकी कथा न जात उचारी ॥
सुधि लीजौ जी म्हारी ॥

भू-जल-ज्वलन पवन प्रत्येक तरु विकलत्रय तन धारी।
पंचेन्द्री पशु नारक नर सुर विपति भरी भयकारी ॥
सुधि लीजौ जी म्हारी ॥

मोह महारिपु नेक न सुखमय, होन दई सुधि थारी।
सो दुठ मंद भयौ भागन तैं, पाए तुम जगतारी ॥
सुधि लीजौ जी म्हारी ॥

यदपि विरागि तदपि तुम शिवमग, सहज प्रगट करतारी।
ज्यौं रवि-किरन सहज मगदर्शक, यह निमित्त अनिवारी ॥
सुधि लीजौ जी म्हारी ॥

नाग छाग गज बाघ भील दुठ तारे, अधम उधारी।
शीश नवाय पुकारत अबके 'दौल' अधमकी बारी।
सुधि लीजौ जी म्हारी, मोहि भवदुख-दुखिया जानके,
सुधि लीजौ जी म्हारी ॥

[१५]

मत राचौ धी-धारी, भव रंभ-थंभसम जानके।
मत राचौ धी-धारी ॥

इन्द्रजालकौ ख्याल मोह ठग विभ्रम पास पसारी।
चहुंगति विपतिमयी जामे जन, भ्रमत भरत दुख भारी।
मत राचौ धी-धारी ॥

रामा मा, मा वामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी।
को अचंभ जहाँ आप आपके पुत्रदशा विस्तारी॥
मत राचौ धी-धारी॥
घोर नरक दुख ओर न छोर न लेश न सुख विस्तारी।
सुर नर प्रचुर विषय जुर जारे, को सुखिया संसारी॥
मत राचौ धी-धारी॥
मंडल ह्वै अखंडल छिनमें, नृप कृमि, सधन भिखारी।
जा सुत-विरह मरी ह्वै वाघिनि, ता सुत देह विदारी॥
मति राचौ धी-धारी॥
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरुन उर मदन दहन परजारी।
वृद्ध भये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी॥
मत राचौ धी-धारी॥
यों असार लख छार भव्य झट भये मोख-मग चारी।
यातैं होहु उदास 'दौल' अव, भज जिनपति जगतारी॥
मत राचौ धी-धारी, भव रंभ-थंभसम जानके।
मत राचौ धी-धारी॥

[१६]

अज्ञानी पाप-धतूरा न वोय।
फल चाखन की वार भरै दृग, मरहै मूरख रोय॥
अज्ञानी पाप-धतूरा न वोय॥
किंचित् विषयनिके सुख कारण, दुर्लभ देह न खोय।
ऐसा अवसर फिर न मिलैगा, इस नींदड़ी न सोय॥
अज्ञानी पाप-धतूरा न वोय॥
इस विरियाँमें धर्म-कल्प-तरु, सींचत स्यानै लोय।
तू विष वोवन लागत तो सम, और अभागा कोय॥
अज्ञानी पाप-धतूरा न वोय॥

जे जगमें सुखदायक वेरस, इसहीके फल सोय।
यों मन 'भूधर' जानिकै भाई, फिर क्यों भोंदू होय॥
अज्ञानी पाप-धतूरा न बोय॥

[१७]

भगवन्त-भजन क्यों भूला रे?
यह संसार रैनका सुपना, तन धन वारि-बबूला रे।
भगवन्त-भजन क्यों भूला रे?
इस जीवनका कौन भरोसा, पावकमें तृण-पूला रे
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे॥
भगवन्त-भजन क्यों भूला रे?
स्वारथ साधै पाँच पाँव तू, परमारथ कौं लूला रे।
कहु कैसे सुख पैहै प्राणी, काम करै दुखमूला रे॥
भगवन्त-भजन क्यों भूला रे?
मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे।
भज श्रीराजमतीवर 'भूधर' दो दुरमति सिर धूला रे॥
भगवन्त-भजन क्यों भूला रे॥

[१८]

गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार।
झूठी काया, झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे।
गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार॥
कै छिन सांझ सुहागरु जोवन, कै दिन जगमें जीजै रे।
गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार॥
वेगा चेत विलम्ब तजो नर, बंध बढ़ै तिथि कीजै रे।
गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार॥
'भूधर' पल पल हो है भारी, ज्यों ज्यों कमरी भीजै रे।
गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार।

[१९]

अन्तर-उज्जल करना रे भाई !

कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे।
अन्तर उज्जल करना रे भाई !

जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कपाय कीच नहिं धोयौ, यो ही पचि पचि मरना रे॥
अन्तर उज्जल करना रे भाई !

बाहिर भेप क्रिया उर शुचि सों, कीयें पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक-रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥
अन्तर उज्जल करना रे भाई !

कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे?
'भूधर' नील वसन पर कैसें, केसर रंग उछरना रे?
अन्तर उज्जल करना रे भाई।

[२०]

सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पिछताया।
सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया॥

आपा तनक दिखाय बीज ज्यों मूढ़मती ललचाया।
करि मद अध धर्म हर लीनौं अंत नरक पहुँचाया॥
सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया॥

केते कथ किये तैं कुलटा तौ भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया॥
सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया॥

'भूधर' ठगात फिरत यह सबकौ भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी को ठग बैठे मैं तिसको सिर नाया॥
सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग नाया॥

[२१]

होरी खेलोंगी, घर आये चिदानन्द कन्त ॥
शिशिर मिथ्यात गयो आई अब, काल की लब्धि वसन्त ।
होरी खेलौंगी, घर आये चिदानन्द कन्त ॥
पिय सँग खेलनको हम सखियो, तरसीं काल अनन्त ।
भाग फिरे अब फाग रचानों आयो विरहको अन्त ॥
होरी खेलोंगी, घर आये चिदानन्द कन्त ॥
सरधा गागरमें रुचिरूपी, केसर घोरि तुरन्त ।
आनंद नीर उमग पिचकारी, छोड़ो नीकी भन्त ॥
होरी खेलौगी, घर आये चिदानन्द कन्त ॥
आज वियोग कुमति सौतानिके, मेरे हरष महन्त ।
'भूधर' धनि यह दिन दुर्लभ अति, सुमति सखी विहसन्त ॥
होरी खेलौगी, घर आये चिदानन्द कन्त ॥

[२२]

आया रे बुढ़ापा मानी सुधि-बुधि विसरानी ।
श्रवन की शक्ति घटी, चाल चलै अटपटी ।
देह लटी भूख घटी, लोचन झरत पानी ॥
आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि विसरानी ॥
दाँतनकी पंक्ति टूटी, हाड़नकी संधि छूटी,
कायाकी नगरि लूटी, जात नहिं पहिचानी ।
आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि विसरानी ॥
बालोंने बरन फेरा, रोगने शरीर घेरा,
पुत्र हू न आवै नेरा, औरोंकी कहा कहानी ।
आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि विसरानी ॥
'भूधर' समुझि अब, स्वहित करैगो कब,
यह गति ह्वै है जब, तब पिछतैहै प्रानी ।
आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि बिसरानी ॥

[२३]

जिनराज-चरन मन, मति बिसरै।
को जानै किहिं वार काल की, धार अचानक आनि परै।
जिनराज-चरन मन, मति बिसरै॥

देखत दुख भजि जाहि दशौं दिश, पूजत पातक-पुंज गिरै।
इस संसार-सारसागर-सौं और न कोई पार करै॥
जिनराज-चरन मन, मति बिसरै॥

इक चित ध्यावत वांछित पावत, आवत मंगल, बिघन टरै।
मोहनि धूल परी मांथे चिर, सिर नावत तत्काल झरै॥
जिनराज चरन मन, मति बिसरै॥

तबलौं भजन सँवार सयानै, जबलौं कफ नहिं कंठ अरै।
अगनि प्रवेश भयौ घर 'भूधर' खोदत कूप न काज सरै॥
जिनराज-चरन मन, मति बिसरै॥

[२४]

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि-जिहाज।
आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥

मोह महारिपु जीतिकैं, छाँड़यो सब घरबार।
होय दिगम्बर वन बसे, आतम शुद्ध विचार॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥

रोग-उरग-बिल वपु गिन्यो, भोग भुजंग समान।
कदली तरु संसार है, त्यागो यह सब जान॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥

सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन,-मिथ्या जलद निवारी ॥
नित पीजौ धी-धारी ॥
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥
नित पीजौ धी-धारी ॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशनको, यह भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन-सुवारी॥
नित पीजौ धी-धारी ॥
जाको सेवत, वेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥
नित पीजौ धी-धारी ।
कोटि जीभ सो महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥
नित पीजौ धी-धारी ॥

[२८]

जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत इन्द्रवन्द्य जगतारं ।
सिद्धारथ कुल-कमल-अमल रवि, भव-भूधर-पवि-भारं ॥
गुन-मनि-कोष अदोष मोषपति, विपिन कषाय तुषारं ।
जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत इन्द्रवन्द्य जगतारं ॥
मदन-कदन शिव-सदन पद-नमित नित अनमित यतिसारं ।
रमा-अनन्त-कन्त अन्तककृत-अन्त जन्तु हितकारं ॥
जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत इन्द्रवन्द्य जगतारं ॥
फन्द चन्दना-कन्दन, दादुर-दुरित तुरित निर्वारं ।
रुद्र-रचित अतिरुद्र उपद्रव-पवन-अद्रिपति सारं ॥
जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत इन्द्रवन्द्य जगतारं ॥

अन्तातीत अचिन्त्य सुगुन तुम, कहत लहत को पारं ।
हे जगमौल 'दौल' तेरे क्रम, नमै सीस कर धारं ॥
जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र शत इन्द्रवन्द्य जगतारं ॥

[२९]

हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ।
रागद्वेष दावानल तें बचि, समतारसमें भीजै ॥
हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ॥
परमें त्याग अपनपो निजमें लाग न कबहूँ छीजै ।
हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ॥
कर्म कर्मफल मांहि न राचै, ज्ञानसुधारस पीजै ।
हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ॥
मुझ कारजके तुम कारन वर, अरज 'दौल' की लीजै ।
हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ॥

[३०]

रे मन, कर सदा सन्तोप, जाते मिटत सब दुख-दोप ।
रे मन, कर सदा सन्तोप ॥
बढ़त परिग्रह मोह बाढत, अधिक तिसना होति ।
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति ॥
रे मन, कर सदा सन्तोप ॥
लोभ लालच मूढ़ जन सो, कहत कंचन दान ।
फिरत आरत नहिं विचारत, धरम धन की हान ॥
रे मन, कर सदा सन्तोष ॥
नारकिनके पाइ सेवत, सकुच मानत संक ।
ज्ञान करि बूझै 'बनारसि' को नृपति को रंक ॥
रे मन, कर सदा सन्तोप ॥

[३१]

चेतन, उल्टी चाल चले।

जड़ संगति सौं जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले ॥

चेतन, उल्टी चाल चले ॥

हितसौं विरचि ठगनिसौं राचे, मोह पिशाच छले।

हँसि हँसि फन्द सँवारि आपही, मेलत आप गले ॥

चेतन, उल्टी चाल चले ॥

आये निकसि निगोद सिन्धु तें, फिर तिह पंथ टले।

कैसे परगट होय आग जो दवी पहार तले ॥

चेतन, उल्टी चाल चले ॥

भूले भव-भ्रमवीचि 'वनारसि' तुम सुरज्ञान भले।

धर शुभ ध्यान ज्ञान-नौका चढ़ि, वैठे ते निकले ॥

चेतन, उल्टी चाल चले ॥

[३२]

दुविधा कव जैहैं या मनकी।

कव निजनाथ निरञ्जन सुमिरौं, तजि सेवा जन-जनकी।

दुविधा कव जैहैं या मनकी ॥

कव रुचिसौं पीवैं दृग चातक, बूँद अखयपद घनकी।

कव शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तनकी ॥

दुविधा कव जैहैं या मनकी ॥

कव घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु-वचनकी।

कव सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धनकी ॥

दुविधा कव जैहैं या मनकी ॥

कव घर छाँड़ि होहुँ एकाकी, लिए लालसा वनकी।

ऐसी दशा होय कव मेरी, हौं वलि-वलि वा छनकी ॥

दुविधा जब जैहैं या मनकी ॥

[३३]

हम बैठे अपनी मौन सौं।
दिन दस के मिहमान जगत जन बोलि बिगारैं कौन सौं॥
हम बैठे अपनी मौन सौं॥
गये बिलाय भरमके बादर, परमारथ-पथ-पौन सौं।
अब अन्तर गति भई हमारी, परचे राधारौनसौं॥
हम बैठे अपनी मौन सौं॥
प्रघटी सुधापानकी महिमा, मन नहि लागै बौनसौं।
छिन न सुहाय और रस फीके, रुचि साहिबके लौनसौं॥
हम बैठे अपनी मौन सौं॥
रहे अघाय पाय सुखसंपति, कब निकसै निज भौनसौं।
सहज भाव सद्गुरुकी संगति, सुरझै आवागौनसौं॥
हम बैठे अपनी मौन सौं॥

[३४]

भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा।
जो तू देखै इन आंखिनसौं तामे कछू न तेरा॥
भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा॥
ए आँखें भ्रम ही सौं उपजी भ्रम ही के रस पागी।
जहँ जहँ भ्रम तहँ तहँ इनकौ श्रम, तू इनही कौ रागी॥
भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा॥
ए आँखें दोउ रची चामकी, चामहि चाम विलोवै।
ताकी ओट मोह निद्रा जुत, सुपन रूप तू जोवै॥
भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा॥
इन आंखिन कौ कौन भरोसौ, ए विनसैं छिन माहीं।
है इनकौ पुद्गल सौं परचै, तू तौ पुद्गल नाहीं॥
भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा॥

पराधीन वल इन आँखिन कौ, विनु परकाश न सूझै ।
सो परकाश अगिनि रवि शशि कौ, तू अपनौ कर वूझै ॥
भोंदू भाई, समुझ शवद यह मेरा ॥
खुले पलक ये कछु इक देखहिं, मुँदे पलक नहिं सोऊ ।
कवहूँ जांहिं होंहि फिर कवहूँ, भ्रामक आँखैं दोऊ ॥
भोंदू भाई, समुझ शवद यह मेरा ॥
जंगम काय पाय ए प्रगटैं, नहिं थावर के साथी ।
तू तो इन्हें मान अपने दृग, भयौ भीमकौ हाथी ॥
भोंदू भाई, समुझ शवद यह मेरा ॥
तेरे दृग मुद्रित घट-अन्तर, अन्धरूप तू डोले ।
कै तो सहज खुलै वे आँखें, कै गुरु-संगति खोले ॥
भोंदू भाई, समुझ शवद यह मेरा ॥

[३५]

भोंदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ।
जे करषै अपनी सुख सम्पति, भ्रमकी सम्पति नाखैं ॥
भोंदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥
जे आँखैं अमृतरस वरसै, परखैं केवल वानी ।
जिन्ह आँखिन विलोक परमारथ, होहि कृतारथ प्रानी ॥
भोंदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥
जिन आँखिनहि दशा केवलकी, कर्म लेप नहिं लागै ।
जिन आँखिनके प्रगट होत घट, अलख निरंजन जागै ॥
भोंदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥
जिन आँखिनसौं निरखि भेद गुन, ज्ञानी ज्ञान विचारे ।
जिन आँखिनसौं लखि स्वरूप मुनि, ध्यान धारणा धारे ॥
भोंदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥

जिन आँखिनके जगे जगतके, लगे काज सब झूठे ।
जिनसौं गमन होइ शिव सनमुख, विषय-विकार अपूठे ॥
भोदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥

इन आँखिनमें प्रभा परमकी, पर सहाय नहिं लेखैं ।
जे समाधिसौं लखै अखण्डित, ढकै न पलक निमेखैं ॥
भोदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥

जिन आँखिनकी ज्योति प्रगटकैं, इन आँखिनमें भासै ।
तब इनहूकी मिटै विषमता, समता रस परगासै ॥
भोदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥

जे आँखैं पूरनस्वरूप धरि, लोकालोक लखावैं ।
ए वे यह वह सब विकलप तजि, निरविकलप पद पावैं ॥
भोदू भाई, ते हिरदैकी आँखैं ॥

[३६]

नर भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो ।
नर-भव पाय फेरि दुख भरना ॥

नाहक ममत ठानि पुद्गलसौं, करम-जाल क्यों परना हो ?
नर-भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो ॥

यह तो जड़, तू ज्ञान-अरूपी, तिल-तुष ज्यों गुरु बरना हो ।
राग-दोष तजि, भज समताकौ, कर्म साथके हरना हो ॥
नर-भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो ॥

यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो ।
'बुधजन' समुझि सेय जिनवर-पद ज्यो भव-सागर तरना हो ॥
नर-भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो ॥

[३७]

वावा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे।
सुर-नर नाक-तिर्यक गतिमें, मोकों करमन घेरा रे॥
वावा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे॥

मात-पिता-सुत-तियकुल परिजन, मोह-गहल उरझेरा रे।
तन-धन-वसन-भवन जड़, न्यारे, हूँ चिन्मूरति न्यारा रे॥
वावा, मै न काहू का, कोई नही मेरा रे॥

मुझ विभाव जड़ कर्म रचत है, करमन हमको फेरा रे।
विभाव-चक्र तजि धारि सुभावा, आनंद-घन हेरा रे॥
वावा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे॥

खरत खेद नहिं अनुभव करते, निरखि चिदानन्द तेरा रे।
जप-तप व्रत श्रुत सार यही है,'बुधजन' कर न अवेरा रे॥
वावा, मै न काहू का, कोई नही मेरा रे॥

[३८]

धर्म विन कोई नहीं अपना।
सुख-सम्पत्ति धन थिर नहिं जगमे, जैसे रैन सपना॥
धर्म विन कोई नही अपना॥

आगे किया, सो पाया भाई, याही है निरना।
अव जो करैगा, सो पावैगा, तातैं धर्म करना॥
धर्म विन कोई नही अपना॥

ऐसैं सव संसार कहत है, धर्म कियै तिरना।
पर-पीड़ा विसनादिक सेवैं, नरक विषै परना॥
धर्म विन कोई नहीं अपना॥

[४०]

कर लै हो जीव, सुकृत का सौदा कर ले,
परमारथ कारज कर ले हो।

उत्तम कुल को पायकैं, जिनमत-रतन लहाय।
भोग भोगवै कारनैं, क्यों शठ देत गमाय॥
सौदा कर ले, कर लै हो जीव,
सुकृत का सौदा कर लै हो॥

व्यापारी वन आइयौ, नर-भव-हाट-मँझार।
फलदायक व्यापार कर, नातर विपति तयार॥
सौदा कर लै, कर लै हो जीव,
सुकृत का सौदा कर लै हो॥

भव अनन्त धरतौ फिर्‍यौ, चौरासी वन माँहि।
अब नरदेही पायकैं, अघ खोवै क्यों नांहि॥
सौदा कर ले, कर ले हो जीव,
सुकृत का सौदा कर ले हो॥

जिनमुनि आगम परख कैं, पूजौ करि सरधान।
कुगुरु, कुदेव के'मानवैं, फिर्‍यौ चतुर्गति थान॥
सौदा कर लै, कर लै हो जीव,
सुकृत का सौदा कर लै हो॥

मोह-नींद माँ सोवता, डूबौ काल अटूट।
'बुधजन' क्यों जागौ नहीं, कर्म करत है लूट॥
सौदा कर लै, कर लै हो जीव,
सुकृत का सौदा कर लै हो॥

[४१]

प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहि आऊँ ॥
जल-गन्धाक्षत पुष्प सुमोदक, दीप-धूप-फल सुन्दर ल्याऊँ।
आनन्द-जनक-कनक-भाजन धरि, अर्घ अनर्घ बजाय चढ़ाऊँ ॥
प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहिं आऊँ ॥
आगम के अभ्यास माँहि पुनि, चित एकाग्र सदैव लगाऊँ।
सन्तनिकी सङ्गति तजि कै मैं, अन्त कहूँ छिन एक न जाऊँ ॥
प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहिं आऊँ ॥
दोषवाद में मौन रहूँ फिर, पुण्य पुरुप-गुन निशिदिन गाऊँ।
मिष्ट इष्ट सबही सौं भाषौं, वीतराग निजभाव बढ़ाऊँ ॥
प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहि आऊँ ॥
बाहिज दृष्टि ऐंच कै अन्तर, परमानन्द स्वरूप लखाऊँ।
'भागचन्द्र' शिव प्राप्त न जौ लौं, तौ लौं तुम चरणाम्बुज ध्याऊँ॥
प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहिं आऊँ ॥

[४२]

जे दिन तुम विवेक बिन खोये ॥
मोह-वारुणी पी अनादि तें पर-पद में चिर सोये।
सुख-करण्ड चितपिण्ड आप-पद, गुन-अनन्त नहिं जोये ॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये ॥
होय बहिर्मुख, ठानि राग-रुख, कर्म-बीज बहु बोये।
तसु फल सुख-दुख-सामग्री लखि, चितमे हरषे रोये ॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये ॥
धवल ध्यान शुचि सलिल-पूर तैं, आस्रव-मल नहि धोये।
पर द्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये ॥

अव निजमैं निज जान नियत तहाँ, निज परिनाम समोये।
यह शिवमारग समरससागर, 'भागचन्द' हित तो ये॥
जे दिन तुम विवेक विन खोये॥

[४३]

अहो, या उपदेश मोंही, खूव चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त वढ़ावना॥
रहित दूषन विश्वभूषन, देव जिनपति ध्यावना।
गगनवत् निर्मल अचल मुनि, तिनहि शीश नवावना॥
अहो, या उपदेश माँही, खूव चित्त लगावना।
होयगा कल्याण तेरा, सुख अनन्त वढ़ावना॥
धर्म अनुकम्पा-प्रधान, न जीव कोई सतावना।
सप्त तत्त्व परीक्षना करि, हृदय श्रद्धा लावना॥
अहो, या उपदेश माँही, खूव चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त वढ़ावना॥
पुद्गलादिक तै पृथक, चैतन्य ब्रह्म लखावना।
या विधि विमल सम्यक्त्व धरि, शंकादि-पंक वहावना॥
अहो, या उपदेश माँही, खूव चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त वढ़ावना॥
रुचैं भव्यन को वचन जे, शठन को न सुहावना।
चन्द्र लखि ज्यों कुमुद विकसै, उपल नहिं विकसावना॥
अहो, या उपदेश माँही, खूव चित्त लगावना॥
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त वढ़ावना॥
'भागचन्द्र' विभाव तजि, अनुभव स्वभावित भावना।
या शरण न अन्य जगता-रन्य में कहुँ पावना॥
अहो, या उपदेश माँही, खूब चित्त लगावना॥
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त वढावना॥

[४४]

विपतिमें धर धीर, रे नर! विपतिमें धर धीर ॥
सम्पदा ज्यों आपदा रे! विनश जैहैं वीर!
विपतिमें धर धीर, रे नर! विपतिमें धर धीर ॥
धूप-छाया घटत-बढ़ ज्यों, त्यांहि सुख-दुख-पीर।
रे नर! विपतिमें धर धीर ॥
दोष 'द्यानत' देय किसको, तोरि करम-जंजीर।
रे नर! विपतिमें धर धीर, रे नर! विपतिमें धर धीर ॥

[४५]

अब हम अमर भये, न मरैंगे ॥
तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे?
अब हम अमर भये, न मरैंगे ॥
उपजै-मरै कालतैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग-दोष जग-बन्ध करत हैं, इनको नाश करैंगे ॥
अब हम अमर भये, न मरैंगे ॥
देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेद-ज्ञान पकरैंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हों निखरैंगे ॥
अब हम अमर भये, न मरैंगे ॥
मरे अनन्तवार, बिन समझैं, अब सब दुख बिसरैंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरैंगे ॥
अब हम अमर भये, न मरैंगे ॥

[४६]

कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !
काल अनन्त गयो जग भमतैं, भव भवके दुख हर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !
लाख कोटि भव-तपस्या कर तैं, जितो कर्म तेरी जर रे !
स्वास-उस्वास माँहि सो नासै, जब अनुभव चित धर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !
काहे कष्ट सहे वन माँही, राग-द्वेष परिहर रे !
काज होय समभाव बिना नहिं, भावौ पचि पचि मर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !
लाख सीखकी एक सीख यह, आतम निज, पर पर रे !
कोटि-ग्रन्थ कौ सार यही है, 'द्यानत' लख भव तर रे !
कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम-हित कर रे !

[४७]

हम लागे आतमराम सौं।
विनाशीक पुद्गलकी छाया, कौन रमै धन-मान सौं।
हम लागे आतमराम सौं॥
समता-सुख घटमें परगास्यो, कौन काज है काम सौं।
दुविधाभाव जलांजलि दीनौं, मेल भयौ निज स्वाम सौं॥
हम लागे आतमराम सौं॥
भेद-ज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौं।
उरै-परैकी बात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौं॥
हम लागे आतमराम सौं॥
विकलप भाव रंक सब भाजें, झरि चेतन अभिराम सौं।
'द्यानत' आतम अनुभव करिकै, छूटे भव-दुख धाम सौं॥
हम लागे आतमराम सौं॥

[४८]

जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?

सब जग स्वारथको चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो।

जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?

अशुचि अचेत दुष्ट तन माँही, कहा जान विरमायो।

परम अतिन्द्री निज सुख हरि कैं, विषय-रोग लपटायो॥

जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?

चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो ?

तीन लोकको राज छाँड़ि कैं, भीख माँग न लजायो॥

जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?

मूढ़पना मिथ्या जब छूटे, तब तू सन्त कहायो।

'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसो, यों सद्गुरु बतलायो॥

जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?

[४९]

काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !

पूरब करमनकी थिति बाँधी, सो तो टरत न टारी।

काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !

सब दरबनिकी तीन कालकी, विधि न्यारी की न्यारी।

केवलज्ञान विषैं प्रतिभासी, सो सो ह्वै है सारी॥

काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !

सोच किये बहु बन्ध बढ़त है, उपजत है दुख-ख्वारी।

चिंता चिता समान बखानी, बुद्धि करत है कारी॥

काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !

रोग शोक उपजत चिन्ता तैं, कहो कौन गुनवारी।

'द्यानत' अनुभव करि शिव पहुँचे, जिन चिन्ता सब जारी॥

काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !

[५०]

तू तो समझ समझ रे भाई।

निशि-दिन विषय-भोग लपटाना, धरम-वचन न सुहाई॥
तू तो समझ समझ रे भाई॥

कर मनका लै आसन मारयो, वाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक-ध्यान धरे तैं, जो मन थिर न रहाई॥
तू तो समझ समझ रे भाई॥

मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध, मान, छल, लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई?
तु तो समझ समझ रे भाई॥

मन, वच, काय जोग थिर कर कैं, त्यागो विषय कषाई।
'द्यानत' सुरग-मोख-सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई॥
तू तो समझ समझ रे भाई॥

[५१]

रे जिय! क्रोध काहे करै?

देखकै अविवेक प्रानी, क्यो विवेक न धरे?
रे जिय! क्रोध काहे करै?

जिसे जैसी उदय आवै, सो क्रिया आचरै।
सहज तू अपनौ बिगारै, जाय दुर्गति परै॥
रे जिय! क्रोध काहे करै?

होय संगति गुन सबनिकौ, सरब जग उच्चरै।
तुम भले कर भले सबको, बुरे लखि मत जरै॥
रे जिय! क्रोध काहे करै?

वैद्य पर-विष हर सकत नहि, आप भखिको मरै।
बहुकषाय निगोदवासा, छिमा 'द्यानत' तरै॥
रे जिय! क्रोध काहे करै?

[५२]

हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ।
तनसंम्बन्धी सब परवारा, सो तन हमने जाना न्यारा ॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ॥
पुण्य उदय सुखका बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा ।
पाप-पुण्य-दोऊ संसारा, मै सब देखनहारा ॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ॥
मैं तिहुँ जग तिहुँ काल अकेला, पर-संजोग भया बहुमेला !
थिति पूरी कर खिर खिर जाहीं, मेरे हर्ष-शोक कछु नाहीं ॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ॥
राग भाव तैं सज्जन मानैं, दोष भाव तैं दुर्जन जानैं ।
राग-दोष-दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मै चेतन पद माँही ॥
हम न किसीके, कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ॥

[५३]

मोहि कब ऐसा दिन आयहै ।
सकल विभाव अभाव होंहिंगे, विकलपता मिट जाय है ।
मोहि कब ऐसा दिन आयहै ॥
यह परमातम, यह मम आतम, भेद-बुद्धि न रहायहै ।
औरनि की का बात चलावै, भेद-विज्ञान पलायहै ॥
मोहि कब ऐसा दिन आयहै ॥
जानै आप आप में आपा, सो व्यवहार विलायहै ।
नय परमान निखेपन माँही, एक न औसर आयहै ।
मोहि कब ऐसा दिन आयहै ॥
दरसन ज्ञान चरनके विकलप, कहो कहाँ ठहरायहै ।
'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै, पुद्गल पुद्गल थाय है ॥
मोहि कब ऐसा दिन आयहै ॥

[५४]

मेरी वेर कहा ढील करीजी।

सूली सों सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपत हरीजी,

मेरी वेर कहा ढील करीजी ॥

सीता सती अगनिमें बैठी, पावक नीर करी सगरीजी।

वारिषेण पै खडग चलायो, फूलमाल कीनी सुथरीजी ॥

मेरी वेर कहा ढील करीजी ॥

धन्या वापी परयो निकाल्यो, ता घर रिद्ध अनेक भरीजी।

सिरीपाल सागर तैं तारयो, राजभोग कै मुकति वरीजी ॥

मेरी वेर कहा ढील करीजी ॥

साँप कियो फूलनकी माला, सोमा पर तुम दया धरीजी।

'द्यानत' मैं कछु जाँचत नाहीं, कर वैराग्य-दशा हमरीजी ॥

मेरी वेर कहा ढील करीजी ॥

[५५]

तुम प्रभु ! कहियत दीन-दयाल।

आपन जाय मुकतिमें बैठे, हम जु रुलत जग जाल ॥

तुम प्रभु कहियत दीन-दयाल ॥

तुमरो नाम जपै हम नीके, मन-वच तीनों काल।

तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल ॥

तुम प्रभु ! कहियत दीन-दयाल ॥

भले-बुरे हम भगत तिहारे, जानत हो हम-चाल।

और कछू नहिं यह चाहत हैं राग-दोष कौं टाल ॥

तुम प्रभु ! कहियत दीन-दयाल ॥

हम सौं चकपरी सो वक सो, तुम तो कृपा-विसाल ॥

'द्यानत' एक बार प्रभु, जगतैं, हमको लेहु निकाल।

तुम प्रभु ! कहियत दीन दयाल ॥

[५६]

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई। पवन थंभै मन कितहुं न जाई।
परमेसुरसौं साँच रहीजै, लोक-रंजनाको तज दीजै॥
ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहुं न जाई॥
जप अरु नेम दोउ विधि धारै, आसन प्राणायाम संभारै।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै॥
ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई। पवन थंभै मन कितहुं न जाई॥
सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहि मरना॥
ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई! पवन थंभै मन कितहुं न जाई॥
पंच परावर्तन लखि लीजै, पांचों इन्द्रीको न पतीजै।
'द्यानत' पाँचों लच्छि लहीजै, पंच-परम-गुरु शरन गहीजै॥
ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै, मन कितहुँ न जाई॥

[५७]

चेतन, तू तिहुँ काल अकेला।
नदी-नाव संजोग मिले ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला॥
चेतन, तू तिहुँ काल अकेला॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटपेखन खेला।
सुख-संपति शरीर जल-बुदबुद, विनशत नाहीं वेला॥
चेतन, तू तिहुँ काल अकेला॥
मोह-मगन आतम-गुन भूलत, परी तोहि गल-जेला।
मैं मैं करत चहूँगति डोलत, बोलत जैसे छेला॥
चेतन, तू तिहुँ काल अकेला॥
कहत 'बनारसि' मिथ्यामत तज, होय सुगुरुका चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होई सहज सुरझेला॥
चेतन, तू तिहुँ काल अकेला॥

[५८]

देखो भाई, महाविकल संसारी।
दुखित अनादि मोहके कारण, राग-द्वेष भ्रम भारी।
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

हिंसारंभ करत सुख समुझैं, मृषा बोलि चतुराई।
परधन हरत समर्थ कहावै, परिग्रह बढ़त बड़ाई॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

वचन राख काया दृढ़ राखै, मिटै न मन चपलाई।
यातैं होत औरकी औरैं, शुभ करनी दुखदाई॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

जोगासन करि कर्म निरोधै, आतमदृष्टि न जागै।
कथनी करत महन्त कहावै, ममता मूल न त्यागै॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

आगम वेद सिद्धान्त पाठ सुनि, हिये आठ मद आनै।
जाति-लाभ-कुल-बल-तप-विद्या-प्रभुता रूप बखानै॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

जड़सौं राचि परमपद साधै, आतम शक्ति न सूझै।
बिना विवेक विचार दरब के गुण-परजाय न बूझै।
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

जसवाले जस सुनि संतोषैं, तपवाले तन सोषैं।
गुनवाले परगुन को दोषैं, मतवाले मत पोषैं॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

गुरु-उपदेश सहस उदयागति, मोह विकलता छूटै।
कहत 'बनारसि' है करुनारसि, अलख अखय निधि लूटै॥
देखो भाई, महाविकल संसारी॥

[५९]

वा दिनकौ कर सोच जिय, मनमें।

बनज किया व्यापारी तूने, टांड़ा लादा भारी रे।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे॥
आखिर बाजी हारी, करले चलने की तैयारी,
इकदिन डेरा होयगा वनमें, वा दिनकौ कर सोच जिय, मनमें॥

झूठे नैना उलफत बांधी, किसका सोना, किसकी चाँदी।
इक दिन पवन चलैगी आँधी, किसकी बीबी, किसकी बाँदी॥
नाहक चित्त लगावै धनमें, वा दिनकौ कर सोच जिय, मनमें॥

मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो, पानी से पानी।
मूरख सेती मूरख मिलियो, ज्ञानी से ज्ञानी॥
यह मिट्टी है तेरे तनमें, वा दिनकौ कर सोच जिय, मनमें॥

कहत 'बनारसि' सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सो नाहीं, सिर पर कालनिशाना रे॥
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में, वा दिनकौ कर सोच जिय, मनमें॥

[६०]

चेतन, तोहि न नेक संभार।

नख सिख लों दिढबन्धन बेढे, कौन करै निरबार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥

जैसे आग पषान काठमें, लखिय न परत लगार।
मदिरापान करत मतवारो, ताहि न कछू विचार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥

ज्यों गजराज पखार आप तन, आपहि डारत छार।
आपहि उगल पाटकौ कीरा, तनहि लपेटत तार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥

सहज कबूतर लोटन को सौ, खुलै न पेच अपार।
और उपाय न बनै 'बनारसि', सुमरन भजन अधार॥
चेतन, तोहि न नेक संभार॥

[६१]

भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहब नाम संभारो ॥
सूतां सूतां रैन विहानी, अब तुम नींद निवारो।
मगलकारी अमृतवेला, थिर चित काज सुधारो ॥
भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहब नाम संभारो ॥

खिनभर जो तूँ याद करेगो, सुख निपजेगो सारो।
वेला वीत्यां है, पछतावे, क्यू कर काज सुधारो ॥
भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहब-नाम सभारो ॥

घर व्यापारे दिवस वितायो, राते नींद गमायो।
इन वेला निधिचारित आदर, 'ज्ञानानन्द' रमायो ॥
भोर भयो, उठ जागो मनुवा, साहब-नाम सभारो ॥

[६२]

अवधू, सूतां, क्या इस मठमें !
इस मठका है कवन भरोसा, पड़ जावे चटपटमें।
अवधू, सूतां, क्या इस मठमें ॥
छिनमे ताता, छिनमें शीतल, रोग-शोक बहु घटमें।
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमे ॥
पानी किनारे मठका वासा, कवन विश्वास ये तटमें।
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमे ॥
सूता सूता काल गमायो, अजहुं न जाग्यो तु घटमें।
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमें ॥
घरटी फेरी आटौ खाग्यौ, खरची न बांची वटमें ॥
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमें ॥
इतनी सुनि निधिचारित मिलकर, 'ज्ञानानन्द' आये वटमें।
अवधू ! सूतां, क्या इस मठमें ॥

[६३]

क्योंकर महल बनावै, पियारे।

पाँच भूमिका महल बनाया, चित्रित रंग रंगावे पियारे ॥
क्योंकर महल बनावे पियारे ॥

गोखें बैठो, नाटक निरखै, तरुणी-रस ललचावै।
एक दिन जंगल होगा डेरा, नहिं तुझ संग कछु जावै, पियारे ॥
क्योंकर महल बनावै, पियारे ॥

तीर्थंकर गणधर बल चक्री, जंगल वास रहावै।
तेहना पण मंदिर नहिं दीसे, थारी कवन चलावै ॥
क्योंकर महल बनावै, पियारे ॥

हरि हर नारद परमुख चल गये, तू क्यों काल बितावै।
तिनतें नवनिधि चारित आदर, 'ज्ञानानन्द' रमावै, पियारे ॥
क्योकर महल बनावै, पियारे ॥

[६४]

प्यारे, काहे कूँ ललचाय।

या दुनियाँ का देख तमासा, देखत ही सकुचाय।
प्यारे, काहे कूँ ललचाय ॥

मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय।
पलक एकमें बहुरि न देखे, जल बुंद की न्याय ॥
प्यारे, काहे कूँ ललचाय ॥

कोटि विकल्प व्याधिकी वेदन, लही शुद्ध लपटाय।
ज्ञान-कुसुमकी सेज न पाई, रहे अघाय अघाय ॥
प्यारे, काहे कूँ ललचाय ॥

किया दौर चहुँ ओर जोरसे, मृगतृष्णा चित लाय।
प्यास बुझावन बूंद न पाई, यौं ही जनम गमाय ॥
प्यारे, काहे कूं लललाय ॥

सुधा-सरोवर है या घटमे, जिसतें सब दुख जाय।
'विनय' कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय ॥
प्यारे, काहे कूँ ललचाय ॥

[६५]

चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे।
तुम दर्शन शिव-सुख पामीजे, तुम दर्शन भव दीजे ॥
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ॥

तुम कारन संयम तप किरिया, कहो, कहाँ लौ कीजे।
तुम दर्शन बिनु सब या झूठी, अन्तरचित्त न भीजे ॥
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ॥

क्रिया मूढमति कहे जन कोई, ज्ञान और को प्यारो।
मिलत भावरस दोउ न भाखे, तू दोनों तें न्यारो ॥
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ॥

सब में है और सब मे नाहीं, पूरनरूप अकेलो।
आप स्वभावे वे किम रमतो, तूँ गुरु अरु तूँ चेलो ॥
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ॥

अकल अलख तू प्रभु सबरूपी, तू अपनी गति जाने।
अगमरूप आगम अनुसारें, सेवक सुजस बखाने ॥
चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ॥

[६६]

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री ॥
राम कहो, रहमान कहो कोऊ ·· ॥

निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री ।
करषे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ॥
राम कहो, रहिमान कहो कोऊ··· ॥

परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्ने सो ब्रह्म री ।
इहविधि साधो आप 'आनन्दघन', चेतनमय निष्कर्म री ॥
राम कहो, रहिमान कहो कोऊ··· ॥

[६७]

विरथा जनम गमायो, मूरख !

रंचक सुखरस वश होय चेतन, अपनो मूल नसायो ।
पाँच मिथ्यात धार तू अजहूँ, साँच भेद नहिं पायो ॥
विरथा जनम गमायो, मूरख ॥

कनक-कामिनी अरु एहथी, नेह निरन्तर लायो ।
ताहू थी तूं फिरत सुरानो, कनक बीज मनु खायो ॥
विरथा जनम गमायो, मूरख ॥

जनम जरा मरणादिक दुख में, काल अनन्त गमायो ।
अरहट घटिका जिम, कहो याको, अन्त अजहुँ नवि आयो ॥
विरथा जनम गमायो, मूरख ॥

लख चौरासी पहेर्या चोलना, नव नव रूप बनायो ।
बिन समकित सुधारस चाख्या, गिणती कोउ न गिणायो ॥
विरथा जनम गमायो, मूरख ॥

एते पर नवि मानत मूरख, ए अचरजि चित आयो ।
'चिदानन्द' ते धन्य जगत्में, जिण प्रभु सूँ मन लायो ॥
विरथा जनम गमायो मूरख ॥